

काव्यदोषों का उद्भव तथा विकास

डॉ० बमशम्भुदत्त झा

हिन्दी-विभाग

ललितनारायण मिथिला-विश्वविद्यालय

दरभंगा



बिहार-साहित्य-अकादमी
पटना-४

2.4.

CHAKHAMBHA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U.A., Bungalow Road, Opp. Hansraj
College Back Gate, Delhi-110007
Ph:- 23856391, 41530302

काव्यदोषों का उद्भव तथा विकास

०

डॉ० बम्शम्भुदत्त झा
हिन्दी-विभाग
ललितनारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा

०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना

रा.शे. ग्रं. मूल्य
Rs 24 P 00

प्रकाशक :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-८००००४

© बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

प्रथम संस्करण : विक्रमाब्द २०३३, शकाब्द १८९८; ख्रीष्टाब्द १९७६

मूल्य : ~~१९००~~ रुपये मात्र 25/—

मुद्रक ।

सम्मेलन मुद्रणालय

प्रयाग

पूज्य पिता
साहित्यपुराणधर्मशास्त्राचार्य
पण्डित श्रीरामशरण झा जी
को

जिनके विद्या-ऋण का व्याज चुकाने का यह प्रयास भी
उन्हीं की कृपा से सम्भव हो सका।

—शम्भु

ਪ੍ਰਿਥੀ ਹਰਦੁਰ

ਸ਼੍ਰੀ ਗੁਰਮਤਿ ਨਾਮੁ ਸਤਿਗੁਰੁ

ਗੁਰਮਤਿ ਨਾਮੁ ਸਤਿਗੁਰੁ

ਨਿ

ਨਿ ਸਤਿਗੁਰੁ ਤੇ ਜਿ ਸਤਿਗੁਰੁ ਸਾਨੁ ਤੇ ਸਤਿਗੁਰੁ ਸੇਵੀ

ਸਤਿਗੁਰੁ ਤੇ ਸਤਿਗੁਰੁ ਤੇ ਸਤਿਗੁਰੁ ਤੇ ਸਤਿਗੁਰੁ

ਸਤਿਗੁਰੁ

वक्तव्य

‘काव्य-दोषों का उद्भव तथा विकास’ डॉ० वमशम्भुदत्त झा की अध्ययनपूर्ण एवं विवेचना-समृद्ध कृति है। डॉ० झा संस्कृत-हिन्दी के अधीनी मनीषी और विश्वविद्यालय के प्रौढ़ प्राध्यापक हैं और वर्षों से विश्वविद्यालय में काव्यशास्त्र पढ़ाते आ रहे हैं। अतः ये इस विषय के अनुभवी और आधिकारिक विद्वान् हैं। डॉ० झा ने वर्षों अध्ययन, मनन और शिक्षण करने के पश्चात् साहित्यशास्त्र में सुनियोजित शैली से प्रतिपादित और विश्लेषित काव्यगत दोषों के उद्भव और विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर पूर्वाचार्यों के दोष-विषयक समस्त मन्तव्यों और सिद्धान्तों का सूक्ष्म विवेचन किया है तथा विश्लेषण-प्रसूत उपलब्ध निष्कर्ष को पाठकों के समक्ष रखा है। प्रस्तुत ग्रन्थ इदं-विषयक शोध-दिशा में एक मानशिला स्थापित करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

लेखक ने वैदिक वाङ्मय में दोषों की छायात्मक उपलब्धि को उद्भव का आदिश्रोत माना है और आचार्य भरत से आजतक के सिद्धान्त-प्रवर्तक आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-दोषों के विकास-क्रम के अध्ययन से प्राप्त दोषों के स्वरूप, लक्षण, वर्गीकरण, संख्यात्मक तथ्य आदि का ऊहापोह करके विषयों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है एवं वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन कराया है। यह कार्य जितना श्रमसाध्य है उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है। शोध-प्रवण लेखक ने वैचारिक ऊहापोह और बौद्धिक क्रियात्मक विश्लेषण करके जो उपलब्ध तथ्य प्रस्तुत किये हैं, उनसे यह सम्भावना दृढ़ होती है कि दोष-विवेचन के सन्दर्भ में वास्तविक दोषों के परिहार और गुणों के संकलन में कोई अस्तव्यस्तता नहीं हुई है। इस विषय में लेखक की आयासपूर्ण जागरूकता सफल सिद्ध हुई है।

प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य के स्वरूप-विवेचन में ‘गुणवत्ता’ के साथ ‘अदोषता’ को अनिवार्य अंग माना है। यदि काव्य निर्दोष न हो, तो वह ‘कीटविद्ध मणि’ के समान अग्राह्य माना गया है। अतएव आचार्यों ने दोषों की सत्ता भावात्मक मानी है न कि गुणाभाव के रूप में अभावात्मक। और, जो भावात्मक सत्तावान् पदार्थ होते हैं, उनके विशेष लक्षण, वर्गीकृत स्वरूप और संख्यात्मक तथ्य आदि भी होते हैं। इसी मान्यता के अनुसार लेखक ने भावात्मक दोषों को विश्लेषण के निकष पर कसकर उनका सुसंगत औचित्य सिद्ध किया है। साहित्य-शास्त्र काव्य का सिद्धान्त-प्रतिपादक होता है। वह काव्य के सभी अंगों और उपांगों का सूक्ष्मेक्षिकया विश्लेषण-विवेचन कर एक संरचनात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। वे ही लक्ष्यानुसारी उपलब्ध सिद्धान्त जब वादों-प्रतिवादों के माध्यम से सर्वसम्मत अथवा बहुल-सम्मत होते हैं, तब लक्षण बन जाते हैं और वे सिद्धान्त-प्रधान लक्षण काव्य-मार्ग के आलोक-स्तम्भ

होते हैं। उनके प्रकाश-पुञ्ज में आलोकित काव्य के सभी अंगों को कसौटी पर कसकर परवर्त्ती आलोचक कवि की चमत्कारक प्रतिभा को प्रकट करते हैं और उनका मूल्यांकन करते हैं। इस पूरी उपलब्धि के अनन्तर काव्यशास्त्र का सैद्धान्तिक आलोचना-पथ आगे बढ़ता है। आलोचना की इस सैद्धान्तिक प्रक्रिया में भी अनेक आलोच्य बिन्दु समय के अन्तराल में उभरते हैं और उन बिन्दुओं की पुनरालोचना का एक क्रमिक विकास चलता जाता है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में समस्त विश्व, संचार और परिवहन-साधनों की सुलभता के कारण, परस्परापेक्ष एवं समन्वित इकाई के रूप में परिणत हो रहा है। सभी दिशाओं में समन्विति और एकीभाव के साथ ही साहित्यशास्त्र में भी प्रभावक एकात्मता आ रही है। अतएव भारतीय साहित्य शास्त्र के पुनरालोचन में विश्व-साहित्यशास्त्र का प्रतिबिम्ब भी आ रहा है। इसी परिप्रेक्ष्य में आज के साहित्यशास्त्र के सभी अंगों की पुनरालोचना कर उनके सिद्धान्त स्थिर किये जा रहे हैं। इस प्रसंग में काव्य के स्वरूप, लक्षण, वर्गीकृत विधाओं, गुण, अलंकार आदि सभी अंगों का पुनरीक्षण-परीक्षण चल रहा है। दोषों के विवेचन में यह प्रयास भी उसी विचार-बिन्दु की एक कड़ी है, जिसे आज हम सुधी पाठकों के सामने उपस्थित कर रहे हैं।

काव्यशास्त्र के निष्णात एवं सदसद्विवेकी विद्वान् इस उपलब्धि को कसौटी पर कसकर इसकी विशुद्धि को प्रमाणित करेंगे और अनुसन्धित्सु सुधीजन इसकी सहायता से एतद्विषयक अपने शोध-बिन्दु को आगे बढ़ा सकेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। कालिदास के शब्दों में हमारा इतना ही कहना है—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्ति हेतवः।

हेमन्तः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।

श्रावण-शुक्ल सप्तमी, २०३३ वि०

२ अगस्त, १९७६ ई०

हंसकुमार तिवारी

निदेशक

प्राङ्निवेदन

‘काव्य-दोषों का उद्भव तथा विकास’ नामक प्रस्तुत पुस्तक में संस्कृत-हिन्दी-काव्य-शास्त्र में प्रतिपादित दोष-विचार का ऐतिहासिक-विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अतिशय विपुल, बहुविध एवं मत-वैभिन्य-युक्त इस दोष-विचार के वैज्ञानिक अध्ययन की अपेक्षा स्पष्ट है। गुणदोष-निरूपणात्मक शास्त्रीय समीक्षा के लिए ऐसे अध्ययन की उपयोगिता भी असन्दिग्ध है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में भारतीय काव्यशास्त्र के आरम्भ का स्वरूप-स्पष्टीकरण एवं काल-निर्णय काव्य-दोषों के उद्भव के अध्ययन में सहायक समझा जाकर प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में प्राचीन आर्य-वाङ्मय की दोष-धारणा के विविध पक्षों को स्पष्ट करनेवाले दोषोल्लेख अनुसंहित हैं। वाग्दोष के विविध शास्त्रीय रूपों का विकास-क्रम प्रस्तुत करते हुए काव्य-दोषों की व्युत्पादन-प्रक्रिया का स्वरूप-स्पष्टीकरण तृतीय अध्याय का प्रतिपाद्य है। चतुर्थ अध्याय में राजशेखर के ‘दोषाधिकरणं घिषणः’ उल्लेख की परीक्षा है। पंचम अध्याय में संस्कृत-हिन्दी-काव्यशास्त्र में दोष-सामान्य की धारणा का विकास-क्रम प्रदर्शित करते हुए सर्वाधिक संगत दोष-लक्षण की स्थापना है। षष्ठ अध्याय में विशिष्ट दोषों के विकास का अध्ययन है। सप्तम अध्याय में संस्कृत-हिन्दी-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित समग्र दोषों का संख्या-निर्धारण हुआ है तथा दोषों की संख्या, नामकरण, लक्षण एवं उदाहरण से सम्बद्ध विचार प्रस्तुत किये गये हैं। दोषों की नित्यता-अनित्यता-सम्बन्धी विचारधारा का विकास-क्रम अष्टम अध्याय में निरूपित है। नवम अध्याय में दोष-वर्गीकरण के विविध रूपों का समीक्षात्मक परिचय देते हुए सर्वाधिक उपयुक्त आधार पर दोष-वर्गीकरण का प्रयत्न है। दशम अध्याय में काव्यत्व और दोष से सम्बद्ध प्रश्नों के विषय में संस्कृत-हिन्दी के आचार्यों के मन्तव्यों का विश्लेषण करते हुए सर्वाधिक समीचीन मत की स्थापना है।

संस्कृत-हिन्दी-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित समग्र दोष-विचारों का यह प्रथम ऐतिहासिक एवं समीक्षात्मक अध्ययन है। ‘नाट्यशास्त्र’ से पूर्व काव्यशास्त्रेतर ग्रन्थों में प्राप्य काव्य-दोष-सम्बन्धी विचारों का अनुसन्धान बहुलांशतः नवीन है। दोषाधिकारी घिषण के सम्बन्ध में अबतक कोई जिज्ञासा ही नहीं हुई थी। वैदिक वाङ्मय में ‘घिषण’ के उल्लेख एवं अर्थ के अनुसन्धान के आधार पर ‘दोषाधिकरणं घिषणः’ के सम्बन्ध में दिया गया निष्कर्ष सर्वथा मौलिक है।

गुण-दोष के विपर्ययात्मक सम्बन्ध का जो विचार संस्कृत-काव्यशास्त्र की आरम्भिक पुस्तकों में उपलब्ध है, उसके बीज कौटिलीय ‘अर्थशास्त्र’ के लेख-दोषों में प्रदर्शित करना

और 'अग्निपुराण' के 'उद्वेगजनको दोषः सम्भ्यानाम्' की विचारणा को 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' एवं 'काव्यादश' से विकसित बताना पुस्तक की विशेषता है। वामन के 'सूक्ष्म दोषों' को गुणाभावस्वरूप एवं अन्य दोषों को गुणवैपरीत्य-सूचक मानना भी पुस्तक के मौलिक विचारों में एक है। गोविन्द ठक्कुर के दोष-लक्षण की व्याख्या में दोष के प्रति नवीन दृष्टिकोण की स्थापना है। विभिन्न आचार्यों द्वारा मान्य दोषों की पूर्ववर्ती दोषों से तुलना करके उनके नवीन दोषों का निर्धारण पुस्तक की उल्लेखनीय विशेषता है। संस्कृत-हिन्दी-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित समग्र दोषों की सूची सर्वप्रथम इसी पुस्तक में निर्धारित की गई है। दोषों के उदाहरण, संख्या एवं अनित्यता के सम्बन्ध में भी नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है। काव्यास्वाद की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए गोविन्द ठक्कुर द्वारा प्रस्तुत आधारों पर मम्मट-मान्य सभी दोषों का वर्गीकरण सर्वप्रथम इसी पुस्तक में प्रस्तुत है। निर्दोषता और काव्यत्व, अदोषता के भावात्मक-अभावात्मक मूल्य तथा निर्दोषता एवं गुणवत्ता के आपेक्षिक महत्त्व के सम्बन्ध में नवीन विचार उपस्थित किये गये हैं। दोष को 'शक्ति' के बदले 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' से, एवं निबद्ध अनुभूति की अपेक्षा उसके संप्रेषण से सम्बद्ध करने का प्रस्ताव दोषालोचन के प्रति नवीन दृष्टिकोण की स्थापना है।

प्रस्तुत पुस्तक के निर्माण में जिन पुस्तकों से सहायता मिली है, उनके लेखकों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। हिन्दू-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के प्राध्यापक पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ग्वालकृत 'दूषण-दर्पण' की हस्तलिखित प्रति के अवलोकन की सुविधा देने की जो कृपा की, उसके लिए लेखक उनके प्रति कृतज्ञ है। नागरी-प्रचारिणी सभा के अधिकारियों के प्रति भी लेखक आभार प्रकट करता है, जिन्होंने रीतिकालीन अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों के अवलोकन की सुविधा प्रदान की।

इस ग्रन्थ के निर्माण का सर्वाधिक श्रेय गुरुवर देवेन्द्रनाथ शर्मा जी, पूर्ववर्ती आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पटना-विश्वविद्यालय, को है, जिनकी प्रेरणा एवं परामर्श के बल पर ही मुझ-जैसा सुखजीवी शोध-जैसे श्रमसाध्य कार्य में प्रवृत्त होने का साहस कर सका। वस्तुतः, काव्यशास्त्र के प्रति मुझमें अभिरुचि एवं अनुराग उत्पन्न करने का श्रेय गुरुवर शर्माजी के उन विद्वत्तापूर्ण रोचक व्याख्यानों को है, जो मुझे पटना-कॉलेज में एम्. ए. कक्षा में पढ़ते समय उनसे सुनने को मिले थे। यह उन्हीं की कृपा का फल था कि मेरे ग्रन्थ-लेखन के मार्ग की सारी बाधाएँ दूर होती चली गईं। आचार्यप्रवर के प्रति किन शब्दों में कृतज्ञता व्यक्त करूँ, समझ नहीं पाता ! मुझ अकिञ्चन से प्रणति के अतिरिक्त उन्हें मिल ही क्या सकता है ?

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के सदस्यों और पदाधिकारियों ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की जो उदारता दिखाई, तदर्थ उन्हें मेरा हार्दिक धन्यवाद !

—बम्शम्भुदत्त झा

विषय-सूची

(क) उद्भव

प्रथम अध्याय : भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ ... १-१२

काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के विषय में काव्यशास्त्रीय उल्लेख, उनकी प्रामाणिकता, ऋग्वेद के काव्यशास्त्रीय संकेत, वैदिक काल के अन्य ग्रन्थों एवं वेदांगों में काव्यशास्त्रीय प्रतिपादन, वाल्मीकीय रामायण के समीक्षात्मक उल्लेख, काव्यशास्त्र का आरम्भिक युग-ईसा-पूर्व चौथी-शती, ईसा-पूर्व चार शताब्दियों में काव्यशास्त्रीय प्रयत्न, 'नाट्यशास्त्र' से पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख, 'नाट्यशास्त्र' भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ, न कि आदिम ग्रन्थ।

द्वितीय अध्याय : आर्य-वाङ्मय में दोष-धारणा के प्राक्तन प्रमेय ... १३-२३

प्रस्तावना, ऋग्वैदिक दोष-धारणा के विविध पक्ष, ऋग्वेद के दोषोल्लेख, ऋग्वेद के वाग्दोष-सम्बन्धी उल्लेख, ऋग्वेद में दोष-पर्याय, तैत्तिरीय संहिता के दोष-प्रमेय, अथर्ववेद के दोषोल्लेख, संज्ञापद 'दूषण' के प्रयोग, अर्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थों की नैतिक वाग्दोष-चेतना, उपनिषदों में दोष का दार्शनिक स्वरूप, विविध वेदांगों की दोष-धारणा, आयुर्वेद में प्रतिपादित दोष-धारणा एवं तर्क-दोष, भारतीय दर्शनों एवं 'महाभारत' में दोष का स्वरूप, निष्कर्ष।

तृतीय अध्याय : काव्यदोषों की व्युत्पादन-प्रक्रिया ... २४-३६

प्रस्तावना, वैदिक मन्त्रों की तद्रूपता की रक्षा, प्रातिशाख्यों की दोष-धारणा, शिक्षा-ग्रन्थों के पाठदोष एवं हस्तदोष, व्याकरण की दोष-धारणा, छन्द में दोष का स्वरूप, धर्मसूत्रों की दोष-धारणा, न्याय के वाक्यार्थ-दोष, 'चरकसंहिता' के तर्क-दोष, 'न्यायसूत्र' के दोषों की काव्यदोष के रूप में मान्यता, महाभारत के अट्ठारह वाणी-दोष, कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के लेख-दोष, निष्कर्ष।

चतुर्थ अध्याय : दोषाधिकारी-निर्णय ... ३७—३८

राजशेखर का 'दोषाधिकरण' विषयः-उल्लेख, 'अमरकोश' में 'घिषण' का अर्थ, ऋग्वेद में 'घिषण' का उल्लेख एवं अर्थ, अथर्ववेद में 'घिषण' का उल्लेख एवं अर्थ, निष्कर्ष ।

(ख) विकास

पंचम अध्याय : काव्यदोष की स्वरूप-धारणा का विकास ... ३९—६२

नाट्यशास्त्र, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भामह, दण्डी, वामन के 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' का बीज कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में, वामन के गुणविपर्यय का अर्थ, रुद्रट की दोष-धारणा, आनन्द-वर्धन की दोषमान्यता, कुन्तक का दोष-दृष्टिकोण, अभिनव-गुप्त, महिममट्ट, भोजराज, मम्मट का दोष-लक्षण, 'अग्नि-पुराण' का लक्षण, हेमचन्द्र, जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, गोविन्द ठक्कुर द्वारा मम्मट के दोष-लक्षण की व्याख्या, केशवमिश्र का लक्षण, चिन्तामणि, कुलपति, कुमारमणि, श्रीपति, सोमनाथ, दास, जनराज, जगत्सिंह, प्रतापसाहि, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, हिन्दी-दोष-लक्षण की समीक्षा, समग्र दोष-लक्षणों का समाहार, दोष-लक्षणों का विश्लेषण, समीक्षा एवं गोविन्द ठक्कुर के दोष-लक्षण का समर्थन, उक्त लक्षण के औचित्य की परीक्षा, सीमा-निर्देश एवं संशोधन ।

षष्ठ अध्याय : विशिष्ट दोषों का विकास ... ६३—१६२

(क) संस्कृत-काव्यशास्त्र में दोष-विवेचन :

'नाट्यशास्त्र' के दस दोष, 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित काव्य के घातस्थान, मेघावी के उपमादोष, विष्णुधर्मोत्तरपुराण के दस दोष, काव्या-लंकार के तीन दोष-निरूपक स्थल, प्रथम स्थल के छह दोष, श्रुतिदुष्टादि चार दोष, द्वितीय परिच्छेद के उपमा-दोष एवं चतुर्थ परिच्छेद के दस दोष, प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तहीन दोष, भामह के नये दोष, भामह के अन्य अप्रत्यक्ष दोष-संकेत, दण्डी के दस दोष,

नवीनताएँ, दण्डी के गुणविपर्ययात्मक दोष, दण्डी के उपमा-दोष, वामन के पद-पदार्थ-वाक्य-वाक्यार्थ-दोष, वामन के गुण-विपर्ययात्मक दोष, वामन के उपमा-दोष, निष्कर्ष, रुद्रट के दोष, रुद्रट के अप्रत्यक्ष दोष-संकेत, रुद्रट के उपमा-दोष, रुद्रट के अन्य दोष, निष्कर्ष, आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट रस-विरोध, आनन्दवर्धन द्वारा उल्लिखित अलंकारानौचित्य, आनन्दवर्धन का रसानुकूल प्रतिकूल-वर्णयोजना-सम्बन्धी विचार, हरण-दोष, निष्कर्ष, राजशेखर के हरण-दोष, कुन्तक के दोष-सम्बन्धी विचार, अभिनवगुप्त की दोष-व्याख्या, धनंजय के दोष-संकेत, महिषभट्ट के शब्दानौचित्य, रुद्रभट्ट के रस-दोष, भोज-वर्णित दोष, क्षेमेन्द्र के तीन दोष, मम्मट के पद-दोष, मम्मट के पदगत दोषों का पदांशगत एवं वाक्यगत होना, मम्मट के वाक्य-दोष, मम्मट के अर्थ-दोष, मम्मट के रस-दोष, मम्मट द्वारा अलंकार-दोषों के पार्थक्य का खण्डन, अग्निपुराण के दोष, हेमचन्द्र के दोष, प्रथम वाग्भट के दोष, जयदेव-निरूपित दोष, द्वितीय वाग्भट के दोष, विद्यानाथ के दोष, विश्वनाथ-मान्य दोष, गोविन्द ठक्कुर के दूषकतावीज, केशवमिश्र-निरूपित दोष, अमृतानन्दयोगी के दोष, पण्डितराज जगन्नाथ के दोष।

(ख) प्राकृत-अपभ्रंश में दोष-विवेचन :

अनुयोग द्वारभुक्त में वर्णित दोष, उक्त दोषों में काव्यशास्त्रीय दोष।

(ग) हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में दोष-निरूपण :

केशव-निरूपित दोष, तोष के रस-दोष, चिन्तामणि-मान्य दोष, कुलपति के दोष, पदुमनदास-निरूपित दोष, देवमान्य रस-दोष, सूरतिमिश्र के दोष, कुमारमणि-निरूपित दोष, श्रीपति-प्रतिपादित दोष, सोमनाथ के दोष, दास-प्रतिपादित दोष, मंछाराम-निरूपित दोष, जनराज-वर्णित दोष, जगत्सिंह-वर्णित दोष, प्रतापसाहि के दोष, ग्वालकृत 'दूषण-दर्पण' में निरूपित दोष, सीताराम शास्त्री का दोष-वर्णन, कन्हैयालाल पोद्दार के द्वारा मान्य दोष, बिहारीलाल भट्ट का दोष-प्रतिपादन, रामदहिन मिश्र-निरूपित दोष।

सप्तम अध्याय : दोषों का सख्या-निर्धारण, नामकरण, लक्षण एवं उदाहरण ... १६३—१७५

प्रस्तावना, मम्मट की सूची में अप्राप्य नाट्यशास्त्र के दोष, विष्णुधर्मोत्तर के दोष, भामह के दोष, दण्डी के दोष, वामन के दोष, रुद्रट के दोष, महिममट्ट का ऐसा कोई दोष नहीं, रुद्रमट्ट के दोष, राजशेखर के दोष, भोज के दोष, मम्मट में अप्राप्य पिछले आचार्यों के समग्र दोषों की सूची, मम्मट में अप्राप्य परवर्ती आचार्यों के दोष, हिन्दी के आचार्यों द्वारा नवीन दोषों के संकेत का अभाव, मम्मट में अप्राप्य पूर्ववर्ती आचार्यों के दोषों के पृथक् अस्तित्व की मान्यता की परीक्षा, मम्मट में अन्तर्भुक्त नहीं होनेवाले दोष, मम्मट की दोष-सूची के विस्तार की अपेक्षा, हिन्दी की दृष्टि से स्वीकार्य दोष, दोषों के दो स्वरूप, दोष-नामकरण और लक्षण, दोष-उदाहरणों की परिवर्तनशीलता, दोष-उदाहरण की दृष्टि से हिन्दी-संस्कृत-काव्यशास्त्र में अन्तर।

अष्टम अध्याय : दोषों की नित्यता-अनित्यता ... १७६—१९८

प्रस्तावना, अर्थशास्त्र में अनित्यता-सम्बन्धी संकेत, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण में ऐसे उल्लेख, भामह के एतद्विषयक विचार, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, भोज, भोज के वैशेषिक गुण, मम्मट की अनित्यता-सम्बन्धी मान्यताएँ, अग्निपुराण, हेमचन्द्र, जयदेव, विश्वनाथ, गोविन्द ठक्कुर, केशवमिश्र, पण्डितराज जगन्नाथ, चिन्तामणि का दोष-परिहार, कुलपति का दोष-मार्जन, सूरतिमिश्र का 'दोषांकुश', कुमारमणि, जनराज, जगत्सिंह, प्रतापसाहि, 'दूषण-दर्पण', कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, निष्कर्ष।

नवम अध्याय : दोष-वर्गीकरण ... १९९—२०८

प्रस्तावना, वामन का वर्गीकरण, रुद्रट, आनन्दवर्धन, महिममट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, अग्निपुराण, हेमचन्द्र, गोविन्द ठक्कुर के वर्गीकरण के आधार, पण्डितराज, हिन्दी का दोष-वर्गीकरण, निष्कर्ष, मम्मट के वर्गीकरण का स्पष्टीकरण, दोषों की नित्यता-अनित्यता के वर्गों की परीक्षा, गोविन्द ठक्कुर द्वारा प्रस्तुत आधारों पर मम्मट के दोषों का वर्गीकरण।

दशम अध्याय : काव्यत्व और दोष २०९—२१९

प्रस्तावना, काव्यत्व और दोष से सम्बद्ध प्रश्न, अदोषता को काव्यत्व के लिए अनिवार्य माननेवाले आचार्यों के मत, इसके प्रतिकूल मत रखनेवाले आचार्यों के विचार, हिन्दी के आचार्यों का उक्त विषय पर मत, समीचीन मत की स्थापना, काव्य में अदोषता की सम्भाव्यता पर विचार, निर्दोषता का भावात्मक-अभावात्मक मूल्य, गुणवत्ता और अदोषता का सापेक्ष महत्त्व।

उपसंहार २२०—२२७

प्रमुख सहायक ग्रन्थ-सूची २२८—२३३

अनुक्रमणिका २३४

मुग्धः किं किमसम्य एष भजते मात्सर्यमौनं नु किं
 पृष्टो न प्रतिवक्ति यः किल जनस्तत्रेति सम्भावयेत् ।
 छात्राभ्यर्थनया ततोऽद्य सहसैवोत्सृज्य मार्गं सतां
 पौरोभाग्यमभाग्यभाजनजनासेव्यं मयाङ्गीकृतम् ॥

—महिमभट्टः : व्यक्तविवेक

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः ।
 किमन्वस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥

—दण्डी : काव्यादर्श

जड़-चेतन गुण-दोषमय विस्व कीन्ह करतार ।
 संत-हंस गुण गहर्हि पय, परिहरि बारि-बिकार ॥

—गोस्वामी तुलसीदास : रामचरितमानस, बालकाण्ड

तेहि तें कछु गुन दोष बखाने ।
 संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने ॥

—वही, पृ० ३८

“The theory of badness in poetry has never
 received the study which it deserves partly on
 account of its difficulty.”

—I. A. Richards : ‘Principles of Literary Criticism’, P. 199

काव्य-दोषों का उद्भव तथा विकास

प्रथम अध्याय

भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भ

भारतीय काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में काव्यशास्त्र के दो ग्रन्थों में उल्लेख मिलते हैं। प्रथम है भरत के नाम से सम्बद्ध 'नाट्यशास्त्र' और द्वितीय राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा'। प्रथम ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र को ब्रह्मनिर्मित माना गया है।^१ उसे वहाँ वेद-सम्मित तथा 'नाट्यवेद' नामक पंचम वेद भी कहा गया है।^२ 'काव्यमीमांसा' में कहा गया है कि काव्यविद्या का सर्वप्रथम उपदेश भगवान् श्रीकण्ठ ने परमेष्ठी, वैकुण्ठ आदि चौसठ शिष्यों को दिया। उनमें से प्रथम शिष्य ब्रह्मा ने अपनी इच्छा से उत्पन्न शिष्यों को पुनः इसका उपदेश दिया। इन शिष्यों में एक सरस्वती का पुत्र काव्यपुरुष भी था, जिसे ब्रह्मा ने तीनों लोकों में काव्यविद्या के प्रचार की आज्ञा दी। उसने सहस्राक्ष आदि अठ्ठारह दिव्य स्नातकों को अठ्ठारह अधिकरणों में विभक्त काव्यविद्या का उपदेश दिया।^३ इन स्नातकों में सहस्राक्ष ने 'कविरहस्य', उक्तिगर्भ ने 'औक्तिक', सुवर्णनाभ ने 'रीतिनिर्णय', प्रचेता ने 'आनुप्रासिक', यम ने 'यमक', चित्रांगद ने 'चित्र', शेष ने 'शब्दश्लेष', पुलस्त्य ने 'वास्तव', औपकायन ने 'औपम्य', पाराशर ने 'अतिशय', उत्तथ्य ने 'अर्थश्लेष', कुबेर ने

१. (क) श्रूयतां नाट्यवेदस्य संक्षेपो ब्रह्मनिर्मितः।

—नाट्यशास्त्र, काव्यमाला-संस्करण, १।१, पृ० १।

(ख) नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्।

—वही, १।७, पृ० १।

२. (क) 'योऽयं भगवता सम्यक्कथितो वेदसम्मितः।

—वही, १।४, पृ० १।

(ख) 'प्रत्युवाच ततो वाक्यं नाट्यवेदकथां प्रति।'

—वही, १।६, पृ० १।

(ग) 'नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।'

—वही, १।१५, पृ० २।

३. "अथातः काव्यं मीमांसिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकण्ठः परमेष्ठिवैकुण्ठादिभ्यश्चतुःषष्टये शिष्येभ्यः। सोऽपि भगवान् स्वयम्भूरिच्छाजन्मभ्यः स्वात्तेवासिभ्यः। तेषु सारस्वतेयो वृन्दीयसामपि वन्द्यः काव्यपुरुष आसीत्। तं च सर्वसमयविदं दिव्येन चक्षुषा भविष्यदर्थदर्शिना भूर्भुवस्वस्त्रितयवर्त्तिनीषु प्रजासु हितकाम्यया प्रजापतिः काव्य-विद्याप्रवर्त्तनायै प्रायुङ्क्त। सोऽष्टादशाधिकरणीं दिव्येभ्यः काव्यविद्यास्नातकेभ्यः सप्रपञ्चं प्रोवाच।"

—राजशेखर : काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय, पृ० ३

‘उभयालंकारिक’, कामदेव ने ‘वैनोदिक’, भरत ने ‘रूपकनिरूपण’, नन्दिकेश्वर ने ‘रसाधिकारिक’, धिषण ने ‘दोषाधिकरण’, उपमन्यु ने ‘गुणोपादानिक’ तथा कुचुमार ने ‘औपनिषदिक’ नामक पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे।^१

उपर्युक्त सूचनाओं में काव्यशास्त्र की दैवी उत्पत्ति स्वीकृत हुई है। आस्तिकता-प्रधान प्राचीन भारतीय विचार-परम्परा के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वह ज्ञान की किसी शाखा के मूल में दैवी प्रेरणा स्वीकार करे। ऊपर से देखने से ही स्पष्ट है कि ‘नाट्य-शास्त्र’ एवं ‘काव्यमीमांसा’ में वर्णित काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के आख्यान पौराणिक-काव्यात्मक कल्पनाओं की सृष्टि हैं। किन्तु हम इस बात से परिचित हैं कि हमारे यहाँ का आरम्भिक इतिहास बहुत-कुछ पौराणिक गाथाओं में कवि-कल्पना से आच्छन्न पड़ा है। राज-शेखर के द्वारा दी गई अट्ठारह शिष्यों की सूची में भी कुछ ऐतिहासिक व्यक्तित्व समा-विष्ट हैं। उदाहरणार्थ, भरत, नन्दिकेश्वर, सुवर्णनाभ तथा कुचुमार के नाम लिये जा सकते हैं।^२ किन्तु शेष नामों की ऐतिहासिकता का कोई आधार प्राप्त नहीं। उनमें से कुछ नाम तो यमकानुप्रास अलंकारों की सृष्टि के लिए रचे गये हो सकते हैं; जैसे, ‘औपकायन—औपम्य’, ‘यम—यमक’, ‘चित्रांगद—चित्र’, ‘उक्तिगर्भ—उक्ति’। सम्भव है, राजशेखर की सूची में कुछ प्राचीन अनुश्रुतियों का संकलन हो। किन्तु उसमें कितना तथ्य है और कितनी कल्पना, इसका निर्णय उपलब्ध सामग्री के आधार पर कर सकना कठिन है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य

१. “तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षं समाम्नासीत् औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, अनुप्रासिकं प्रचेताः यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुत्थयः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणोपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचुमारः इति। ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयाञ्चक्रुः।” —वही, पृ० ३।४

२. (क) भरत-नाट्यशास्त्र के प्रणेता के रूप में विख्यात।

(ख) नन्दिकेश्वर-नाट्यशास्त्र के काव्यमाला-संस्करण के अन्त में ‘नन्दिभरत-सङ्गीतपुस्तकम्’ का उल्लेख है। ‘अभिनवभारती’ के २९वें अध्याय से अभिनवगुप्त की यह टिप्पणी ‘यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमत्रागमित्वेन दर्शितं...।’ सम्पादकों द्वारा भूमिका के दसवें पृष्ठ पर उद्धृत है। शारदा-तनयकृत ‘भाव-प्रकाश’ के तृतीय अध्याय में भी नन्दिकेश्वर का उल्लेख है।

(ग) सुवर्णनाभ का नाम ‘साम्प्रयोगिक’ के रचयिता के रूप में ‘कामसूत्र’ १।१।१३ में है।

(घ) कुचुमार औपनिषदिक के रचयिता के रूप में ‘कामसूत्र’ १।५।२३ में उल्लिखित हैं।

वात है कि किसी भी शास्त्र का आरम्भ इस प्रकार वर्गीकृत होकर नहीं होता, जैसा राज-शेखर ने बताया है। स्वयं राजशेखर ने अन्यत्र अपनी इस मान्यता का खण्डन किया है कि किसी शास्त्र का आरम्भ विपुल रूप में या वर्गीकृत रूप में होता है।^१ इस प्रकार, स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त काव्यशास्त्रीय सूचनाएँ कुछ खास प्रकाश नहीं डालतीं। निदान, हमें अन्य उपलब्ध वाङ्मय की शरण में जाना होगा।

हमारे प्राचीनतम उपलब्ध वाङ्मय वेद में अलंकारशास्त्र जैसे शास्त्र की कहीं चर्चा नहीं मिलती। यह बिल्कुल स्वाभाविक है। कारण, वेद हमारे ज्ञान का सामान्य रूप प्रस्तुत करते हैं, विशिष्टीकरण तो वेदांगों के रूप में सर्वप्रथम सामने आता है। तथापि परवर्ती काल में ज्ञान के जिन अंगों का विकास हमारे यहाँ हुआ, उनके बीज वेदों में प्राप्त हैं। काव्य-शास्त्र भी इस विषय में अपवाद नहीं है। 'ऋग्वेद' की अनेक ऋचाओं में 'उपमा', 'अतिशयोक्ति', 'व्यतिरेक', 'श्लेष' तथा 'अनन्वय' जैसे अलंकारों का प्रयोग हुआ है।^२ डॉ० पी० ह्री० काणे का मत है कि ऋग्वैदिक ऋषियों को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य था।^३ अपने मत के समर्थन में उनका तर्क है कि ऋषि मन्त्रों में वर्णों की आवृत्ति में

१. "सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।

ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः॥"

—राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० ११

२. (क) उपमा : "अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्त्रेव निरिणीते अप्सः॥"

—ऋग्वेद, १।१२४।७

(ख) अतिशयोक्ति : "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥"

—वही, १।१६४।२०

(ग) व्यतिरेक : "द्वादशारं न हि तज्जराय वर्वत्ति चक्रं परिषद्यामृतस्य।"

—वही, १।१६४।११

(घ) श्लेष : "स्वसुजरीः शृणोतु नः।"

—वही, ६।५५।५

(ङ) अनन्वय : "इन्द्र इव ह्युपस्तूयसे इन्द्र इव दस्युहा भव क्षेत्राणि सृज।"

—प्रो० चारुदेव शास्त्री द्वारा 'भर्तृहरि एण्ड द वाक्यपदीय' नामक अपने निबन्ध में उद्धृत, जो पंचम अखिल भारतीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन की काररवाई, पृ० ६३०—५५ में प्राप्य है।

3. "The R̥gvedic poets not only indulge in such figures of speech as Upamā, Atiśayokti and Rupaka (as in R̥g. III, 27.15, IX.64.1

विशेष अभिरुचि रखते दिखाई पड़ते हैं, जिससे 'यमक', 'अनुप्रास' जैसे अलंकारों की सृष्टि अनेक स्थलों पर हुई है, जिनके कई उदाहरण काणे महोदय ने ऋग्वेद से उद्धृत किये हैं।^१ इसके अतिरिक्त काणे महोदय ने ऋग्वेद के एक मन्त्र को^२ उद्धृत करते हुए यह बताया है कि उक्त मन्त्र द्वारा ऋग्वैदिक ऋषि सामान्य भाषा और काव्यमयी भाषा के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहा है।^३ महामहोपाध्याय श्रीकुप्पूस्वामी ने भी ऋग्वेद की एक ऋचा में^४ मन्त्रद्रष्टा ऋषि के समालोचक-स्वरूप की झाँकी देखी है, यद्यपि उन्होंने यह स्वीकार किया है कि ऋषि अपनी इस योग्यता के प्रति सजग नहीं था।^५ इसी ऋचा के आधार पर डॉ० शंकरन् का मत है कि ऋग्वैदिक ऋषि काव्य के बाह्य एवं आन्तर भेदों को समझता हुआ काव्य की आन्तरिक विषयवस्तु को, न कि उसके आकार को, महत्व प्रदान करता है और इस

दृषा सोमः) but they appear to have had some ideas about a theory of Poetics

— P. V. Kane : The History of Sanskrit Poetics, p. 316.

१. They are fond of repetition of the same letters or words which create an appearance of what is called anuprasa in later times, e.g.,
रक्षाणो अग्ने तव रक्षणेभीरारक्षणः (४।३।१४), प्रतार्यग्ने प्रतरं न आयुः
(४।१२।६)।
—वही, पृ० ३१६

२. "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमकृत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीनिहिताधिवाचि ॥"

—ऋग्वेद, १०।७।१२

३. "This makes it clear that a distinction is here made between ordinary speech and poetic speech, that poets have to pick and choose their words and that poetry leads on to bliss and glory."

—P. V. Kane : The History of Sanskrit Poetics, p. 317.

४. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।

उतो त्वस्मै तन्वं विसले जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ —ऋग्वेद, ८।२।२३४

५. "The oldest phase of literary appreciation may be traced back to the R̥gveda. It is not meant to suggest that the R̥gvedic bard was conscious of his position as a critic, yet it is quite possible that the bards were also critics without being conscious of it."

—M. M. Kuppuswamy : High ways & By-ways of
Literary Criticism in Samskrit, p. 9.

प्रकार अपने काव्य-समीक्षक रूप का परिचय देता है।^१ डॉ० काणे ने भी इस ऋचा को उद्धृत करते हुए इसी मत का पोषण किया है।^२ वस्तुतः ऋग्वैदिक ऋषियों में वाणी की विशिष्टताओं को परखने की योग्यता अवश्य थी, जो ऋग्वेद के वाक्सूक्त के मन्त्रों से भी प्रमाणित है। इस सूक्त में वाणी कहती है कि मैं जिसे चाहूँ, उसे बली, स्तोता, ऋषि अथवा बुद्धिमान् बना सकती हूँ।^३ इसके अतिरिक्त 'उपमा' एवं 'रस' शब्द के प्रयोग भी ऋग्वेद में प्राप्य हैं,^४ यद्यपि 'रस' का काव्यानन्द के पर्याय-रूप में प्रयोग नहीं हुआ है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि काव्य-समीक्षा के कुछ सामान्य सिद्धान्तों का परिचय ऋग्वैदिक ऋषियों को अवश्य था, जिनका पालन वे मन्त्र-रचना के समय सावधानतापूर्वक करते थे; भले ही अलग विधा के रूप में काव्य की, एवं स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में काव्यशास्त्र की प्रतिष्ठा ऋक्संहिता-काल तक न हो सकी थी।

अन्य संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में भी काव्यशास्त्र के स्वतन्त्र अस्तित्व का साक्ष्य अप्राप्य है। परवर्ती काल में जिन छह वेदांगों का विकास हुआ, उनके अन्तर्भूत काव्यशास्त्र से सम्बद्ध विषयों का थोड़ा-बहुत प्रतिपादन अवश्य मिल जाता है। यास्क ने उपमा के 'भूतोपमा', 'रूपोपमा', 'सिद्धोपमा', 'कर्मोपमा' तथा 'लुप्तोपमा' नामक पाँच भेदों का उल्लेख अपने 'निरुक्त' में किया है।^५ उपमा के विवेचन की परम्परा यास्क से भी पुरानी है, इसका संकेत इस तथ्य से मिलता है कि यास्क ने गर्ग नामक पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा दिया गया 'उपमा' का लक्षण अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है।^६ उपमा-विवेचन की परम्परा पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' के काल तक और समृद्ध हो चुकी थी, इसका साक्ष्य

१. "The Verse तत्त्वः etc. by denouncing the person that sees only the externals in poetry and praising the learned to whom alone the beauty of the inner sense is revealed, appears to value highly poetic content not its form."

—The Theories of Rasa and Dhvani : Shankaran.

२. The History of Sanskrit Poetics : P. V. Kane, p. 317

३. "अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।

यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥"—ऋग्वेद, १०।१२५।५

४. (क) 'स्वादुक्षया यो वसतो स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमादिवः।'

—ऋग्वेद, १।३१।१५

(ख) 'वृष्णेते इन्द्रवृषभ पीपाय स्वाहू रसो मधुपेयो वराय।'

—वही, ६।४४।३१

५. देखिए, 'निरुक्त', पृ० १३५ से १४३ तक, अध्याय ३, पाद ३-४, खण्ड १५-१८।

६. 'यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यः।'

—वही, ३।३।१४, पृ० १३२

‘अष्टाध्यायी’ के सूत्रों में प्राप्य है। वहाँ ‘उपमा’ का ही नहीं, उसके अंगों—‘उपमान’, ‘उपमित’ तथा ‘साधारण धर्म’ का भी उल्लेख मिलता है। ‘वीप्सा’, ‘अपह्नव’ तथा ‘संशय’ जैसे शब्द भी वहाँ प्राप्य हैं, जो काव्यशास्त्र में अलंकार-स्वरूप स्वीकृत हुए हैं। सम्भव है, इन शब्दों के काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक स्वरूप का विकास इस काल तक हो गया हो। किन्तु इन समग्र उल्लेखों से अधिक महत्त्वपूर्ण है ‘अष्टाध्यायी’ में कृशाश्व तथा शिलालिन् के ‘नट-सूत्रों’ की चर्चा।^१ डॉ० कीथ ने पाणिनि द्वारा उल्लिखित ‘नटसूत्रों’ को नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ मानना अस्वीकार किया है और उन्हें मूक अभिनय का ग्रन्थ माना है।^२ किन्तु डॉ० पी० ह्वी० काणे उनसे सहमत नहीं हैं। वे ‘नटसूत्र’ से नाट्यशास्त्र के ग्रन्थ का अभिप्राय ग्रहण करते हैं।^३ उनका कहना है कि केवल मूक अभिनय का विवेचन करनेवाला कोई ग्रन्थ अब तक प्राप्त नहीं हुआ है।^४ उन्होंने नाटक-प्रदर्शन के चार तत्त्वों—कथनोपकथन, गीत, वाद्य एवं नृत्य का विकास वैदिक काल में माना है^५ और वैदिक वाङ्मय से अपने मत के समर्थन में कई प्रमाण उद्धृत किये हैं।^६ उक्त प्रमाणों के आधार पर उनका निष्कर्ष है कि वैदिक वाङ्मय का आरम्भिक काल धार्मिक ढंग के नाटकीय आयोजनों की जानकारी स्पष्ट करता है।^७

- | | |
|--|-----------------------|
| १. ‘तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् ।’ | —अष्टाध्यायी, २।३।७३। |
| २. ‘कर्त्तर्युपमाने ।’ | —वही, ३।२।७९। |
| ३. ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ।’ | —वही, २।१।६५। |
| ४. ‘उपमानानि सामान्यवचनैः ।’ | —वही, २।१।५५। |
| ५. ‘संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ।’ | —वही, ५।४।४३। |
| ६. ‘अपह्नवे ज्ञः ।’ | —वही, १।३।४४। |
| ७. ‘संशयमापन्नः ।’ | —वही, ५।१।७३। |
| ८. (क) ‘पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ।’ | —वही, ४।३।११०। |
| (ख) ‘कर्मन्वकृशाश्वदिनिः ।’ | —वही, ४।३।१११। |

९. देखिए, संस्कृत ड्रामा : डॉ० ए० वी० कीथ, पृ० ३१, २९१।

१०. देखिए, हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स : डॉ० पी० ह्वी० काणे, पृ० ३२२।

११. ‘No works dealing with pantomimes alone have been discovered so far.’
—Ibid., p. 322.।

१२. “A dramatic representation has generally four aspects, viz. the dialogue, songs, music and dance. All these elements, were developed in Vedic literature.”
—Ibid., p. 317.।

१३. Ibid., p. 317-18.

१४. “Therefore it follows that even the earlier period of Vedic literature knew dramatic spectacles of a religious character.”

—Ibid., p. 318.

भरत के 'नाट्यशास्त्र' में भी नाट्य के तत्त्वों का विविध वेदों से ग्रहण किया जाना उल्लिखित है।^१ इस प्रकार, यदि नाट्य-विकास की परम्परा वैदिककाल से पाणिनि के युग तक विद्यमान रही है, तो उसके शास्त्रीय विवेचन के सूत्रग्रन्थों का सृजन स्वाभाविक है, जिनमें से कुछ का संकेत 'अष्टाध्यायी' के सूत्रों में प्राप्य है।

जहाँ तक काव्यसृष्टि एवं काव्यालोचन के सामान्य सिद्धान्तों के विकास का प्रश्न है, वाल्मीकीय रामायण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्मारक है। उसे कवि-परम्परा में 'आदि-काव्य' का, एवं उसके रचयिता को 'आदिकवि' का गौरव मिलता रहा है। किन्तु विद्वानों का मत है कि 'आदिकाव्य' की बहुत-सी उपमाएँ तथा अन्य काव्य-तत्त्व उन पुरानी रचनाओं से गृहीत हैं, जिनको रामायण की प्रसिद्धि ने विस्तृत करा देने में सहायता प्रदान की।^२ वस्तुतः रामायण की विशद एवं चमत्कारपूर्ण अप्रस्तुत योजना, सुवर्णित शब्दावली एवं प्रवाहमयी शैली^३ लोकभाषा की अविच्छिन्न काव्य-परम्परा का आश्चर्यजनक उत्कर्ष सूचित करती जान पड़ती है। उसकी स्थिति लौकिक संस्कृत-काव्य में बहुत-कुछ वैसी ही है, जैसी सूर-साहित्य की ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा में है। उदात्त शैली के ऐसे महान् काव्यात्मक प्रयत्न के साथ काव्यालोचन के सिद्धान्तों के निर्माण की दिशा में प्रयत्न स्वाभाविक था। 'आदि-काव्य' के बालकाण्ड में प्राप्य कुछ आलोचना-सम्बन्धी संकेत^४ इसी प्रयत्न के स्मारक माने जा सकते हैं। इन उल्लेखों के आधार पर महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी तथा श्रीवलदेव

१. नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।

जग्राह पाठ्यमृगवेदात्सामभ्यो गीतमेव च ॥

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।—नाट्यशास्त्र, १।१६-१७, खं० १, पृ० १४

२. "There can be little doubt that many poetic factors, similies and other details are taken from older works which are lost for ever. On account of the high reputation attached to the Ramayan from the beginning, it must be regarded as a matter of course that the less poetic compositions in the period before Valmiki could easily fall into oblivion."

—Dr. J. Nobel : Foundations of Indian Poetry, p. 5.

३. देखिए, युद्धकाण्ड का समुद्र-वर्णन, जिसकी एक पंक्ति उदाहरणार्थ उद्धृत है—
'हसन्तमिव फेनौर्धनृत्यन्तमिव चोष्मभिः।' (४।११५)

सुन्दरकाण्ड का आकाश-वर्णन तथा अयोध्याकाण्ड का विस्तृत रूपक (६१।२८)।

४. (क) पादबद्धोऽक्षरसमः तन्त्रीलयसमन्वितः।

शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥

—वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, २।२०

उपाध्याय जैसे विद्वान् वाल्मीकि को ही संस्कृत का प्रथम आलोचक मानते हैं।^१ वाल्मीकि में वर्णित शोक-श्लोक-समीकरण की मान्यता कालिदास तथा आनन्दवर्धन द्वारा उद्धृत हुई है^२ और संस्कृत-काव्यशास्त्र में बड़ी प्रिय रही है। इस प्रकार आदिकाव्य के आलोचनात्मक संकेतों का संस्कृत-काव्यालोचन के क्षेत्र में कितना महत्त्व है, यह स्पष्ट है। उक्त आलोचनात्मक संकेतों को प्रक्षिप्त माननेवाले भी स्वीकार करेंगे कि आदिकाव्य के निर्माण-काल के आस-पास लक्ष्य-ग्रन्थ के आधार पर समीक्षा-सिद्धान्तों की उद्भावना एवं विश्लेषण का प्रयास स्पष्टतः प्रारम्भ हो चुका था। यों तो, सामान्य उक्ति से भिन्न चमत्कारपूर्ण कथन के वैशिष्ट्य को समझने-परखने की योग्यता ऋग्वेदिक काल में भी विद्यमान थी, यह देखा जा चुका है; किन्तु काव्यत्व की जैसी समृद्धि आदिकाव्य के रूप में भावक-समुदाय को एकत्र उपलब्ध हुई, उसने समीक्षात्मक चर्चाओं को प्रचुर मात्रा में प्रेरित किया होगा, यह सहज अनुमेय है। इन चर्चाओं से काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की स्थापना का मार्ग बड़ी स्पष्टता से प्रशस्त हुआ होगा। आदिकाव्य का निर्माण-काल डॉ० कीथ ने ईसा-पूर्व चौथी शती^३ माना है। एवं डॉ० याकोबी ने ईसा-पूर्व छठी शती^४। पाणिनि का काल भी किसी विद्वान् के द्वारा ईसा-पूर्व आठवीं शती^५ माना गया है और किसी के द्वारा ईसा-पूर्व पाँचवीं शती^६। आदि-

(ख) समाक्षरैश्चतुर्भिः पादैर्गीतो महर्षिणा।

सोऽनुव्याहरणाद्भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—वही, २।४४।

१. "In Valmiki, the creative artist and the art-critic were rolled up and harmoniously blended together."

—Kuppuswamy : Highways and Byways of Literary criticism in Sanskrit, p. 10.

(२) "महर्षि वाल्मीकि संस्कृत-साहित्य के आदिकवि ही नहीं थे, प्रत्युत आदिम आलोचक भी थे।"

—बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम भाग, पृ० २०।

२. 'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।'

—कालिदास : रघुवंश, १।४।७०।

"काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥"—ध्वन्यालोक, १।५, पृ० ४३।

३. See J. R. A. S, 1915, p. 320.

४. See Das Ramayan, Geschicht und Inhalt, Bonn, 1893, p. 100 H.

५. See History of Sanskrit Literature : C. V. Vaidya.

६. "The concensus of this varied evidence is in favour of assigning to Pan'ni a date about the middle of the fifth century B. C."

—India as known to Panini, Chapter VIII, p. 475

काव्य के उपर्युक्त आलोचनात्मक संकेत, 'अष्टाध्यायी' में प्राप्य नटसूत्रों का उल्लेख एवं इन ग्रन्थों के उपर्युक्त काल-निर्णय के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र का आरम्भिक युग, जिसमें उसके सिद्धान्तों की स्थापना एवं विवेचन के प्रयास बहुलता से शुरू हो गये थे, ईसा-पूर्व चौथी शती माना जाना चाहिए, जिसमें स्वतन्त्र एवं विभाजित शास्त्र के रूप में काव्यशास्त्र के अस्तित्व के लिए अपेक्षित आधार एवं पीठिका प्रस्तुत हो चुकी थी।

ईसवी सन् के पूर्व की चार शताब्दियाँ संस्कृत-काव्य एवं काव्यशास्त्र की दृष्टि से अल्पज्ञात काल हैं। फिर भी ऐसे संकेत प्राप्य हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि इस काल में एक ओर तो गुणात्मक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी मात्रा की दृष्टि से पर्याप्ततः काव्य-रचना हुई, दूसरी ओर समीक्षात्मक प्रयत्नों का क्रमबद्ध विकास भी हुआ। नमिसाधु द्वारा पाणिनि के नाम से 'पातालविजय' महाकाव्य को सम्बद्ध करना,^१ राजशेखर द्वारा उन्हीं के नाम से 'जाम्बवतीकाव्य' को सम्बद्ध करने का उद्धरण,^२ क्षेमेन्द्र द्वारा 'उपजाति' में पाणिनि की वैशिष्ट्य-प्राप्ति का उल्लेख तथा सुभाषित ग्रन्थों में पाणिनि के नाम से सम्बद्ध कई उक्तियों की प्राप्ति^३—ये तथ्य इस अनुमान को पुष्ट करते हैं कि उन्होंने किसी काव्य का निर्माण अवश्य किया होगा। कात्यायन के वार्तिक में 'आख्यायिका' शब्द का उल्लेख^४ यह बताता है कि उनके पूर्ववर्ती काल में आख्यायिकाओं का निर्माण शुरू हो गया था। महाभाष्य में 'वाररुचं काव्यं' के उल्लेख^५ तथा उसी में 'भ्राज'-श्लोकों के उदाहरण-स्वरूप उद्धृत श्लोक पर कैयट की इस टिप्पणी से कि उक्त श्लोक के रचयिता

१. तथाहि पाणिनेः पातालविजये महाकाव्ये 'सन्ध्यावधूं गृह्य करेण।' नमिसाधु की रुद्रटकृत 'काव्यालंकार' के द्वितीय अध्याय के आठवें श्लोक की टीका।

—रुद्रटकृत 'काव्यालंकार', पृ० १२।

२. "स्वस्ति पाणिनये तस्मै यस्य रुद्रप्रसादतः।

आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयः॥"

—सूक्तिमुक्तावली, पृ० ४२ में राजशेखर का उद्धरण।

३. देखिए, क्षेमेन्द्रकृत 'सुवृत्ततिलक', ३।३०।

४. देखिए, पीटर्सन-लिखित 'सुभाषितावली' की भूमिका, पृ० ५८, जिसमें 'उपोढ-रागेण' नामक छन्द 'सूक्तिमुक्तावली', पृ० २६० में पाणिनि के नाम से सम्बद्ध है और 'ध्वन्यालोक', पृ० ५६, पर बिना किसी के नाम से सम्बद्ध हुए उद्धृत हैं।

५. 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्।' —सिद्धान्तकौमुदी, भट्टोजिदीक्षित, पृ० १८२।

६. 'यत्तेन कृतं न च तेन प्रोक्तं वाररुचं काव्यं जालूकाः श्लोकाः।'।

—महाभाष्य, द्वितीय खण्ड, पृ० ३१५

कात्यायन थे,^१ यह सूचित होता है कि वररुचि ने किसी ऐसे काव्य का निर्माण अवश्य किया था। महाभाष्य में 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' तथा 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं का,^२ कंसवध तथा बलिबन्धन की कथाओं पर आवृत दो कृतियों का^३ तथा इन कथाओं के नाटकीय प्रदर्शन का^४ उल्लेख हुआ है। उसमें अनेक काव्यात्मक उक्तियाँ जगह-जगह उद्धृत हुई हैं,^५ जो पतंजलि से पूर्ववर्ती काल में रची गई होंगी।^६ इन तथ्यों से सूचित होता है कि पतंजलि-पूर्व काल में पर्याप्त मात्रा में काव्य, आख्यायिका एवं नाटकों का निर्माण हुआ था, जो अब अप्राप्य हैं। डॉ० काणे का अनुमान है कि ईसा-पूर्व ५०० वर्ष से लेकर ईसा-पूर्व १०० वर्ष के बीच प्रचुर मात्रा में ऐहिक काव्य की रचना हुई होगी।

भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय काव्यशास्त्र का प्राचीनतम उपलब्ध^७ ग्रन्थ है, जो विद्वानों के अनुसार अपने वर्तमान रूप में इसवी सन् की तीसरी शती के पूर्व रचा गया होगा।^८ किन्तु ऐसे साक्ष्य प्राप्य हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'नाट्यशास्त्र' भारतीय काव्यशास्त्र का आदिम ग्रन्थ नहीं है। पाणिनि के सूत्रों में कृशाश्व और शिलालिन् के

१. 'कात्यायनोपनिबद्धभ्राजाख्यश्लोक मध्य पठितस्य त्वस्य श्रुतिरनुग्राहिकास्ति।'।

—प्रदीप, महाभाष्य : पस्पशाह्निक, पृ० ६, प्रकाशक : कृपाराम शर्मा, सं० १९४६।

२. देखिए, महाभाष्य, खण्ड २, पृ० ३१३ तथा २८४।

३. वही, खण्ड २, पृ० ३४।

४. "इह नु कथं वर्तमानकालता कंसं घातयति बलिं बन्धयतीति चिरहते कसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथम्। ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्तीति। चित्रेषु कथम्।" —वही, खण्ड २, पृ० ३६।

५. (क) 'जघान कंसं किल वासुदेवः।' —वही, खण्ड २, पृ० ११९।

(ख) 'जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव।' —वही, खण्ड ३, पृ० १४३।

(ग) 'प्रियां मयूरः प्रतिनर्ततीति।' —वही, खण्ड ३, पृ० ३३८।

(घ) 'असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्।' —वही, खण्ड १, पृ० २८३।

६. "The preceding brief discussion shows that from at least 500 B. C. to 100 B. C. a great deal of political material of a secular character had been accumulated in classical Sanskrit."

—Dr. P. V. Kane : The Hist. of Sanskrit Poetics, p. 323.

७. "The Natyashastra must be regarded in the present state of our knowledge as the oldest work on the अलंकारशास्त्र।"

—Ibid., p. 46.

८. "The नाट्यशास्त्र must have been composed not later than 300 A. D."

—Ibid., p. 327.

नटसूत्रों के उल्लेख की बात ऊपर कही जा चुकी है। 'नाट्यशास्त्र' के पष्ठ-सप्तम अध्यायों में प्रमाणस्वरूप उद्धृत आनुवंशिक श्लोक निश्चय ही भरत से प्राचीनतर होंगे।^१ सिंहली-भाषा में प्राप्त 'सियवस लकर' नामक अलंकार-ग्रन्थ में आचार्य काश्यप का उल्लेख मिलता है,^२ जिसका समर्थन दण्डी के 'काव्यादर्श' की 'हृदयंगमा' टीका से भी होता है। उसमें काश्यप एवं वररुचि का दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य के रूप में स्मरण किया गया है।^३ 'काव्यादर्श' की ही 'श्रुतानुपालिनी' टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त एवं नन्दिस्वामी का नामस्मरण है।^४ डॉ० राघवन् के अनुसार 'अमिनवभारती' में काल्यायन नामक आचार्य का उल्लेख भरतपूर्व आचार्य के रूप में किया गया है।^५ ईसा-पूर्व चौथी शती में रचित कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जिन लेख-गुणों^६ एवं दोषों^७ का उल्लेख है, उनमें से कई परवर्ती काव्यशास्त्रीय पुस्तकों में स्वीकृत हैं।^८ खड्गदासन् के गिरनार-शिलालेख में, जिसका काल १५० ईसवी है, अलंकार-

१. "From this it follows that the verses cited as 'anuvamsya' had already been composed and had been traditionally handed from father to son or from teacher to pupil in relation to dramaturgy and were included in the 'Natyashastra', but that they were not the composition of him who compose the Natyashastra."

—Ibid., p. 17.

२. See J. R. A. S., 1905, p. 841.

३. "पूर्वेषां काश्यपवररुचिप्रभृतीनामाचार्याणां लक्षणशास्त्राणि संहृत्य पर्यालोच्य।"

—काव्यादर्श : दण्डी : हृदयंगमा टीका, पृ० २।

४. "The श्रुतानुपालिनी on the काव्या० mentions काश्यप, ब्रह्मदत्त and नन्दिस्वामी as the predecessors of Dandin."

—Dr. P. V. Kane : The History of Sanskrit Poetics, p. 3.

५. See J. O. R., Vol. VI, p. 222-23.

६. "अर्थक्रमः सम्बन्धः परिपूर्णतामाधुर्यमौदार्यं स्पष्टत्वमिति लेखसम्पत्।"

—कौटिल्य : अर्थशास्त्र, अधिकरण २, प्रकरण २८, अध्याय १०, पृ० १४७।

७. 'अकान्तिर्व्याघातः पुनरुक्तमपशब्द सम्प्लवः इति लेखदोषाः।'

—वही, पृ० १४७।

८. "श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं मुकुमारता।

अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः।

इतिवैदर्भभागस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।"

—दण्डी, काव्यादर्श १।४१-४२, पृ० ३७।

शास्त्र में स्वीकृत बहुत-से गुणों की एवं गद्य-पद्य नामक काव्यभेदों की चर्चा है।^१ इस शिलालेख से प्राचीनतर पुलुमायी के नासिक-शिलालेख में वही काव्यमयी शैली प्राप्य है, जो गिरनार-शिलालेख में अपनाई गई है।^२ इन तथ्यों से सिद्ध है कि ईसवी सन् के आसपास काव्यशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन प्रचुर मात्रा में हो चुका था और उसके पहले से इस विषय के ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हो गया था। अतः 'नाट्यशास्त्र' के काव्यशास्त्रीय विवेचन को आकस्मिक न मानकर काव्यशास्त्रीय विषयों की विकासमान परम्परा का महत्त्वपूर्ण प्रतिफलन मानना चाहिए।



१. 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्त शब्द समयोदारालङ्कृत गद्यपद्यः।'

—रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख : काणे-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स',
पृ० ३२३ पर उद्धृत।

२. (क) तुलना कीजिए—“सर्वक्षत्राविष्कृतवीर शब्दजातोत्सेका विधेयानां
यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन... शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां...।”

—वही, पृ० ३२३

तथा “महाराजेन... पसथसुभल्लखनेन... चकधुरगतचको पवतचको...।”

—पुलुमायी का नासिक-शिलालेख नं० २, बंबई-गजेटियर, खंड १६, पृ० ५५०।

(ख) “The Nasik Inscription of Siri Pulumayi, which is somewhat earlier than that of Rudradaman, though in Prakrit, exhibits the same traits.”

—Ibid., p. 324.

द्वितीय अध्याय

आर्य-वाङ्मय में दोष-धारणा के प्राक्तन प्रमेय

भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव पर पिछले अध्याय में विचार करते हुए निवेदित हो चुका है कि यों तो स्वतन्त्र एवं व्यवस्थित शास्त्र के रूप में इसका आरम्भ ईसा-पूर्व चार शताब्दियों की घटना है, किन्तु इसके सिद्धान्तों का आरम्भिक छोर ऋग्वेद में ही प्राप्य है। वस्तुतः किसी भी सिद्धान्त का निर्माण एकाएक एक व्यक्ति द्वारा नहीं होता। उसके निर्माण की सुदीर्घकालव्यापी परम्परा होती है और अनेक स्रोतों से प्रभावित होकर उसका स्वरूप बनता है। साथ ही, यह भी सच है कि ज्ञान का आरम्भिक स्वरूप सामान्य होता है; बाद, उसमें विशिष्टीकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है। इन विचारों के आलोक में यह स्वाभाविक है कि हमारे देश का आरम्भिक वाङ्मय हमारी ज्ञानराशि के सूक्ष्म एवं अव्यक्त बीज का मौलिक अधिष्ठान हो। यहाँ देखना यह है कि हमारे प्रतिपाद्य काव्य-दोषों की उत्पत्ति-प्रक्रिया पर हमारे प्राक्तन वाङ्मय से कैसा प्रकाश पड़ता है।

हमारे प्राचीनतम वाङ्मय 'ऋक्संहिता' में काव्यदोषों का पारिभाषिक रूप में उल्लेख अप्राप्य है। फिर भी, जैसा ऊपर निवेदित हुआ है, काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का निर्माण जिन सामान्य मानव-विचारों के बीच से हुआ है, उनकी झलक वैदिक साहित्य में पाई जा सकती है। चूँकि, काव्यशास्त्र भी सामान्य मानव-चिन्तन का अविच्छेद्य अंग है, इसलिए काव्यदोष-विषयक धारणाओं के मूल का अस्तित्व मनुष्य की उस सामान्य दोष-धारणा में है, जो सभ्यता के आरम्भ से ही मनुष्य एवं उसके आवेष्टन की विकृतियों के ज्ञान से मानव-मस्तिष्क में बद्धमूल होने लगती है। स्पष्ट है कि काव्यदोषों की उत्पत्ति-प्रक्रिया को इस सामान्य दोष-धारणा के स्वरूप-परिज्ञान के अभाव में नहीं समझा जा सकता। इस अध्याय में, इसीलिए, आर्य-वाङ्मय में 'दोष' के प्राक्तन उल्लेखों, व्युत्पत्ति, अर्थ एवं पर्याय की चर्चा के रूप में सामान्य दोष-विचार के विकास-सूत्र अनुसंहित हैं। साथ ही, यह सामान्य दोष-धारणा बाद के वाङ्मय में क्रमशः विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करती हुई काव्यदोष-धारणा के उदय का मार्ग किस प्रकार प्रशस्त करती है, इसका भी निदर्शन है।

'ऋक्संहिता' के दशम मण्डल से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों को दैहिक विकृतियों

एवं उनके निवारणार्थ उपयोगी भेषजों का पर्याप्त ज्ञान था^१, जो दोष-चेतना का आरम्भिक रूप है। अन्य मण्डलों में भी कई स्थलों पर रोगनाश एवं भिषक्-प्रदान की प्रार्थना कई देवताओं से की गई है।^२ ऋग्वेदिक आर्यों की दोष-धारणा अपने इस आरम्भिक रूप में ही नहीं, उस विकसित रूप में भी देखने को मिलती है, जिसका सम्बन्ध सौन्दर्य-चेतना से है। ऋग्वेदिक देवताओं की रूप-कल्पना अत्यन्त मनोहर है, विशेषतः 'ऊषा-सूक्त' तो रमणीय कल्पनाओं का भाण्डार ही है। अपनी इस सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय ऋग्वेदिक आर्य अपने व्यावहारिक जीवन में भी देते थे, यह उस ऋचा से सूचित है, जिसमें उन्होंने विरूपता लाने-वाले परिधानों को त्याज्य बताया है।^३ निष्कर्ष यह कि दैहिक विकृतियों के अतिरिक्त सौन्दर्य-भावना में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली विरूपताओं की दोषरूप में स्वीकृति 'ऋक्संहिता' से प्रमाणित है।

इसके अतिरिक्त, 'ऋक्संहिता' आर्यों की दोष-धारणा के उस पक्ष का भी निदर्शक है, जिसका सम्बन्ध नैतिक चेतना एवं धार्मिक विश्वासों से है। ऋग्वेदिक आर्यों की शिव-भावना अतिशय विकसित थी। 'ऋत' के रूप में उन्होंने अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त नैतिक शक्ति की कल्पना की थी^४ तथा पाप या व्रतभंग से क्रुद्ध होनेवाले, दण्ड के लिए पाश धारण करनेवाले तथा पापमुक्त भी कर देनेवाले वरुणदेव को नैतिक देवता के रूप में स्वीकार किया था।^५ विविध प्राकृतिक शक्तियों के स्तवन के प्रसंग में अभिव्यक्त ऋग्वेदिक ऋषियों के भद्राकांक्षी उद्गार उनकी कल्याण-भावना के व्यापक स्वरूप के द्योतक हैं। इन स्तुतियों में उन्होंने काम्य वस्तुओं की प्राप्ति एवं अकाम्य से विरति के लिए प्रार्थना की है।^६ यज्ञ-

१. "या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।

मनौ नु वभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च।

शतं वो अम्ब धामानि सहस्रयुत वो रुहः।

अथा शतक्रवो यूयमिभं मे अगदं कृत॥"—ऋक्संहिता, १०।९४।१-२।

२. 'आपः पूर्णीत भेषजं वरुथं तन्वे इ मम। ज्योक् च सूर्यं दूशे।'—वही, १।२३।२१।

३. "तृष्टमेतत् कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे।

सूर्या यो ब्रह्मा विद्यात् स इद्वाधूयमर्हति॥"—वही, १०।८५।३४।

४. "Everything that is ordered in the universe has Rta for its principle".

—Dr. S. Radhakrishnan: Indian Philosophy, Vol. I, p. 79.

५. "उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय।

अथा वयमादित्यव्रते तवानागसो अदितये स्याम॥"

—ऋक्संहिता, १।२४।१५।

६. "यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्द्धनः। स नः सिषक्तु यस्तुरः।

मा नः शंसो अरुषोर्धूतिः प्रणङ्मर्त्यस्य। रक्षाणो ब्रह्मणस्पते।"—वही, १।१८।२-३।

विधियों की पूतता की सुरक्षा-भावना भी उनमें बड़ी प्रबल दिखाई पड़ती है। 'यम-यमी-संवाद' जैसे प्रसंग से उनकी यौन-नैतिकता का भी स्वरूप स्पष्ट होता है।^१ ऋग्वैदिक आर्यों में प्रायश्चित्त की प्रबल चेतना के भी दर्शन होते हैं।^२ उनके दृढ़ धार्मिक विश्वास एवं प्रबुद्ध नैतिक चेतना से प्रभावित एवं प्रेरित दोष-धारणा का व्यापक रूप उनके साहित्य में उपलब्ध है। आगे की पंक्तियों में 'ऋक्संहिता' में प्राप्य दोषोल्लेखों की चर्चा है, जो प्राचीन आर्यों की दोष-धारणा के उपर्युक्त पक्षों को उदाहृत करते हैं।

'ऋक्संहिता' में 'रात्रि' अर्थ में 'दोषा' के प्रयोग तो अनेक स्थलों पर प्राप्य हैं,^३ पर 'विकृति' अर्थ में संज्ञापद 'दोष' अथवा 'दूषण' का प्रयोग अनुपलब्ध है। तथापि क्रिया-रूप में 'दूषपत्' तथा 'दूषयन्ति' के प्रयोग मिलते हैं। प्रथम स्थल की दोष-धारणा धार्मिक चेतना से सम्बद्ध है, द्वितीय की शिव-भावना से। इन उल्लेखों के अतिरिक्त सविशेषण पदों के रूप में 'दुष्ट आचार' के लिए 'दुष्कृत' तथा दुष्टबुद्धि (विचार) के लिए 'दुर्मति' के भी प्रयोग इस संहिता में प्राप्य हैं। 'अनिष्ट' या 'अभद्र' अर्थ में 'दुरित' के भी अनेकत्र प्रयोग मिलते हैं। 'दुः' उपसर्ग से युक्त शब्दों की संख्या 'ऋक्संहिता' में और भी ज्यादा

१. 'न वा उते तन्वा तन्वं सम्पपृच्यां पापमाहुयः स्वसारं निगच्छात्।'

—वही, १०।१०।१२।

२. "किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम्।

प्रतन्मे वोचो दूढभ स्वधावोऽध त्वानेना नमसा तुर इयाम्।"—वही, ७।८६।४।

३. "विमुच्या वयोऽवसायाश्चान्दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे।"

—ऋक्संहिता, १।१०४।१।

४. "वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे।

अग्निर्हि देवां अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूषत्॥"

—वही, ३।३।१।

५. "ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।

अह्ये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥"

—वही, ७।१०४।९।

६. "यदाशसा निःशसाभिःशसो पारिम जाग्रतो यत् स्वपन्तः।

अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु॥"

—वही, १०।१६४।३।

७. 'सनेभ्यस्मदद्युतो दिद्युं मा वो दुर्मतिरिह प्रणङ्गन।'

—वही, ७।५६।९।

८. 'मा पूणन्तो दुरिमेन आर न माजारिषु सूरयः सुजतासः।'

—वही, ११।२५।७।

है।^१ यह 'दुः' उपसर्ग ही 'दोष' का मूल पूर्ववर्त्ती रूप है, जिसकी उत्पत्ति मनोरागव्यंजक शब्द के रूप में भर्त्सना, अनादर या घृणा व्यक्त करने की प्रक्रिया में हुई होगी। आरम्भ में यह एक स्वतन्त्र शब्द रहा होगा, बाद में इसे उपसर्ग का स्थान मिला होगा। इण्डोरोपीय भाषा में भी 'दुः' उपसर्ग से ध्वनिसाम्य रखनेवाला 'पुह्' शब्द उक्त भावों की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार, भाषा की अति प्राचीन अवस्था के साथ इन शब्दों का सम्बन्ध सिद्ध होता है। वस्तुतः किसी वस्तु के प्रति स्वागत या बहिष्कार, स्वीकृति या अस्वीकृति, प्रशंसा या निन्दा की प्रतिक्रिया मनुष्य की आदिम सम्भावस्था के साथ सम्बद्ध है। फलतः इनकी अभिव्यक्ति देनेवाले मनोराग-व्यंजक शब्द की उत्पत्ति भी उतनी ही पुरानी है, जितनी मनुष्य की भाषा। 'ऋक्संहिता' में प्राप्य उपर्युक्त दोषोल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक आर्यों की आचारशास्त्रीय एवं धर्मशास्त्रीय दोष-धारणा पर्याप्त स्पष्ट, विकसित एवं उदग्र तो थी ही, जीवन के व्यापक क्षेत्रों से सम्बद्ध होकर भी अन्वित थी।

ऋग्वैदिक आर्यों की उपर्युक्त नैतिक-धार्मिक प्रवृत्ति का प्रभाव उनके आचार एवं विचार पर ही नहीं, उच्चारण पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा था, इसका साक्ष्य 'ऋक्संहिता' देती है। उसमें 'दुरुक्त'^२ तथा 'दुष्टुति'^३ जैसे पदों का प्रयोग वाग्दोष-चेतना का निदर्शक है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि उक्त पद के प्रयोग-स्थल पर दुष्ट वाक्य की कामना न करने की, दुष्ट प्रतिवचन नहीं देने की तथा दुष्ट उक्ति से डरने की इच्छा व्यक्त करता है। इतना ही नहीं, वह देवताओं के लिए अग्राह्य स्तोत्रों के उच्चारण से बचना भी चाहता है।^४ स्पष्ट है कि 'ऋक्संहिता' के ये दोषोल्लेख नैतिक मान्यताओं पर आधारित वाग्दोष-चेतना के निदर्शक हैं। जिन आर्यों ने वाणी की ऐसे देवता के रूप में कल्पना की थी, जो जिसको चाहे स्तोता, ऋषि अथवा बुद्धिमान् बना दे,^५ जिन्होंने सरस्वती को साधारण नदी-मात्र नहीं, सत्य की प्रेरक एवं बुद्धिमान् पुरुषों की शिक्षिका समझा था,^६ वे यदि दुष्टवाणी से बचने की इतनी सावधानता बरतें, तो स्वाभाविक ही है।

दोष के पर्याय-स्वरूप 'ऋक्संहिता' में 'अवद्य' शब्द का प्रयोग मिलता

१. यथा—'दुराशीः'।—वही, ८।२।५; दुष्पदा—वही, १।५३।१ तथा दुस्तरं।

—वही, १।६४।१४।

२. 'चतुरश्चिह्नदमानाद्विभीयादानिधातोः न दुरुक्ताय स्पृहयेत्।'

३. 'न दुष्टुतिर्द्रविणोदेष् सस्यते।'—वही, १।५३।१।

४. 'मा वो वचांसि परिचक्ष्याणि वोचं मुष्नेष्विद्वो अन्तमा मदेम।'—वही, ६।५२।१४।

५. देखिए, प्रथम अध्याय की पाद-टिप्पणी—संख्या १६।

६. 'चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां यज्ञदधे सरस्वती।'—ऋक्संहिता, १।३।११।

है।^१ 'निर्दोष' अर्थ में 'अनवद्य' का प्रयोग भी प्राप्य है।^२

कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा की संहिता 'तैत्तिरीय संहिता' में 'दुरिष्ट'^३ तथा 'दूषयन्'^४ के प्रयोग मिलते हैं। 'दुरिष्ट' का अर्थ भट्ट भास्कर ने 'दुष्टयाग'^५ तथा 'दूषयन्' का अर्थ सायण ने 'बाधमान'^६ किया है। वाग्दोष चेतना का निदर्शक 'दुर्वाक्' शब्द भी वहाँ प्राप्य है,^७ जिसका अर्थ भट्ट भास्कर के अनुसार 'दुष्ट वचन बोलनेवाला व्यक्ति' है।^८ शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनीय शाखा की संहिता 'माध्यन्दिनीसंहिता' में 'दुरित', 'अवद्य'^९ तथा 'दुर्मति'^{१०} के प्रयोग दोष-धारणा के सूचक हैं। कर्मकाण्ड-प्रधान यजुर्वेद की दोष-धारणा का नैतिक-धार्मिक होना स्वाभाविक है।

'सामवेद' की अधिकांश ऋचाएँ 'ऋग्वेद' से गृहीत हैं, अतः उसमें नवीन दोष-प्रमेय अप्राप्य हैं। दोष-धारणा की दृष्टि से 'अथर्ववेद' की आकर-योग्यता अधिक है। इसका कारण यह है कि इसके मन्त्रों के विषय विविधतापूर्ण एवं जनसामान्य के विश्वासों और धारणाओं का सच्चा रूप उपस्थित करनेवाले हैं। यह वेद तत्कालीन जनसामान्य के

१. "समाने अहं त्रिरवद्य गोहना त्रिरद्य यज्ञं मधुनामिमिक्षतम्।

त्रिर्वाजवतीरिषो अश्विना युवं दोषा अस्मभ्यमुषसश्चपित्वत् ॥"

—ऋक्संहिता, १।३।४।३

२. "अनवद्यैरभिद्युभिर्मरवः सहस्वदचंति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः।"

—ऋक्संहिता, १।६।८।

३. 'अग्निर्मा दुरिष्टात्पातु।'—तैत्तिरीयसंहिता, खण्ड २, मैसूर संस्करण, १।६।३।८,

पृ० २६५।

४. "यो वां रथ ऋजुरग्निः सत्यधर्मा मिथुश्चरन्तमुपयाति दूषयन्।"

—वही, ४।७।१५, आनन्दाश्रम-संस्करण, खण्ड ६, पृ० ३३१४।

५. 'दुरिष्टाद्दुष्टयागाद्'—भट्ट भास्कर की व्याख्या, तैत्तिरीय संहिता, खण्ड २, पृ०

२६५ मैसूर संस्करण।

६. 'शत्रुं दूषयन्नुपयाति बाधमानः प्राप्नोति'—सायणभाष्य तैत्तिरीय संहिता, खण्ड

६, आनन्दाश्रम-संस्करण, पृ० ३३१४

७. 'वरुणो वा एष दुर्वागुभयततो बद्धो।'

—तैत्तिरीय संहिता, खण्ड १०, मैसूर-संस्करण, पृ० २४२।

८. 'दुष्टं वक्त्यति दुर्वाक्।'—भट्ट भास्कर की व्याख्या, वही पृ० २४२।

९. 'वैश्वानरो अदब्धस्तनूपाऽग्निर्नः पातु दुरितातादवद्यात्।'

—माध्यन्दिनीसंहिता, ४।१५, बम्बई-संस्करण, पत्र-संख्या २४, पृ० २।

१०. 'परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परित्वेषस्य दुर्मतिरघायोः।'

—वही, १६।५०, पत्र-संख्या १४५, पृ० २।

जीवन का यथार्थ चित्र है। जादू-टोना, अभिचार, मन्त्र, उच्चाटन, मारण-मोहन-वशीकरण आदि की तो चर्चा यहाँ है ही, चिकित्सा-शास्त्र के प्राचीन स्वरूप के दर्शन भी यहाँ होते हैं। इन प्रसंगों में दोषधारणा की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त अवकाश मिला है।

अथर्ववेद की एक उल्लेख्य विशेषता यह है कि इसमें संज्ञापद 'दूषण' के प्रयोग कई स्थानों पर मिलते हैं।^१ यहाँ 'दूषण' का अर्थ है 'विकृति'।^२ इसके अतिरिक्त 'नाश करता हूँ' अर्थ में 'दूषयिष्यामि'^३ का, 'बाधमान होने' अर्थ में 'दूषयन्' का,^४ 'नाश करने-वाली' अर्थ में 'दूषणी'^५ का तथा 'नाश के लिए' अर्थ में 'दुष्ट्यै'^६ के प्रयोग इस वेद में उपलब्ध हैं। 'दुः उवाच'^७ तथा 'दुः स्तुति'^८ जैसे वाग्दोषसूचक शब्द भी इसमें प्राप्त हैं। 'दुष्कृत',^९ 'दुश्चरित',^{१०} 'दुःहितान्'^{११} तथा 'दुरिष्टिः'^{१२} जैसे दोषाभिव्यंजक शब्दों के उल्लेख इस वेद की दोष-धारणा की व्यापकता के सूचक हैं।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रतिपाद्य मुख्यतया याग-विधान है। इन विधानों में निर्दिष्ट बाह्याचारों की पवित्रता आन्तरिक पतता से प्रेरित प्रतीत होती है। कारण, पाप से बचने का कठोर आग्रह यहाँ दिखाई पड़ता है।^{१३} असत्य-सम्भाषण से बचने का भी कठोर आग्रह है।^{१४} इस नैतिक चेतना से प्रेरित दोष-धारणा के प्रमेय ब्राह्मण-ग्रन्थों में पर्याप्त मात्रा में प्राप्य हैं। 'शांख्यायन ब्राह्मण' में 'दुष्ट हवि' का प्रयोग मिलता है।^{१५} 'तैत्तिरीय

१. (क) 'शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा का ववस्य च ।'

—अथर्ववेद, खण्ड १, ३।९।४।

(ख) 'तेषां त्वामग्र उज्जह्रुर्मणिं विष्कन्ध दूषणम् ।' —वही, ३।९।६।

२. 'दुष् वैकृत्ये ।'—सायण-भाष्य, वही, पृ० ३८६।

३. वही, ३।९।५, पृ० ३८४।

४. वही, ४।२९।७, पृ० ६६७।

५. वही, ४।६।२, पृ० ५४१।

६. वही, ३।९।५, पृ० ३८४।

७. वही, ४।१७।५ तथा ७।२४।१।

८. वही, २०।२।१३।

९. वही, ८।४।३।

१०. वही, ९।५।३।

११. वही, ४।३६।९।

१२. वही, २।३५।१।

१३. 'यः सकृत् पापकं कुर्यात् कुयदिनस्ततोऽपरम् ।' —ऐतरेय ब्राह्मण, ७।१७।

१४. 'अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति ।' —शतपथ ब्राह्मण, ३।१।३।१२।

१५. 'दुष्टं हविरवन्ति ।' शांख्यायन ब्राह्मण, १०।४ आनन्दाश्रम-संस्करण, पृ० ३७।

ब्राह्मण' में 'दुष्कृत' एवं 'दुश्चरित' शब्दों के उल्लेख मिलते हैं।^१ 'शतपथब्राह्मण' में भी 'दुष्कृत' एवं 'दूषीका' के प्रयोग उपलब्ध हैं।^२ दोष-पर्याय के रूप में 'अवद्य' तथा 'निन्द्य' शब्द का यहाँ उल्लेख हुआ है।^३

ब्राह्मणकालीन 'वाग्दोष-चेतना' संहिताकालीन धारणाओं की अपेक्षा अधिक विकसित जान पड़ती है। वाणी की नैतिक पवित्रता एवं शुद्धि के लिए कठोर आग्रह दिखाई पड़ता है। 'ताण्ड्यब्राह्मण' में असत्य बोलना 'वाणी का छिद्र' कहा गया है।^४ 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में सत्य और अनृत को वाग्देवी के दो स्तन माना गया है। सत्य रक्षक है और अनृत मारक।^५ 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' में 'कठिनता से बूझने योग्य' अर्थ में 'दुष्प्रज्ञानम्' का प्रयोग^६ इसका साक्षी है किन केवल नैतिक मान्यताओं के विपरीत पड़नेवाली उक्तियों की दुष्टवाणी के रूप में कल्पना उन दिनों प्रचलित थी, अपितु अर्थबोध की दुरुहता से युक्त अभिव्यक्तियों को भी दुष्ट माना गया था। वाग्दोष-धारणा का यह स्वरूप काव्यदोषों के अधिक समीप है।

उपनिषदों का विषय अध्यात्म-चिन्तन है, आत्मानुसन्धान है, जीवन का बाह्य स्वरूप नहीं, जिसमें दोष-दर्शन के लिए पर्याप्त अवकाश रहता है। फिर भी 'दोष' शब्द के प्रयोग उनमें अनेक स्थलों पर उपलब्ध हैं। 'मुण्डकोपनिषद्' कहती है कि अन्तःशरीर में स्थित शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा को 'क्षीणदोष' यति देखते हैं और उसकी प्राप्ति नित्य ब्रह्मचर्य से, सम्यक् ज्ञान से तथा सत्य से होती है।^७ यहाँ आत्मोपलब्धि के अन्य साधनों

१. (क) 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्।'—तैत्तिरीयब्राह्मण, प्रथमाष्टक, मैसूर-संस्करण, पृ० १७४।

(ख) 'पाहि माग्ने दुश्चरिताद् मा सुचरिते भजेत्याह।'—वही, पृ० १३९।

२. (क) 'स ह स दुष्कृतमेवात्मानमभवति।'—शतपथब्राह्मण, खण्ड ३, वेंकटेश प्रकाशन, पृ० १५१।

(ख) 'दुरक्षइव हास पूर्या हैवास्य दूषीका।'—वही, खण्ड २, ३।१।३, पृ० १८।

३. (क) 'तस्मादयं रसोऽवद्यमानो न क्षीयते।'—वही, ३।६।४।३०।

(ख) 'स हो वाच। अनिन्द्या वं मावृषत।'—वही, ३।४।१, पृ० १६१।

४. 'एतद्वाचश्छिद्रं।'—ताण्ड्यब्राह्मण, ८।६।१२।

५. "वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वावते। अवत्येनं सत्यं नैतमनृतं हिनस्ति य एवं वेद।"—ऐतरेयब्राह्मण, ४।१।

६. 'तत्त्वं दुष्प्रज्ञानम्।'—तैत्तिरीयब्राह्मण, प्रथमाष्टक, मैसूर-संस्करण, पृ० २१४; भट्ट भास्कर : 'यत् दुष्प्रज्ञानम् दुर्बोधिनं न वयं जानीमः।'—वही, पृ० २१४।

७. "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥"

—मुण्डकोपनिषद्, पृ० ३३।

की चर्चा के साथ क्षीणदोषता की चर्चा है। 'दोष' शब्द यहाँ न मानसिक विकारों का सूचक है, जो संसार में आसक्त करनेवाले, कष्टप्रद तथा वैराग्य से दूर करनेवाले हैं; यथा कामक्रोधादि। 'महाभारत' के सांख्ययोग-प्रकरण में इनको दोषस्वरूप माना गया है।^१ स्पष्ट है कि दोष-धारणा का दार्शनिक रूप उपनिषदों में उपस्थित है। 'कठोपनिषद्' में आत्मा की बाह्यलोक दुःखों से निर्लिप्तता के 'उदाहरण' के रूप में सर्वलोकवधु सूर्य की चाक्षुष बाह्यदोषों से निर्लिप्त रहने की बात कही गई है।^२ स्पष्ट है कि औपनिषदिक दृष्टि लोकदुःखों के अनुभव को दोषस्वरूप मानती है।

'शिक्षा', 'छन्दस्', 'ज्यौतिष', 'कल्प', 'निरुक्त' एवं व्याकरण की वेदांगमान्यता उपनिषत्काल में ही प्रतिष्ठित हो चुकी थी, जिसके प्रमाण का सर्वप्रथम उल्लेख 'माण्डूक्योपनिषद्' में मिलता है।^३ इन वेदांगों के रूप में वैदिक साहित्य के अध्ययन के लिए आवश्यक शास्त्रों की रचना हुई। इनके एवं परवर्ती शास्त्रों के विकास के साथ दोष-धारणा के विविध शास्त्रीय रूपों की प्रतिष्ठा होती है, उसका स्वरूप सामान्य से विशिष्ट, वर्गीकृत एवं पारिभाषिक होता है। दोष-धारणा के इन विविध शास्त्रीय रूपों का किञ्चित् निदर्शन अपेक्षित है।

'शिक्षा'-वेदांग के अन्तर्गत जिन 'प्रातिशाख्यों' एवं विविध 'शिक्षा-ग्रन्थों' की रचना हुई, उनमें 'वर्णदोष', 'पाठदोष' एवं 'हस्तदोष' का विस्तृत प्रतिपादन मिलता है।^४ संहितापाठ से पदपाठ में परिवर्तित होने पर जो ध्वनि-परिवर्तन हुए, उन्हें 'वर्णदोष' माना गया। वेदपाठ की सम्यक् लयात्मकता में त्रुटि होने को पाठदोष एवं उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित-सूचक हस्तसंचालन-क्रियाओं के भंग को 'हस्तदोष' माना गया। वेदों के शुद्ध एवं सम्यक् पाठ के लिए इन 'पाठदोषों' एवं 'हस्तदोषों' से बचना आवश्यक बताया गया।

'कल्प'-वेदांग के अन्तर्भूत जिन 'श्रौतसूत्रों', गृह्यसूत्रों एवं 'धर्मसूत्रों' की रचना हुई, उनमें

१. "पञ्चदोषान् प्रभो देहे प्रवदन्ति मनीषिणः।

मार्गज्ञाः कापिलाः सांख्याः शृणु तानरिसूदन॥

कामक्रोधी भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते।

एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम्॥"

—महाभारत, शान्तिपर्व, ३०।१।५।५५, पृ० ४२२८

२. सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।

"एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥"

—कठोपनिषद्, २।५, पृ० १२४।

३. देखिए, 'माण्डूक्योपनिषद्' १।१।५।

४. देखिए, 'ऋक्-प्रातिशाख्य', चतुर्दश पटल, 'पाणिनीय शिक्षा' तथा 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा'।

दोष-धारणा के नैतिक धार्मिक पक्षों के आधार पर विविध निषेधों की व्यवस्था हुई है। 'छन्दस्' के प्राप्त आदिग्रन्थ 'पिंगलच्छन्दःसूत्रम्' में गण-योजना-सम्बन्धी कई निषेध सूत्र-बद्ध हैं।^३ इन निषेधों का आधार दोष-चेतना है, इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं। 'व्याकरण' वेदांग के प्रयोजनों के रूप में 'अपभाषण से बचने'^४ तथा 'दुष्ट-प्रयोग से बचने'^५ की चर्चा करके महाभाष्यकार ने आर्यों की भाषण-सम्बन्धी शुद्धता एवं दोषमुक्ति की परम्परा-गत उत्कट प्रवृत्ति का संकेत किया है। इन वेदांगों की दोष-धारणा ने काव्यदोषों की उत्पत्ति में अप्रत्यक्षतः या प्रत्यक्षतः योगदान किया है। इस योगदान के स्वरूप का विश्लेषण हम अन्यत्र करेंगे।

उपर्युक्त वेदांगों के अतिरिक्त ज्ञान की उन अनेक शाखाओं का विकास भारतीय वाङ्मय में हुआ, जिनकी मूल विचारधारा वैदिक साहित्य में विद्यमान थी। 'आयुर्वेद' का पूर्वरूप 'अथर्ववेद' में देखा जा सकता है। दर्शनों का बीज तो 'ऋक्संहिता' में ही मिल जाता है, उपनिषदों में इनकी प्रधानता स्पष्ट है। इसी कारण इन्हें 'प्रस्थानत्रयी' के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। ज्ञान की इन शाखाओं पर स्वतन्त्र रूप से लिखी गई पुस्तकें यों तो सन्-ईसवी के आसपास की मिलती हैं, पर इससे बहुत पूर्व इनका लिखित साहित्य विद्यमान रहा होगा, जो अब अप्राप्य है। इन शास्त्रों की दोष-धारणा के विशिष्ट रूप की चर्चा प्रासंगिक है।

आयुर्वेद के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ 'चरकसंहिता' में शारीर एवं मानस दोषों का वर्णन मिलता है।^६ महर्षि चरक ने वायु, कफ एवं पित्त के कुपित होने को शारीरिक विकारों का मूल कारण माना एवं वायुदोष, कफदोष एवं पित्तदोषों का प्रतिपादन किया। इतना ही नहीं, रोग स्थिर करने की प्रक्रिया में वैद्यों के बीच जो विवाद हुआ करते थे, उनके माध्यम से तर्क के विविध पक्षों एवं उसके विविध दोषों—हेत्वाभासों, निग्रह-स्थानों आदि की जो चर्चा उन दिनों होती थी, उनका संकलन भी 'चरक-संहिता' में

१. "धर्मं चरत माऽधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम्।

दीर्घं पश्यत मा ल्हस्वं परं पश्यत माऽपरम् ॥"

—वशिष्ठ-धर्मशास्त्र, ३०।१।

२. "अत्रायुङ्ग न ज। अत्र आर्याच्छन्दसि अयुगणः, प्रथमस्तृतीयः पञ्चमः सप्तमश्च न जगणो मध्ये गुरुर्न कर्तव्यः।"—पिंगलच्छन्दःसूत्रम् : हलायुधवृत्ति, पृ० ५३।

३. देखिए, महाभाष्यम्, पस्पशाह्निक, चौखम्बा-संस्करण, पृ० १८।

४. 'दुष्टाञ्छन्दान्माप्रयुक्षमहीत्यध्येयं व्याकरणम्।' —वही, पृ० १९।

५. "वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसङ्ग्रहः।

मानसः पुनश्चिद्विष्टो रजश्च तम एव च ॥"

—चरकसंहिता, १।५६, पृ० ४१।

मिलता है।^१ काव्यदोषों के विकास में आयुर्वेद की मौलिक दोष-धारणा का प्रत्यक्षतः योग नहीं है, पर इसमें प्रसंगतः प्रतिपादित तर्कदोषों ने काव्यदोषों के क्षेत्र में किस प्रकार प्रवेश पाया है, यह अन्यत्र वर्णित है।

भारतीय दर्शनशास्त्र में 'गुण' तथा 'दोष' के दार्शनिक रूप का विवेचन हुआ है। 'सांख्यदर्शन' के विचारों का पूर्वरूप 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' में देखने को मिलता है। वहाँ जिस प्रकार सत्त्व, रज एवं तम नामक गुणों का^२ तथा पंचभूतों के गुणों का^३ विस्तृत प्रतिपादन प्राप्त है, उसी प्रकार काम-क्रोधादि तेरह दोषों का भी।^४ 'महाभारत' में देवताओं की प्रीति के लिए दोषहीन होना आवश्यक माना गया है।^५ उससे यह भी सूचित है कि सांख्य-मार्गियों का विवेच्य सांसारिक तत्त्वों का गुणदोष-विवेचन ही नहीं था, अपितु दार्शनिक विवादों के प्रसंग में वाक्य एवं अर्थ का गुण-दोष-विवेचन भी उनके द्वारा होता था। 'महाभारत' के 'मुलभा-जनक-संवाद' में वर्णित वाक्य के 'सौक्ष्म्य', 'सांख्य', 'क्रम', 'निर्णय' एवं 'प्रयोजन' नामक पाँच अर्थों^६ में से 'सांख्य' अर्थ की दी गई परिभाषा से उक्त मन्तव्य का पोषण होता है। यहाँ किसी विशेष अर्थ को अभीष्ट मानकर उसके दोषों एवं गुणों की विभागपूर्वक गणना को 'संख्या' कहते हैं।^७ स्पष्ट है कि सांख्यों का कार्य वाक्य एवं अर्थ का गुण-दोष-विवेचन भी था। इस मन्तव्य की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि इसी प्रसंग में

१. देखिए, वही, "विमानस्थान", पृ० ११८१ तथा ११८९।

२. "सत्त्वं दशगुणं ज्ञात्वा रजो नवगुणं तथा।

तमश्चाष्टगुणं ज्ञात्वा बुद्धिं सप्तगुणं तथा॥"

—महाभारत, शान्तिपर्व, ३०१।१४।

३. वही, अध्याय-संख्या १८५, पृ० ४८९४-९५।

४. "यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।

शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः॥"

'एते हि धार्तराष्ट्राणां सर्वे दोषास्त्रयोदश।'—वही, शान्तिपर्व, १६३, पृ० ४८३८।

५. "अदुष्टं वर्तमाने तु हृदयान्तर पूरुषे।

तेनैव देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै॥"

—वही, शान्तिपर्व, २९९।३५।

६. "सौक्ष्म्यं सांख्यक्रमो चोभौ निर्णयः सप्रयोजनः।

पञ्च तात्पर्यजातानि वाक्यमित्युच्यते नृप॥"

—वही, शान्तिपर्व, ३२०।७९।

७. "दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।

कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥"

—वही, शान्तिपर्व, ३२०।८२।

आगे वाक्य के गुण और दोषों का उल्लेख है^१ और वर्णित दोषों में से कई काव्यशास्त्रीय दोषों के रूप में परिगणित हुए हैं।^२ 'न्यायदर्शन' में 'मिथ्याज्ञान से उत्पन्न मानसिक भावों को 'दोष' माना गया।^३ इसके अतिरिक्त उसमें हेतुदोषों^४ या हेत्वाभासों, प्रमाणदोषों^५ तथा निग्रहस्थानों^६ के रूप में तर्क के विविध दोषों की विस्तृत चर्चा हुई है। 'न्याय' के इस दोष-विवेचन ने काव्यशास्त्रीय दोषों के क्षेत्र में स्थान पाया है, इसकी चर्चा यथास्थान की जायगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक साहित्य के परवर्ती वेदांग-साहित्य एवं अन्य शास्त्रों में आर्यों की सामान्य दोष-धारणा विविक्त एवं विश्लिष्ट होकर अपना शास्त्रीय एवं पारिभाषिक स्वरूप विकसित करती है। काव्यदोषों के उद्भव की यह महत्वपूर्ण पीठिका है, जहाँ उनके अस्फुट रूप के विचार-स्रोत उपलब्ध होते हैं। परवर्ती वाङ्मय का युग भारतीय ज्ञान की अनेक शाखाओं के विकास के साथ-साथ भारतीय काव्य की प्रचुर रचना का भी काल है। इस काल में दुष्ट उक्तियों की धारणा के विविध शास्त्रीय स्वरूप के दर्शन होते हैं। इन विचारधाराओं से उपादान ग्रहण कर काव्यदोषों के स्वतन्त्र स्वरूप की शास्त्रीय प्रतिष्ठा कब और किस प्रकार हुई, यह अगले अध्याय में अनुसंहित है।



१. देखिए, वही, ३२०।८७—८९, पृ० ५२८२।

२. जैसे, 'मित्रार्थ' 'नाट्यशास्त्र' १६।८४ में तथा 'सन्दिग्ध', 'संशय' के रूप में भामह-कृत 'काव्यालंकार' ४।१ में दोषस्वरूप स्वीकृत हैं।

३. 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः १'—न्यायसूत्र, १।१८, पृ० २१ पर वात्स्यायन-भाष्य है—
"प्रवर्तनाप्रवृत्तिहेतुत्वं ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागदोषाविति। प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः १"

४. 'सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः'

—न्यायसू०, २।४, पृ० ४४।

५. 'तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्त दोषेभ्यः'

—वही, २।५७, पृ० ९७।

६. 'प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं... हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि १'

—वही, ५।१, पृ० ३०९।

तृतीय अध्याय

काव्यदोषों की व्युत्पादन-प्रक्रिया

पिछले अध्याय में श्रुतिकालीन वाग्दोष-चेतना के उल्लेख उद्धृत किये जा चुके हैं। उन उल्लेखों में तत्कालीन वाग्दोष-धारणा के कई पक्षों का निदर्शन है। एक ओर जहाँ नैतिक-धार्मिक दृष्टियों से वाणी की दूषकता संकेतित हुई है,^१ वहीं दूसरी ओर भाषा के मुख्य उद्देश्य, यथा अर्थबोध की दृष्टि से दुष्ट वाणी की कल्पना की गई है।^२ श्रुतिकाल में दुष्ट वाग्धारणा के ये विविध पक्ष एक-दूसरे से बहुत अलग न हो सके थे और उसका स्वरूप सम्मिलित-तथा सामान्य था। परवर्ती वाङ्मय में इस सामान्य वाग्दोष-धारणा के विविध शास्त्रीय रूपों की प्रतिष्ठा हुई। जीवन की व्यापक अनुभूतियाँ, विचार और आदर्श जिस प्रकार काव्य-सर्जन के उपादान हैं, उसी प्रकार काव्य-समीक्षा के आधार भी। अतः विविध शास्त्रों के माध्यम से प्रतिष्ठित अपने विचारों और आदर्शों का भारतीय मनीषा द्वारा काव्यगुण-दोष-परीक्षण के क्रम में भी उपयोग होना स्वाभाविक था। भारतीय काव्यशास्त्र की दोष-धारणा के उद्भव में विविध शास्त्रों की दुष्ट वाग्धारणा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस अध्याय में भारतीय काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा होने के पूर्व विकसित भारतीय वाङ्मय की विविध शाखाओं की दुष्ट वाग्धारणा का विकास-क्रम प्रदर्शित करते हुए काव्यदोषों की व्युत्पादन-प्रक्रिया का स्वरूप निर्दिष्ट है और उसका काल-निर्णय किया गया है।

प्राचीन भारतीय विचारधारा वेदों को 'अपौरुषेय' एवं 'स्वतः प्रमाण', मन्त्रों को 'श्रुति' तथा ऋषियों को 'मन्त्रद्रष्टा' मानती रही। वेदान्त आदि छह दर्शनों के आस्तिक एवं जैन-बौद्ध-चार्वाक-दर्शनों के नास्तिक कहे जाने का आधार भी उनका वेदों के स्वतः-प्रामाण्य में विश्वास-अविश्वास ही है। इन विश्वासों का स्वाभाविक परिणाम था कि प्राचीन आर्य वैदिक मन्त्रों की आत्यन्तिक तद्रूपता या शुद्धता की रक्षा के लिए पर्याप्त सचेष्ट रहते। दूसरी तरफ भाषा की प्राकृतिक परिवर्तनशीलता का परिणाम था उनकी भाषा एवं उच्चारण-

१. देखिए, इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय, पृ० १६ की पाद-टिप्पणी-संख्या २ तथा ३।

२. वही, पृ० १९ की पा० टि० संख्या ६।

३. 'अतएव च नित्यत्वम्।'—ब्रह्मसूत्र, १।३।२९; 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्'—सांख्यसूत्र, ५।५१ तथा 'तद्वचनाद् आम्नायस्म प्रामाण्यम्'

—वैशेषिकसूत्र, १।१।३।

प्रक्रिया का दिनानुदिन वैदिक भाषा एवं उच्चारण-प्रणाली से दूर पड़ता जाना। इन परिवर्तनों से वैदिक मन्त्रों को अप्रभावित रखने की सचेष्टता ने 'प्रातिशाख्यों' एवं अन्य 'शिक्षा'-ग्रन्थों की रचना को प्रेरणा दी एवं वेदाध्ययन के लिए 'शिक्षा' वेदांग की अनिवार्यता प्रचारित की। 'शिक्षा'-ग्रन्थों में इसी कारण पाठ-दोषों, हस्तदोषों एवं वर्णदोषों का विस्तृत एवं सूक्ष्म प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आर्यों की वाग्दोषधारणा का यह रूप नितान्त बाह्य एवं स्थूल प्रतीत होता है।

'प्रातिशाख्यों' को छान्दस व्याकरण न मानकर 'शिक्षा' का ही रूप मानना युक्तिसंगत है। कारण, इनमें पदसाधुत्व-अनुशासन का अभाव है। दूसरे, 'ऋक्-प्रातिशाख्य' के वृत्तिकार विष्णुमित्र ने 'शिक्षा' की परिभाषा देते हुए 'ऋक्-प्रातिशाख्य' को 'शिक्षाशास्त्र' नाम से अभिहित किया है।^१ इसके अलावा इस प्रातिशाख्य का तेरहवाँ पटल 'शिक्षा-पटल' कहा गया है।^२ 'प्रातिशाख्य' नामकरण से स्पष्ट है कि सभी संहिताओं की प्रत्येक शाखा का अपना प्रातिशाख्य रहा होगा। किन्तु शौनक-कृत 'ऋक्-प्रातिशाख्य', कात्यायन-कृत 'वाजसनेयिप्रातिशाख्य', 'साम-प्रातिशाख्य' एवं 'मैत्रायणीय प्रातिशाख्य' ही उपलब्ध हैं। उपलब्ध प्रातिशाख्य भी अपने मूल रूप में हमें प्राप्त नहीं हैं, ऐसा विद्वानों का मत है।^३ पर इतना निश्चित है कि ये अपने पूर्व रूप को बिल्कुल लुप्त नहीं कर सके हैं। इनके कुछ अंश तो यथावत् सुरक्षित हैं।^४ उपलब्ध प्रातिशाख्यों के रचना-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। श्रीबेलवलकर एवं महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी सभी प्रातिशाख्यों को पाणिनि के बाद की रचना मानते हैं,^५ पर डॉ० मंगलदेव शास्त्री तथा श्री

१. 'शिक्षा स्वरवर्णोच्चारणोपदेशकं शास्त्रं।' —ऋक्-प्रातिशास्त्र, पृ० १३।

२. 'अत आचार्यों भगवाञ्छौनको. . . शिक्षाशास्त्रं कृतवानिति।'—वही, पृ० १३।

३. 'इति. . . उवटकृती प्रातिशाख्यभाष्ये शिक्षापटलं त्रयोदशम्।'—वही, पृ० ३९८।

४. "It is very doubtful whether any of the Pratisakhyas has escaped extensive modification, by alteration, insertion and addition, since its first substantial construction."

—Whitney: अथर्व-प्रातिशास्त्र, पृ० ५७९।

५. देखिए, वही, पृ० ५७९।

६. (क) देखिए, 'सिस्टम्स ऑव संस्कृत ग्रामर : बेलवलकर, पृ० ४-५।

(ख) "इदानीं तु यस्मिन् रूपे शौनकीयं प्रातिशाख्यं पश्यामः तदिदं रूपं पाणिनेः परम्भदमेवेति निर्णयितमस्माभिः।"—म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी; व्याकरण महामाण्य, चौखम्बा-संस्करण, भूमिका, पृ० १८।

युधिष्ठिर मीमांसक 'ऋक्-प्रातिशाख्य' को पाणिनि-पूर्व होने का गौरव देते हैं।^१ पण्डित बलदेव उपाध्याय तो 'वाजसनेयिप्रातिशाख्य' को भी यह महत्त्व देते हैं और इसके रचयिता कात्यायन को वार्त्तिककार कात्यायन से भिन्न मानते हैं।^२ इन प्रातिशाख्यों को पाणिनि से परवर्त्ती माननेवाले भी पाणिनि से पूर्व कुछ अनुपलब्ध प्रातिशाख्यों की सत्ता मानते हैं।^३ अतः उपलब्ध प्रातिशाख्यों को भी इनके प्राचीन स्वरूप का परिचायक समझ विवेचन का आधार बनाया जा सकता है।

प्राचीनतम उपलब्ध प्रातिशाख्य 'ऋक्-प्रातिशाख्य' के चौदहवें पटल में वर्णों की उच्चारण-प्रक्रिया में उत्पन्न दोषों का विस्तृत निरूपण है।^४ 'दोष' का अर्थ यहाँ 'विकार' है, जो 'परिवर्त्तन' के पर्याय-रूप में व्यवहृत है।^५ 'दोष' की ऐसी धारणा यहाँ स्वाभाविक है। वैदिक मन्त्रों की तद्रूपता जिन्हें अभीष्ट थी, वे उनमें किसी भी विचार को दोष-स्वरूप ही मानते। 'ऋक्-प्रातिशाख्य' में संहिता वर्णों का गुण मानी गई है और 'आय' (असत्-वर्णोत्पत्ति), 'अपाय' (सत् का अपकर्ष) तथा 'व्यथन' (सत् का अन्यथा श्रवण) दोष।^६ वर्ण-दोष की इस परिभाषा के पश्चात् 'निरस्त', 'विहार', 'संहार', 'अम्बकृत', 'शून', 'सन्दष्ट', 'विक्लिष्ट', 'ग्रस्त' आदि अनेक दोषों के लक्षण-उदाहरण दिये गये हैं।^७ 'वाजसनेयिप्राति-

१. देखिए, 'ऋक्-प्रातिशाख्य' की अंग्रेजी भूमिका : ले० डॉ० मंगलदेव शास्त्री, पृ० १८ तथा 'संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास', पृ० ५२।
२. "हमारा परिनिष्ठित मत है कि ये कात्यायन वार्त्तिककार कात्यायन से भिन्न हैं तथा पाणिनि से भी प्राचीनतर हैं।"—बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य, पृ० ३७१।
३. "भवेयुरवश्यं पाणिनेः पूर्वमपि प्रातिशाख्यानि कानिचित्...।"—म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी : व्याकरण-महामाण्य (चौखम्बा-सं०) की भूमिका, पृ० १८।
४. देखिए, 'ऋक्-प्रातिशाख्य', पृ० ३९९-४२७।
५. 'पदस्य दोषो विकारावित्यर्थः।'—उदट-माण्य, ऋक्-प्रातिशाख्य, पृ० ३५३।
६. 'दोष (IX-47) Meaning Change'—डॉ० मंगलदेव शास्त्री, ऋक्-प्रातिशाख्य की अंग्रेजी-भूमिका, पृ० २५।
७. "समुद्दिष्टा वर्णगुणाः पुरस्तान् निर्दिष्टानां सांहितो यश्च धर्मः।
तदायापायव्यथनानि दोषास्तान्व्याख्यास्यामो य निदर्शनाया॥"
—ऋक्-प्रातिशाख्य, १४।१, पृ० ३९९।
तथा 'आयोनामासतोवर्णस्योपजनः।...अपायो नाम सतोऽपकर्षः। व्यथनं नाम सतोऽन्यथा श्रवणम्।'—वही, उदट-माण्य, पृ० ३९९।
८. देखिए, वही, पृ० ३९९—४२७, १४वाँ अध्याय।

शाख्य' में भी 'यमापत्ति',^१ 'स्फोटन',^२ आदि दोषों का विवेचन हुआ है। ध्वनि-परिवर्तन से सम्बद्ध होने के कारण ये वर्णदोष भाषाविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त अन्य कई 'शिक्षा'-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनमें प्रमुख है : 'पाणिनीय शिक्षा', जो पाणिनि-कृत इसलिए नहीं मानी जा सकती कि उसमें अन्यपुरुष के रूप में उनका नामोल्लेख तो है ही,^३ अन्त में उनकी स्तुति भी की गई है।^४ सम्भव है, इसकी रचना पाणिनि के अनुयायी किसी व्याकरण ने की हो। इस शिक्षा में सम्यक् पाठ की विधियों का उल्लेख है तथा पाठ के गुण-दोषों की चर्चा की गई है।^५ पाठदोष के कारण वृत्रासुर के नाश की कथा की ओर संकेत देकर इसमें पाठ-दोषों से बचने का उपदेश है।^६ 'याज्ञवल्क्य-शिक्षा' में 'हस्तभ्रष्ट' एवं 'स्वरभ्रष्ट' होने से वेदफल की अप्राप्ति बताई गई है^७ और हस्तदोषों^८ और पाठदोषों^९ की विस्तृत चर्चा है। यों तो अन्य कई मुनियों के नाम से सम्बद्ध शिक्षा-ग्रन्थ भी प्रकाशित हैं^{१०}, पर उनकी अर्वाचीनता स्पष्ट है। 'पाणिनीय शिक्षा' विद्वानों के अनुसार ३०० ई० पूर्व के आसपास की रचना है^{११}, पर 'शिक्षा-वेदांग' की प्राचीनता

१. देखिए, 'वाजसनेयिप्रातिशाख्य', ४।१६४, पृ० २४५।

२. वही, ४।१६५, पृ० २४५।

३. 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा।' —पाणिनीय शिक्षा, १।

४. 'येनाक्षरसमाप्तायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥'

—वही, पृ० ५७।

५. वही, पृ० ३२—३५।

६. मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ॥"—वही, पृ० ५२।

७. 'हस्तभ्रष्टः स्वरभ्रष्टो न वेदफलमश्नुते।'—याज्ञवल्क्य-शिक्षा, पत्र-सं० ४, पृ० १।

८. "चुलुनों का स्फुटो दण्डी स्वस्तिको मुष्टिकाकृतिः ।
एते वै हस्तदोषाः स्युः परशुश्चैव सप्तमः ॥"—वही, पत्र-सं० ६, पृ० १।

९. "शङ्कितं भीतमुद्धृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं मूर्द्धिगतं तथा स्थानविर्वाजितम् ॥
विस्वरं विरसंचैव विशिलष्टं विषमाहनं ।
व्याकुलं तालुहीनं च पाठदोषाश्चतुर्दश ॥"—वही, पत्र-सं० ४, पृ० २।

१०. देखिए, 'शिक्षासंग्रह'।

११. देखिए, 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर' : सी० व्ही० वैद्य।

‘गोपथब्राह्मण’ में ‘शिक्षा’ के प्रयोग^१ से तथा ‘तैत्तिरीय उपनिषद्’ में इसके विविध अंगों के उल्लेख से प्रमाणित है। स्पष्ट है कि ‘शिक्षा’ के इन अंगों से भी उनके वर्ण्य विषय की झलक देखी जा सकती है। उपलब्ध ‘शिक्षा’-ग्रन्थों के पाठदोषों की परम्परा पुरानी अवश्य है।

‘शिक्षा’-ग्रन्थों की वाग्दोष-धारणा काव्यदोषों की उत्पत्ति-प्रक्रिया की पूर्ववर्ती शृंखला के रूप में अतिशय महत्त्वपूर्ण हैं। इस दोष-कल्पना में अर्थ की अपेक्षा शब्द को मुख्यता देने में जिस स्थूलपरकता का परिचय मिलता है, उसे काव्य-दोषों के प्रसंग में भी देखा जा सकता है। रस-दोषों से अर्थ-दोषों एवं अर्थ-दोषों से शब्द-दोषों की आरम्भिक प्रधानता से यह स्पष्ट है। वैदिक मन्त्रों में किसी भी प्रकार के परिवर्तन को दोष मानने की विचार-धारा में जिस रुढ़िप्रियता एवं परम्परावादिता के दर्शन होते हैं, वह ‘आगमविरुद्ध’, ‘शास्त्र-विरुद्ध’ जैसे दोषों की कल्पना के पीछे प्रेरक रही होगी।

वाग्दोष-धारणा के विकास का अपर स्रोत व्याकरणशास्त्र में प्राप्त होता है। वैदिक पाठ की एकरूपता के लिए जिस तरह ‘शिक्षा’ का आविर्भाव हुआ, उसी तरह वैदिक भाषा की अभिप्रेत एकरूपता ने व्याकरणशास्त्र को संभव बनाया। इस वेदांग की प्राचीनता तैत्तिरीय संहिता में देवताओं द्वारा भाषा के व्याकरण की बात से सिद्ध है।^२ इस शास्त्र का एक उद्देश्य यदि वेद की रक्षा करना था, तो दूसरा दुष्ट प्रयोग तथा अपभाषण से बचना था।^३ भाषा की स्वाभाविक परिवर्तनशीलता और भारतीय मस्तिष्क की रुढ़ि-प्रियता के द्वन्द्व से दुष्ट प्रयोगों की सूची का विस्तार स्वाभाविक था। कवि-समुदाय में इन प्रयोगों से बचने की सतर्कता अवश्य रही होगी। काव्यदोषों के शास्त्रीय प्रतिपादन में व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को किसी-न-किसी दोष के रूप में हमेशा स्थान मिलता रहा है।^४ व्याकरण की वाग्दोष-धारणा ने प्राचीनतर होने के कारण काव्यदोषों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

१. देखिए, ‘गोपथब्राह्मण’, १।२४।

२. ‘शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः इत्युक्तः शिक्षा-ध्यायः।’ —तैत्तिरीय उपनिषद्, १।२।

३. “वाग्वं पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमञ्जुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्विति सोऽन्नवीद् वरं वृणै मह्यं चैवैष वायवे च गृह्यतामिति। तस्मादेन्द्रवायवः सह वृश्चते। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते।” —तैत्तिरीय संहिता, ६।४।७।

४. (क) ‘रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।’ —महामाष्य, आह्निक १, पृ० २।

(ख) ‘दुष्टाच्छब्दान्माप्रयुक्षमहीत्यध्येयं व्याकरणम्।’ —वही, पृ० ४।

५. जैसे ‘नाद्यशास्त्र’ (१६।८४) में ‘शब्दहीन’, वामन के ‘काव्यालंकारसूत्र’ (२।१।४) में ‘असाधु’ तथा मम्मटकृत ‘काव्यप्रकाश’ (७।५०) में ‘च्युतसंस्कृति’-दोष के रूप में।

वाग्दोष-धारणा का एक अन्य शास्त्रीय रूप 'छन्दस्' वेदांग में देखा जा सकता है। जिस तरह वैदिक भाषा की रक्षा के लिए 'शिक्षा' एवं 'व्याकरण' नामक वेदांगों का विकास हुआ, उसी प्रकार वैदिक लय की रक्षा के लिए 'छन्दस्' नामक वेदांग का। इस वेदांग के आरम्भिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। 'पिंगलच्छन्दःसूत्रम्' नाम से प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ में केवल वैदिक छन्दों का ही नहीं, लौकिक संस्कृत के छन्दों का भी विवेचन प्राप्त होता है।^१ अतः इसे परवर्ती मानना उचित है। विद्वान् इसका रचना-काल ईसा से ३०० वर्ष पूर्व मानते हैं।^२ इस ग्रन्थ में छन्द-सम्बन्धी कई निषेध सूत्रबद्ध हैं,^३ जिनमें एक का उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है।^४ ये निषेध 'छन्दस्' की दोष-धारणा को स्पष्ट करते हैं। वृत्त-दोषों का काव्य-दोषों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 'नाट्यशास्त्र' में 'विषम' के रूप में इन्हें स्थान दिया गया है।^५ काव्यदोषों के विशिष्ट रूप ग्रहण करने में 'छन्दस्' की आरम्भिक वाग्दोष-धारणा का योगदान अवश्य रहा होगा, यह सहज अनुमेय है।

आर्यों की कठोर नैतिक-धार्मिक श्रुतिकालीन वाग्दोष-धारणा के कुछ निदर्शन दूसरे अध्याय में दिये जा चुके हैं।^६ 'धर्मसूत्रों' की रचना से वाणी की नैतिक पवित्रता को और भी बल मिला। असत्य, असभ्य, कटु एवं अशोभन उक्तियों से बचने की सावधानता धर्म-शास्त्र से बहुत प्रचारित हुई। इस शास्त्र की वाग्दोष-धारणा का भी काव्यदोषों की उत्पत्ति-प्रक्रिया में योगदान स्पष्ट है। भरत के 'मित्रार्थ' तथा भामह के 'श्रुतिदुष्ट', 'अर्थदुष्ट'^७ दोषों की परम्परा इन आचार्यों से पुरानी रही है और इनकी कल्पना के पीछे आचार-शास्त्र की प्रेरणा स्पष्ट है।

वाग्दोष-धारणा का एक अन्य मुख्य स्वरूप 'न्याय' में प्रतिपादित वाक्यार्थ-दोषों में प्राप्य है। उपर्युक्त शास्त्रों की अपेक्षा इस शास्त्र की दोष-धारणा अधिक सूक्ष्म एवं

१. जैसे 'वंशस्थ' (पिंगलच्छन्दःसूत्र, पृ० १४१), 'द्रुतविलम्बित'—वही, पृ० १४२।

२. देखिए, 'हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर' —सी० व्ही० वैद्य।

३. 'पिंगलच्छन्दसूत्रम्' ४।३५, पृ० ७१ तथा ५।१०, पृ० ९५।

४. देखिए इस पुस्तक की पृष्ठ २१ की पाद-टिप्पणी-संख्या २।

५. 'वृत्तदोषो भवेद्यत्र विषमं नाम तद्भवेत्।'—नाट्यशास्त्र, १६।८९, काव्यमाला-संस्करण।

६. देखिए, इसी पुस्तक के पृष्ठ १६ की पाद-टिप्पणी-संख्या २, ३।

७. 'मित्रार्थमभिज्ञेयमसम्यं ग्राम्यमेव च।' —'नाट्यशास्त्र', १६।८६, पृ० १७५।

८. "हिरण्यरेताः सम्बाधः पेलवोपस्थिताण्डजाः।

वाक्काट्वाद्यश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः।—काव्यालंकारः भामह, १।४९।

९. 'अर्थदुष्टं पुनर्ज्ञेयं यत्रोक्ते जायते मतिः।

असम्यक्स्तुविषया शब्दस्तद्वाचिभिर्यथा ॥'

—वही, १।५०।

आभ्यन्तरिक है। यहाँ शब्दतत्त्व पर नहीं, अर्थतत्त्व पर ध्यान रखा गया है। यों तो गौतम-कृत 'न्यायसूत्र' बाद की रचना है,^१ किन्तु इस विषय के ग्रन्थों की परम्परा बहुत पुरानी है, जैन-बौद्ध तर्क-ग्रन्थों से भी प्राचीनतर। 'न्याय' के विषयों का विवेचन श्रुतिकाल से ही होता रहा। इसके अंगों का विकास दार्शनिक तत्त्वनिरूपण और विवादों के माध्यम से हुआ है और इस प्रकार के तत्त्वनिरूपण और विवादों का इतिहास उपनिषदों से स्पष्ट होता है। उनमें शिष्य-गुरु-संवाद के रूप में 'अध्यात्म'-प्रतिपादन तो उपलब्ध है ही, राजदरबारों में ऋषियों के विवाद एवं पुरस्कार-स्वरूप गाय पाने की कथा मिलती है।^२ 'न्याय'-संबंधी विषयों का छिटपुट संकेत 'महाभारत',^३ 'चरकसंहिता'^४ आदि में भी देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि 'न्याय' के ग्रन्थ 'न्यायसूत्र' के रचनाकाल से पहले भी रचे गये होंगे, जो 'न्यायसूत्र' की सामासिकता के कारण विस्मृत हो गये।

'चरकसंहिता' के 'विमानस्थान' में वाक्यदोषों, हेत्वाभासों तथा विविध निग्रह-स्थानों का वर्णन विस्तार से प्राप्त है। श्रीसुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने आयुर्वेद की पुस्तक में 'न्याय' के प्रवेश का समाधान यह दिया है कि रोग-लक्षण की स्थापना के क्रम में वैद्यों के विवाद द्वारा तर्क के विविध अंगों का विकास हुआ और इसी कारण महर्षि चरक ने वैद्यों के लिए इन अंगों की जानकारी आवश्यक समझ अपनी पुस्तक में इन्हें स्थान दिया।^५ 'चरक-संहिता' में अर्थ की त्रुटियों को 'वाक्यदोष' के रूप में स्थान दिया गया है।^६ 'न्यून', 'अधिक',

१. "The Nyayasutra of Akshapada contains expressions which seem to have been borrowed from Lankāvatarsutra and the regulations of Buddhistic idealism and hence it is generally believed to have been composed in the second or the third century A. D."

—S. N. Dasgupta : History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 398.

२. देखिए, बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय अध्याय, प्रथम ब्राह्मण, पृ० ६०९-११।
३. देखिए, महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३२०।
४. देखिए, 'चरकसंहिता', विमानस्थान।
५. "...These logical discussions seem to be inextricably connected with medical discussions of diagnosis of diseases and the ascertainment of their causes."

—Surendranath Dasgupta : History of Indian Philosophy, Vol. II, p. 399.

६. 'वाक्यदोषो यथा... नैतानि विना प्रकृतोऽर्थः प्रणश्येत्।

—चरकसंहिता, विमानस्थान, अध्याय ८, पृ० ११७४।

‘अनर्थक’, ‘अपार्थक’ एवं ‘विरुद्ध’ नामक जिन पाँच वाक्यदोषों की यहाँ चर्चा है, वे सभी काव्यदोषों के रूप में आगे चलकर स्वीकृत हुए हैं। ‘न्यून’ का उल्लेख रुद्रट ने किया है।^१ ‘अधिक’ काव्यशास्त्रियों का ‘पुनरुक्त’ या ‘एकार्थ’ है।^२ ‘अनर्थक’ नामतः वामन द्वारा गृहीत है, पर लक्षण में थोड़ा अन्तर है।^३ ‘अपार्थक’ भामह के ‘काव्यालंकार’ में यथावत् स्वीकृत है।^४ ‘विरुद्ध’ दृष्टान्तसिद्धान्त समयविरुद्ध को कहा गया है।^५ भामह ने इसे भी ग्रहण किया है। ‘लोकागम न्यायकलाविरुद्ध’ नामक उनके दोषों से यह स्पष्ट है। इसके अलावा ‘चरकसंहिता’ में वर्णित ‘निग्रहस्थानों’ में ‘प्रतिज्ञा-हानि’, ‘व्यर्थ’, ‘पुनरुक्त’ तथा ‘अर्थान्तर’ ने काव्यशास्त्रीय दोषों के क्षेत्र में नामतः या लक्षणतः या उभयतः स्थान पाया है।^६

‘न्यायसूत्र’ में शब्दप्रमाण के प्रसंग में उल्लिखित ‘अनृत’, ‘व्याघात’ तथा ‘पुनरुक्त’ नामक दोषों में से अन्तिम दो संस्कृत-काव्यशास्त्र में दोष-स्वरूप स्वीकृत हैं। ‘व्याघात’ भामह का ‘व्यर्थ’ है^७ और ‘पुनरुक्त’ भोजराज द्वारा ‘पुनरुक्तिम्’ के रूप में गृहीत है।^८

१. ‘खल्वस्मिन् अर्थे न्यूनमधिकमनर्थमपार्थकं विरुद्धं चेति।’ —अही, पृ० ११७४।

२. “अन्यनाधिकवाचकसुकमपुष्टार्थं शब्दचारुपदम्।

क्षोदक्षममधुर्णं सुमतिर्वाक्यं प्रयुञ्जीत ॥’ —रुद्रट : काव्यालंकार, २।८, पृ० ११।

३. तुल० ‘प्रतिसम्बद्धार्थमपिद्विरभिधीयते तत्पुनरुक्तत्वाधिकं।’

—चरकसंहिता, विमानस्थान, अध्याय ८, पृ० ११७५ की ‘एकार्थस्याभिधानं यत्तदेकार्थमितिसमृतम्।’ —नाट्यशास्त्र १६।८८, पृ० १७६ से।

४. तुल० ‘अनर्थकं नाम यद्वचनक्षरग्राममात्रमेव स्यात्पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते।’ —चरकसंहिता, पृ० ११७६; ‘पूरणार्थमनर्थकं।’ —वामनकृत काव्यालंकारसूत्र २।१९ से।

५. तुल० ‘अपार्थकं नाम यदर्थवच्च परस्परं चायुज्यमानार्थकं यथाचक्रनक्रवंशवच्च-निशाकरा इति।’ —चरकसंहिता, पृ० ११७६ की ‘समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थकमिव्यते।’

तद् ‘वाङ्मनि दशापूपाः षडित्यादि यथोदितम्।’ —भामह : काव्यालंकार ४।८।

६. विरुद्धं नाम यद्दृष्टान्तसिद्धान्तसमयविरुद्धं। —चरकसंहिता, पृ० ११७७।

७. देखिए, भामह-कृत ‘काव्यालंकार’, ४।४५—४७।

८. (क) ‘प्रतिज्ञाहानि’ —भामह-कृत काव्यालंकार (४।२) में द्रष्टव्य।

(ख) ‘व्यर्थ’ (४।१), तत्रैव।

(ग) ‘पुनरुक्त’, भोजराज-कृत ‘सरस्वती-कण्ठभरण’, पृ० १९।

(घ) ‘अर्थान्तर’, ‘नाट्यशास्त्र’, १६।८५, पृ० १७५, काव्यमाला-संस्करण।

९. देखिए, इसी पुस्तक के पृ० २३ की पाद-टिप्पणी-संख्या ५।

१०. ‘विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं...पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकं यथा।’

—काव्यालंकार, ४।९।

११. देखिए, ‘सरस्वती-कण्ठभरण’, पृ० १९।

इसी प्रकार 'न्यायसूत्र' के निग्रह-स्थानों में वर्णित 'अर्थान्तर', 'निरर्थक', 'अपार्थक', 'पुनरुक्त', 'न्यून' तथा 'अधिक' काव्यदोषों के रूप में स्वीकृत हुए हैं, यह 'चरकसंहिता' के निग्रह-स्थानों के प्रकरण में ऊपर निवेदित हो चुका है। 'न्यायसूत्र' में एक नवीन निग्रह-स्थान 'अविज्ञातार्थ' है, जिसकी सत्ता के अन्य कई कारणों में से एक है अस्पष्ट शब्दों का प्रयोग।^१ मामह ने इसी को 'गूढ़ शब्दाभिधान' कहा है।^२

वाग्दोषों के उपर्युक्त पक्षों का विकास जहाँ विविध शास्त्रों के माध्यम से हो रहा था, वहाँ उनका एक सामूहिक सम्मिश्रित स्वरूप भी विद्वन्मंडली के बीच सामान्य वाणी के दोष के रूप में स्वीकृत था, यह 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' में प्राप्य 'सुलभा-जनक-संवाद' से समर्थित है। उक्त संवाद में वाणी और बुद्धि के अट्टारह गुणों और दोषों की चर्चा है। महाभारत के इस प्रसंग में वर्णित अट्टारह दोष इस प्रकार हैं—'अपेतार्थ', 'मिन्नार्थ', 'न्याय-विरुद्ध', 'अधिक', 'अश्लक्ष्ण', 'सन्दिग्ध', 'गुर्वक्षर', 'पराङ्मुखपद', 'अनृत', 'त्रिवर्ग-विरुद्ध', 'असंस्कृत', 'न्यून', 'कष्ट शब्द', 'विक्रम', 'शेष', 'निष्कारण' और 'अहेतुक'।^३ इन दोषों में 'त्रिवर्ग-विरुद्ध' और 'अनृत' के पीछे नैतिक-धार्मिक चेतना है, 'असंस्कृत' 'व्याकरण-विरुद्ध', असभ्य, अश्लील, ग्राम्य में से कोई हो सकता है। 'अपेतार्थ', 'मिन्नार्थ', 'न्यायविरुद्ध', 'अधिक', 'सन्दिग्ध', 'न्यून', 'विक्रम', 'निष्कारण' और 'अहेतुक' न्याय-सम्बन्धी दोष हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि जिन शास्त्रों की वाग्दोष-धारणा का उल्लेख ऊपर हुआ है, उनका प्रभाव तो 'महाभारत' के उक्त दोष-विवरण में द्रष्टव्य है ही, विशुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि से कल्पित वाग्दोषों की भी स्थिति वहाँ 'गुर्वक्षर', 'अश्लक्ष्ण' तथा 'कष्टशब्द' जैसे दोषों के रूप में देखी जा सकती है। ऐसे दोषों की कल्पना और उनके अधिकाधिक विकास ने सामान्य वाग्दोषों से काव्यदोषों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने में सहायता की होगी, यह सहज अनुमेय है। 'महाभारत' के

१. 'यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीत-प्रयोगमतिद्रुतोच्चरितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातम्।'।

—न्यायसूत्र, वात्स्यायन-भाष्य, पृ० ३१४।

२. देखिए, मामह-कृत काव्यालंकार, १।४५।
३. "उपेतार्थमभिन्नार्थं न्यायवृत्तं न चाधिकम्।
नाश्लक्ष्णं न च संदग्धं वक्ष्यामि परमं ततः॥
न गुर्वक्षरसंयुक्तं पराङ्मुखं सुखं न च।
नानृतं न त्रिवर्गेण विरुद्धं नाप्यसंस्कृतम्॥
न न्यूनं कष्टशब्दं वा विक्रमाभिहितं न च।
न शेषमनुकल्पेन निष्कारणमहेतुकम्॥"

—महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३२०, श्लोक-संख्या ८७-८९।

उक्त अट्टारह दोषों में 'भिन्नार्थ', 'न्यायविरुद्ध', 'अधिक', 'विक्रम', 'सन्दिग्ध', 'असंस्कृत', 'न्यून' तथा 'कष्टशब्द' काव्यशास्त्रीय दोषों के बीच किसी-न-किसी रूप में स्वीकृत हैं।^१

ऐसे ही कुछ दोषों को कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में लेखदोषों के नाम से उपस्थित किया है। ये लेख-दोष पाँच हैं—'अकान्ति', 'व्याघात', 'पुनरुक्त', 'अपशब्द' तथा 'सम्प्लव'। प्रथम का सम्बन्ध लिपि की असुन्दरता से है^२ और इस कारण इसे विशुद्ध लेख-दोष मानना चाहिए। पूर्वापरविरुद्ध कथन को 'व्याघात' कहा गया है।^३ यह न्याय-सम्बन्धी वाक्यदोष है, जिसे काव्यशास्त्र में 'व्यर्थ' के नाम से भामह द्वारा स्थान मिला है।^४ 'पुनरुक्त' भी काव्य-दोष के रूप में स्वीकृत हुआ है, यह ऊपर निवेदित हो चुका है। 'अपशब्द' व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों में होता है।^५ भरत ने इसी को 'शब्दहीन' नाम से स्थान दिया है।^६ 'सम्प्लव' की व्याख्या पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। अवर्ग में वर्गीकरण और वर्ग में अवर्गीकरण को तथा गुणों के विपर्यास को 'सम्प्लव' कहा गया है।^७ लक्षण के द्वितीय अंश के स्पष्टीकरण में कठिनाता नहीं है। 'अर्थशास्त्र' में लेख-गुणों की दी गई परिभाषा के आधार पर उनके विपर्यय का

१. (क) 'भिन्नार्थ' — 'नाट्यशास्त्र', १६।८६, काव्यमाला-सं०, पृ० १७५।
- (ख) 'न्यायविरुद्ध' — भामह-कृत 'काव्यालंकार', ४।२।
- (ग) 'अधिक' — ह्रदट-कृत 'काव्यालंकार', २।८।
- (घ) 'विक्रम' — 'अक्रम' के रूप में मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश', पृ० २२५ में।
- (ङ) 'सन्दिग्ध' — 'संशय' के रूप में भामह-कृत 'काव्यालंकार', ४।१८ में।
- (च) 'अस्कृत' — 'च्युतसंस्कृति' के रूप में मम्मट-कृत 'काव्यप्रकाश', ७।५० में।
- (छ) 'न्यून' — ह्रदट-कृत 'काव्यालंकार', २।८ में।
- (ज) 'कष्टशब्द' — 'श्रुतिकष्ट' के रूप में भामह-कृत 'काव्यालंकार', १।५३ में।
२. 'अकान्तिर्व्याघातः पुनरुक्तमपशब्दः सम्प्लव इति लेखदोषाः।' — कौटिल्य-कृत 'अर्थशास्त्र', २।२८।१०।५९, पृ० १५३।
३. 'तत्र कालपत्रकमचारविषमविरागाक्षरत्वमकान्तिः।' — वही, २।२८।१०।६०।
४. 'पूर्वोपपन्नमस्यानुपपत्तिर्व्याघातः।' — वही, २।२८।१०।६१।
५. देखिए, पृष्ठ ३१ की पाद-टिप्पणी-संख्या १०।
६. 'लिङ्ग वचनकालकारकाणामन्यथाप्रयोगोऽपशब्दः।' — कौटिल्य-कृत 'अर्थशास्त्र', २।२८।१०।६३।
७. देखिए, 'नाट्यशास्त्र', १६।९०, पृ० १७६ काव्यमाला-संस्करण।
८. 'अवर्गो वर्गकरणं वर्गं चापि क्रियागुणविपर्यासः सम्प्लव इति।' — कौटिल्य-कृत 'अर्थशास्त्र', २।२८।१०।६४।

संकेत पाया जा सकता है। 'अर्थक्रम' का विपर्यय 'अपक्रम' होगा,^१ जिसे भामह ने दोष-रूप में स्वीकार किया है।^२ 'सम्बन्ध' का विपर्यय 'व्याघात' है,^३ जिसे 'व्यर्थ' नाम से भामह ने प्रतिपादित किया है।^४ परिपूर्णता का विपर्यय 'न्यूनता' और 'आधिक्य' नामक दोष होंगे,^५ जिन्हें रुद्रट ने स्थान दिया है।^६ 'प्रतिज्ञाहेतुदाहरणहीनता' भी इसका विपर्यय होगी, जो भामह द्वारा दोष-स्वरूप वर्णित है।^७ 'माधुर्य' का विपर्यय 'अचास्त्व' तथा 'औदार्य' का विपर्यय 'ग्राम्य' है,^८ जिसे वामन ने ग्रहण किया है।^९ 'स्पष्टत्व' का विपर्यय अप्रतीत है,^{१०} जिसे वामन ने शास्त्रमात्र प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग में दोष-स्वरूप माना है।^{११} 'सम्प्लव' के लक्षण का पूर्व अंश अस्पष्ट है। 'जयमंगल'-टीका में 'वर्ग' का अर्थ 'समास' किया गया है।^{१२} 'प्रतिपदपञ्चिका' (भट्टस्वामिकृत) नामक टीका में इसका अर्थ 'विराम' है।^{१३} प्रथम अर्थ अपेक्षया अधिक संगत प्रतीत होता है।

महाभारत के वाणी-दोषों और 'अर्थशास्त्र' के लेखदोषों में काव्यदोषों की भी गणना है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है। सिद्ध है कि इन ग्रन्थों के प्रणयन के पूर्वकाल से ही

१. 'तत्र यथावदनुपूर्वक्रियाप्रधानस्यार्थस्य पूर्वमभिनवेश इत्यर्थस्य क्रमः।'

—वही, २।२८।१०।१९, पृ० १४७।

२. 'यदपेतं विपर्ययादित्याख्यातमपक्रमम्।' —भामह-कृत 'काव्यालंकार', ४।२०।

३. 'प्रस्तुतस्यानुरोधादुत्तरस्यविधानमासमाप्तेरिति सम्बन्धः।' —कौटिल्य-कृत 'अर्थशास्त्र', २।२८।१०।१०, पृ० १४७

४. "विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते।

पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा।" —भामह-कृत 'काव्यालंकार', ४।९।

५. "अर्थपदाक्षराणामन्यूनान्तिरिक्तता हेतुदाहरणदृष्टान्तरर्थो च वर्णनां कान्त पदतेति परिपूर्णता।" —कौटिल्य : अर्थशास्त्र, २।२८।१०।११।

६. "अन्यूनाधिकवाचकसुकुसुष्ठुशब्दचारुपदम्।

क्षोदक्षममक्षुण्णं सुमतिर्वर्ण्यं प्रयुञ्जीत॥" —रुद्रट-कृत 'काव्यालंकार', २।८।

७. 'प्रतिज्ञा हेतुदृष्टान्तं हीनं दुष्टं च नेष्यते। —भामह-कृत 'काव्यालंकार', ४।२।

८. 'सुखोपनीतचार्वर्थशब्दाभिधानं माधुर्यम्।' —कौटिल्य : 'अर्थशास्त्र', २।२८।१०।१२।

९. 'अग्राम्यशब्दाभिधानमौदार्यम्।' —वही, २।२८।१०।१३।

१०. 'लोकप्रयुक्तमात्रं ग्राम्यम्।' —वामन-कृत 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति', २।१७।

११. 'प्रतीतशब्दप्रयोगः स्पष्टत्वमिति।' —कौटिल्य : 'अर्थशास्त्र', २।२८।१०।१४।

१२. 'शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम्।' —वही, २।२८।१०।१५।

१३. 'वर्गः समास इत्यर्थः।' —कौटिल्य : अर्थशास्त्र की जयमंगला टीका।

—डा० ह्री० राघवन-कृत 'भोज्स शृंगार-प्रकाश', पृ० २२५ में उद्धृत।

१४. उपरिवत्।

काव्यगुण-दोष-परीक्षण आरम्भ हो चुका था। तथापि काव्यदोषों का स्वतन्त्र महत्त्व इस काल के शास्त्रज्ञों के समक्ष पूर्णतः स्पष्ट नहीं था। इसके दुहरे कारण हैं। एक तो गुणात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियों की प्रचुर मात्रा में रचना अबतक न हो सकी थी, यद्यपि वाल्मीकीय रामायण की लोकप्रियता इसके लिए अनुकूल प्रेरणा दे रही थी; दूसरे, ज्ञान की अन्य शाखाओं के ग्रन्थों की पद्यबद्धता और उनमें प्राप्य यत्र-तत्र काव्यात्मकता स्वतन्त्र विधा के रूप में काव्य की प्रतिष्ठा में बाधक थी। काव्यदोषों के सामूहिक वाग्दोषों में समाविष्ट रहने का यही कारण है।

भारतीय काव्यशास्त्र के उद्भव पर विचार करते हुए देखा जा चुका है कि उसका व्यवस्थित आरम्भ ईसा-पूर्व चार शताब्दियों की घटना है।^१ महाभारत का 'रचनाकाल भी अधिकांश विद्वानों द्वारा ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व माना गया है,^२ यद्यपि परवर्तीकाल में प्रक्षेप की सम्भावना स्वीकार की गई है।^३ कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' का रचनाकाल भी ईसा-पूर्व चौथी शती है।^४ स्पष्ट है कि इन ग्रन्थों के निर्माण के आसपास काव्यशास्त्रीय प्रयास शुरू थे। गुण-दोष-विवेचन समीक्षा का आरम्भिक रूप है। भारतीय काव्यशास्त्र के आरम्भिक काल में ही दोष-विवेचन की प्रमुखता स्वाभाविक थी। काव्यदोषों का आरम्भिक स्वरूप जहाँ 'व्याकरण', 'छन्दस्', 'न्याय' जैसे शास्त्रों की वाग्दोष-धारणा से अधिक प्रभावित है, वहाँ उसका स्वतन्त्र निर्माण भी मनुष्य की सहज सौन्दर्य-दृष्टि की अपेक्षा से हुआ है। 'महाभारत' में ऐसे कुछ दोषों की चर्चा है, यह पीछे निवेदित हो चुका है।^५ कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी 'माधुर्य' नामक लेख-गुण का विपर्यय 'अचास्त्व' तथा 'औदार्य' का विपर्यय 'ग्राम्य' ऐसे ही दोषों के उदाहरण हैं। ऐसे दोषों के संस्था-विस्तार से काव्य-दोषों का स्वतन्त्र महत्त्व प्रतिष्ठित हुआ होगा और उनके आरम्भिक शास्त्रीय प्रतिपादन में इनका स्थान भी रहा होगा। दूसरी ओर जिस प्रकार 'संकेत-ग्रह', 'शब्दशक्ति' आदि पर काव्यशास्त्रेतर पुस्तकों में प्राप्य विचारों

१. देखिए, इसी पुस्तक के प्रथम अध्याय का छठा अनुच्छेद।

२. "इस हिसाब से 'महाभारत' का रचनाकाल शक-संवत् ५०० वर्ष पूर्व ठहरता है। यही मत शंकर बालकृष्ण दीक्षित का भी है।"—वाचस्पति गैरोला, 'संस्कृत-साहित्य का इतिहास', पृ० २५८।

३. देखिए, विण्टरनिट्स : 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर', वाल्यूम १, पृ० ३१८। ३२०

४. "कौटिल्यो नाम ब्राह्मणः क्रिस्ताब्दारम्भात्पूर्ववत्सराणी चतुर्थे शतके नन्दवंशमुन्मूल्य चन्द्रगुप्तमभिषेचेति विष्णुपुराणात् ज्ञायते।...कौटिल्यः इदं षट्सहस्र-ग्रन्थपरिमितमर्थशास्त्रं प्रणिनायेति...दशकुमारचरितादपि स्पष्टमाकल्यते।"

—आर० शामशास्त्री: 'कौटिलीयार्थशास्त्रम्', पृ० १३।

५. देखिए, इसी अध्याय का पृ० ३२।

का उपयोग भारतीय काव्यशास्त्र में हुआ, उसी प्रकार उनमें प्राप्य दोष-विवेचन भी उसमें गृहीत हुआ। 'महाभारत', 'न्यायसूत्र' आदि ग्रन्थों का दोष-विवेचन काव्यशास्त्र के परवर्त्ती ग्रन्थों में किस प्रकार स्थान प्राप्त किये हुए है, यह देखा जा चुका है।^१ काव्यशास्त्र की आरम्भिक पुस्तकों में भी उनका स्थान रहा होगा, यह सहज अनुमेय है। काव्यदोषों का पृथक् प्रतिपादन करनेवाली काव्यशास्त्रीय पुस्तकों की रचना कौटिल्य-कृत 'अर्थशास्त्र' के निकटवर्त्ती परवर्त्ती काल में अवश्य हुई होगी, पर वे लुप्त हो गईं। किन्तु सामान्य वाग्दोष-धारणा में बीज-रूप में विद्यमान काव्यदोषों का काव्यशास्त्रीय क्षेत्र में अंकुरित होने का क्रम भारतीय वाङ्मय में स्पष्टतया परिलक्षित है।



१. देखिए, इसी अध्याय के पृ० ३२ और ३३।

चतुर्थ अध्याय

दोषाधिकारी-निर्णय

भारतीय काव्यशास्त्र की उत्पत्ति पर विचार करते समय राजशेखर-कृत 'काव्यमीमांसा' में वर्णित कथा की चर्चा हो चुकी है।^१ उसी कथा में यह उल्लेख हुआ है कि दोषाधिकरण की रचना 'धिपण' ने की।^२ प्रस्तुत अध्याय में राजशेखर के इस उल्लेख की छानबीन करते हुए दोषाधिकारी-निर्णय का प्रयास है।

'अमरकोश' में 'धिपण' शब्द देवगुरु बृहस्पति का पर्याय है।^३ पर बृहस्पति को दोषाचार्य मानने का समर्थन अन्य किसी काव्यशास्त्रीय उल्लेख से नहीं होता। तो क्या हम 'धिपण' को दोषाचार्य मानने की बात को विशुद्ध कल्पना मान लें? इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व 'धिपण' शब्द के प्राचीन वाङ्मय में उल्लेख एवं अर्थ का अनुसन्धान आवश्यक है।

'ऋग्वेद' में 'धिपणा' ('धिपण' का स्त्रीलिंग रूप) का उल्लेख कई स्थलों पर प्राप्य है।^४ सायण ने इनमें से एक स्थल का भाष्य करते हुए 'धिधणा' का अर्थ 'माध्यमिका वाक्' किया है।^५ एक दूसरे स्थल पर उसका अर्थ सायण-भाष्य में 'मन्त्ररूपा वाक्' किया गया है।^६ इससे 'धिपण' शब्द के बुद्धि के आचार्य बृहस्पति का पर्याय होने की अर्थ-परम्परा स्पष्ट हो जाती है, पर दोष-विचार के साथ 'धिपण' का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता।

अथर्ववेद में 'धिपण' के द्वितीया विभक्तियुक्त रूप 'धिपणम्' का प्रयोग मिलता है।^७ यह उल्लेख प्रस्तुत प्रसंग की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। यहाँ 'धिपण' एक पापग्रह की

१. देखिए, इसी पुस्तक के प्रथम अध्याय का प्रथम अनुच्छेद।
२. 'दोषाधिकरणं धिपणः।' —काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय, पृ० १।
३. 'बृहस्पतिः सुराचार्यो गोष्पतिर्धिपणो गुरुः।' —अमरकोश, १।३२४।
४. (क) 'आपश्च मित्रं धिपणा च।' —ऋग्वेद, १।९६।१।
(ख) 'युवाभ्यां देवी धिपणा।' —वही, १।१०२।७।
५. 'धिपणा च या माध्यमिका वाक् सा च।' —सायणभाष्य ऋग्वेद, पृ० ४३२।
६. 'धिपणा मन्त्ररूपा वाक्।' —वही, पृ० ४७७।
७. 'निः सालाम् । धृष्णुम् । धिपणम् ।' —अथर्ववेद, २।१४।१, खण्ड १।

संज्ञा है।^१ किसी पापग्रह का नाम धिषण किस प्रकार हुआ, इसकी व्याख्या भी संहिताओं और ब्राह्मणों के कुछ उल्लेखों से हो जाती है। प्राचीनतम उपलब्ध ब्राह्मण 'शतपथ ब्राह्मण' में पेषणीयतण्डुल धारणाद्धिषणा ऐसी व्याख्या है।^२ तैत्तिरीय संहिता में 'कूटने-पीसने' और 'चोट देने' के अर्थ में 'धृप्' या 'धिप्' धातु से 'धिषण', 'धिषणे' जैसे शब्द बनकर प्रयुक्त हुए हैं।^३ अथर्ववेद के जिस उल्लेख की बात ऊपर कही गई है, वहाँ भी 'धिषण' की व्युत्पत्ति बताते हुए सायण ने घृष्णोति अभिभवतीति धिषणः लिखा है।^४ इससे प्रतीत होता है कि 'अभिभव करने' या 'पराभव करने' का 'धृप्' से जो अर्थ लिया गया है, वह उसका कूटने-पीसने की क्रियाओं में चोट देने या तकलीफ देने के भाव को लक्ष्य करके ही। कोई पापग्रह भी तो हमें दण्ड देकर चोट या तकलीफ ही पहुँचाता है। इस प्रकार, 'धिषण' की पापग्रह-रूप में कल्पना की व्याख्या संगत ही है।

प्रश्न है कि दोष का 'धिषण' नामक पापग्रह से क्या सम्बन्ध हो सकता है? बात स्पष्ट है। पापग्रह की दृष्टि दोषपूर्ण होती है, उसके पड़ने से दोष लग जाता है या अनिष्ट होता है, ये विश्वास पौराणिक मनुष्यों के लिए नवीन नहीं। अतः, पापग्रह के रूप में कल्पित 'धिषण' को दोष के साथ सम्बद्ध कर देना उनके लिए स्वाभाविक था। सम्भव है, इस सम्बन्ध का प्रभाव परवर्ती काल में यह हुआ हो कि किसी दोष-विवेचक को उसकी दोष-दृष्टि के उपहार-स्वरूप 'धिषण' उपनाम मिल गया हो और राजशेखर के समय तक यह अनुश्रुति के रूप में पण्डित-समाज में प्रचलित हो, जिससे राजशेखर ने दोषाधिकारी के रूप में 'धिषण' का उल्लेख कर दिया हो। यदि यह आशंका की जाय कि फिर देवगुरु बृहस्पति को 'धिषण' कैसे माना गया, तो इसका उत्तर यह है कि दो विभिन्न स्रोतों से (ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में जिनका रूप स्पष्ट है) 'धिषण' की अर्थ-परम्परा विकसित हो रही थी और अन्त में किसी युग में वह मिल गई। यदि देवतावाची 'असुर' शब्द बाद में राक्षसवाची हो सकता है, तो 'धिषण' का यह अर्थ-संघटन असम्भव क्यों माना जाय? निष्कर्ष यह कि किसी दोषाचार्य के उपनाम के रूप में 'धिषण' का प्रयोग 'दोषाधिकारी धिषण' की अनुश्रुति बनकर, सम्भव है, राजशेखर के समय तक प्रचलित हो और राजशेखर ने उसे ही अपनी काव्यमीमांसा में स्थान दिया हो। 'धिषण' की ऐतिहासिक सत्ता के सम्बन्ध में इस अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। हो सकता है, आगे प्रकाश में आने-वाली शोध-सामग्री इसे तथ्यपूर्ण भी सिद्ध कर दे।

● ●

१. 'धिषणम्। घृष्णोति अभिभवतीति धिषणः। एतन्नामानं पापग्रहम्।'

—बड़ी, सायणभाष्य, पृ० २६०।

२. देखिए, शतपथब्राह्मण, काण्ड १, प्रपाठक १, ब्राह्मण ५, अ० २।

३. देखिए, तैत्तिरीय संहिता, खण्ड २, पृ० ७१, भट्ट भास्कर की टीका।

४. अथर्ववेद, सायणभाष्य, पृ० २६०।

पंचम अध्याय

काव्यदोष की स्वरूप-धारणा का विकास

नाट्यशास्त्र

‘नाट्यशास्त्र’ में दोष-प्रकारों का तो उल्लेख मिलता है, पर दोष के सामान्य स्वरूप का स्पष्ट निर्देश नहीं हुआ है। हाँ, गुण-प्रतिपादन से पूर्व उनकी दोष-विपर्यय के रूप में परिभाषा दी गई है। इससे संकेत मिलता है कि ‘नाट्यशास्त्र’ में दोष की भावात्मक सत्ता स्वीकार की गई है। पर, जहाँ एक वस्तु को दूसरी का विपर्यय कहा जाय, वहाँ उस दूसरी वस्तु का स्वरूप निश्चित किया जाना चाहिए, अन्यथा दोनों में किसी का स्वरूप-ज्ञान सम्भव नहीं होता। ‘नाट्यशास्त्र’ में गुण या दोष में से किसी का विधेयात्मक रूप से लक्षण-निरूपण नहीं हुआ है। जहाँ तक दोष-गुण में विपर्ययात्मक सम्बन्ध की बात है, यह ‘नाट्यशास्त्र’ की सर्वथा नवीन कल्पना नहीं है। कौटिलीय ‘अर्थशास्त्र’ में गुण-दोष का विपर्ययात्मक सम्बन्ध उल्लिखित है। वहाँ जिन पाँच लेखदोषों का प्रतिपादन हुआ है, उनमें ‘सम्प्लव’ की परिभाषा में कहा गया है कि गुणों के विपर्यय को भी ‘सम्प्लव’ कहते हैं।^१ ‘नाट्यशास्त्र’ में इसके विलोम मन्तव्य उपस्थित किया गया है।

‘नाट्यशास्त्र’ के दूसरे स्थल पर वर्णित दोषों को घातस्थानानि काव्यस्य कहा गया है।^२ पर इस ‘घात’ का अर्थ ‘विनाश’ है या अपकर्ष, यह स्पष्ट नहीं किया गया है। तथापि इस स्थल पर दोष के स्वरूप-निर्देश का प्रयास अवश्य है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

यद्यपि इस पुराण में स्पष्टतया दोष का लक्षण-निरूपण नहीं हुआ है, तथापि एक

१. “एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटिकाभ्याः।

एत एव विपर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्त्तिताः॥”

—‘नाट्यशास्त्र’, १६।९५, काव्यमाला-संस्करण।

२. ‘अवर्गे वर्गकरणं वर्गेचावर्गक्रिया गुणविपर्यासः सम्प्लव इति।’

—कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।२८।१०।६४।

३. ‘एतानि यथास्थूलं घातस्थानानि काव्यस्य।’

—‘नाट्यशास्त्र’ २७।३१, काव्यमाला संस्करण।

दोष के प्रसंग में पुराणकार की दोष-धारणा का स्वरूप स्पष्ट हो गया है। 'अश्लीलबन्ध' काव्य के सम्बन्ध में पुराणकार का मन्तव्य है कि ऐसा काव्य राज्ञों के लिए सुखद नहीं होता, उद्वेजनीय होता है।^१ यहाँ सहृदय पर पड़नेवाले दोष-प्रभाव का निरूपण है। दोष काव्यानन्द के बाधक ही नहीं, उद्वेगकारक भी होते हैं, यह पुराणकार का मन्तव्य है।

भामह

भामह ने दोष का लक्षण तो नहीं दिया है, पर प्रकारान्तर से इस जिज्ञासा के सम्बन्ध में अपनी राय व्यक्त कर दी है कि दोष काव्यत्व का नाश करते हैं या अपकर्ष। उन्होंने दुष्ट काव्य-निर्माण को अकवित्व नहीं कहकर 'कुक्कित्व' कहा है, जिसे वे कवि की साक्षात् मृति मानते हैं।^२ दोष-वर्ज्यता के सम्बन्ध में भामह बड़े कठोर दिखाई पड़ते हैं। एक अवयव पद के कथन को भी वे क्षम्य नहीं मानते; चूँकि ऐसे अशोभन काव्य से उसी प्रकार निन्दा हाथ लगती है, जिस प्रकार दुष्ट पुत्र की उत्पत्ति से।^३

दण्डी

भामह की तरह दण्डी भी दोष-लक्षण-निर्धारण से विरत रहे हैं। तथापि दोष के सम्बन्ध में कुछ प्रासंगिक विचार उन्होंने व्यक्त किये हैं। उपमा-दोषों के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि जहाँ धीमानों को उद्वेग न हो, वहाँ उपमा के दोष दोष नहीं होते।^४ इस प्रकार, सहृदयोद्वेजनीयता के रूप में दोष का महत्त्व दण्डी को भी विष्णुधर्मोत्तरकार की तरह मान्य है। गुण-दोष के विपर्ययात्मक सम्बन्ध और उनकी भावात्मक-अभावात्मक सत्ता के सम्बन्ध में भी दण्डी का मत जाना जा सकता है। वे सभी दोषों को गुणों का विपर्यय नहीं मानते। उनके दोषों के दो वर्ग स्पष्ट हैं। एक वर्ग में भामह-मान्य अपार्थादि दस दोष आते हैं। दण्डी इनकी भावात्मक सत्ता मानते हैं, इन्हें गुण-विपर्यय-मात्र नहीं मानते। दूसरा वर्ग ऐसे दोषों का है, जिन्हें वे गुण-विपर्ययात्मक दोष कहते हैं। श्लेषप्रसादादि दस गुणों की चर्चा के

१. 'उद्वेजनीयं तु सतां तदुक्तमश्लीलबन्धं सुखदं न काव्यम्।'।

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृ० खण्ड, १५।१५।

२. 'कुक्कित्वं पुनः साक्षान्मृतिर्मातृः मनीषिणः।'—भामह-कृत 'काव्यालंकार' १।१२।

३. 'सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।

विलक्ष्मणाहि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥'

—वही, १।११।

४. "न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।

उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥"

—भामह-कृत 'काव्यालंकार' २।५।

पश्चात् दण्डी का कथन है कि ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं और इनके विपर्यय गोड़-मार्ग में देखे जाते हैं।^१ दस गुणों में से 'उदारता', 'ओज' तथा 'समाधि' के अतिरिक्त शेष के विपर्ययों का दण्डी ने संकेत किया है।^२ इन सात गुण-विपर्ययों में 'अर्थ-व्यक्ति' के विपर्यय 'नेयत्व' तथा 'माधुर्य' के विपर्यय 'वैरस्य' को, जिसका कारण दण्डी के अनुसार 'ग्राम्यता' है,^३ वे वैदर्भ और गोड़—दोनों मार्गों के लिए त्याज्य मानते हैं^४; शेष को केवल वैदर्भ मार्ग के लिए अग्राह्य बनाते हैं। इस प्रकार, दण्डी गुण-दोष के विपर्यय-यात्मक सम्बन्ध के प्रकरण में कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के अनुगामी प्रतीत होते हैं। 'अर्थशास्त्र' में भी सभी दोषों को गुण-विपर्यय नहीं कहा गया, केवल 'सम्प्लव' के सम्बन्ध में यह बात कही गई है। स्पष्ट है कि 'अर्थशास्त्र' में भी दोष की भावात्मक सत्ता स्वीकृत है और उनके दो वर्ग मिलते हैं—एक भावात्मक और दूसरा गुण-विपर्ययात्मक।

इसके अतिरिक्त, गुणों को ही दोष-विपर्यय माननेवाली नाट्यशास्त्रीय धारणा की भी अप्रत्यक्ष स्वीकृति 'काव्यादर्श' में मिलती है। दण्डी ने कुछ गुणों के लक्षण निषेधात्मक प्रणाली से दिये हैं, जैसे 'समता', 'अर्थव्यक्ति' तथा 'सुकुमारता' के लक्षण। 'अवैपम्य' को 'समता',^५ 'अनेयत्व' को 'अर्थव्यक्ति'^६ तथा 'अनिष्टुराक्षरप्राय' को 'सुकुमारता'^७ नामक गुण बताना ऐसा ही है। इससे लगता है कि ये गुण उक्त दोषों के अभाव-स्वरूप हैं। मम्मट ने इसी कारण इन्हें अलग गुण मानने से इनकार किया।^८

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि दण्डी ने यद्यपि स्पष्टतः दोष को गुण का विपर्यय अथवा गुण को दोष-विपर्यय नहीं बताया, पर अप्रत्यक्षतः इन दोनों विचारों की स्वीकृति उनके गुण-प्रतिपादन में हो गई है। अतः, दण्डी दोष और गुण दोनों की भावात्मक सत्ता स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

१. "इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।

एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गोडवर्त्मनि॥"

—वही, १।४२।

२. देखिए, वही, १।४३, ४६, ४७, ६३, ६९, ७२ तथा ७३।

३. 'इति ग्राम्योऽथमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते।'—वही, १।६३।

४. (क) 'एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि।'—वही, १।६७।

(ख) 'नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि।'—वही, १।७५।

५. 'समं बन्धेष्वविषमं।'—वही, १।४७।

६. 'अर्थव्यक्तिरनेयत्वम्।'—वही, १।७३।

७. 'अनिष्टुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते।'—वही, १।६९।

८. देखिए, 'काव्यप्रकाश' (मम्मट-कृत) के अष्टम उल्लास की ७२वीं कारिका और उसकी वृत्ति, पृ० २९५-२९६।

वामन

संस्कृत-काव्यशास्त्र में वामन प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने सचेष्ट होकर दोष-लक्षण-निरूपण किया है, यद्यपि अप्रत्यक्ष रूप से उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी सामान्य दोष के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त की है। वामन दोष की परिभाषा गुण-विपर्ययात्मक रूप में देते हैं। यह 'नाट्यशास्त्र' की धारणा के विलोम धारणा है। यों वामन की दोष-धारणा सर्वथा मौलिक तथा अश्रुतपूर्व नहीं है; कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' में 'सम्प्लव' नामक एक दोष की परिभाषा के प्रसंग में^१ और 'कामसूत्र' में नायक के गुण-दोष-विवेचन के प्रकरण में^२ सामान्यतः यह उल्लेख आया है कि दोष गुणों के विपर्यय हैं, किन्तु संस्कृत-काव्यशास्त्र में, और वह भी भरत के प्रतिकूल जाकर, इस धारणा की स्पष्ट उद्घोषणा का श्रेय वामन को ही है।

यहाँ यह जिज्ञासा स्वभावतः उठती है कि 'विपर्यय' से वामन का तात्पर्य 'अभाव' है या 'वैपरीत्य'। इस सम्बन्ध में कुछ निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए वामन के दोष-लक्षण-सूत्र के पूर्व की वृत्ति, उसके बाद के सूत्रों और वृत्तियों तथा अन्य उल्लेखों पर ध्यान देना आवश्यक है। वामन के 'विपर्यय' का तात्पर्य केवल 'अभाव' नहीं प्रतीत होता। कारण दोष-लक्षण से पूर्व की वृत्ति में उन्होंने दोषों को काव्यसौन्दर्याक्षेप के हेतु तथा त्याज्य माना है।^३ यदि दोष गुणों के अभाव होते, तो उन्हें उक्त विशेषण नहीं दिया जाता। उक्त विशेषण से स्पष्ट है कि वामन की सम्मति में दोष काव्य-शोभा (गुण) के अभाव-मात्र के सूचक नहीं हैं, वे भावात्मक रूप से उस शोभा को आघात पहुँचाकर कुरूपता के जनक हैं। इससे दोषों की गुणविरुद्धता स्पष्ट होती है। किन्तु वामन दोषों को केवल गुणविरुद्ध ही नहीं मानते। कुछ दोषों को वे गुणाभाव-स्वरूप मानते हैं, जिन्हें वे गुण-विवेचन-प्रसंग में संकेतित करते हैं। ऐसे दोषों को उन्होंने 'सूक्ष्मदोष' कहा है।^४ इनके विवेचन की प्रेरणा उन्हें दण्डी से मिली है। ऐसे दोष अर्थापत्ति से सुगमतापूर्वक समझे जा सकते हैं, अतः वामन ने उन्हें 'दोषदर्शन' नामक अधिकरण में स्थान न देकर गुण-विवेचन के प्रकरण में स्थान दिया है। किन्तु गुण-विपरीत दोषों की अर्थापत्ति से सरलतापूर्वक जानकारी नहीं हो सकती,^५ इसी कारण उन्हें दोषदर्शन नामक अधिकरण में स्वतन्त्र रूप में उद्दिष्ट एवं

१. देखिए, इसी अध्याय की पाद-टिप्पणी-संख्या २।

२. 'गुणविपर्यये दोषाः।' —कामसूत्र, ६।१।१५, पृ० ३०, चौखम्बा-संस्करण।

३. 'काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतवस्त्यागाय दोषा विज्ञातव्या।' —वामनकृत काव्यालंकार-सूत्र, पृ० ६९।

४. 'ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचने वक्ष्यन्ते।' —वही, पृ० ११२।

५. 'सौकर्याय प्रपञ्चः।' —वही, १।१।३।

लक्षित करने की आवश्यकता वामन ने समझी। इस अधिकरण में वर्णित पद-वाक्य-अर्थ-दोष स्थूल होने के कारण काव्यसौन्दर्य-विधात में अधिक समर्थ हैं, जबकि गुण-विपर्यय के प्रसंग में प्रतिपादित गुणाभावस्वरूप सूक्ष्म दोष पाठक की पकड़ में आसानी से नहीं आने के कारण काव्यसौन्दर्य-विधात में उतने सक्रिय नहीं। निष्कर्ष यह कि वामन के दो दोष-वर्ग क्रमशः गुणवैपरीत्य एवं गुणाभाव के सूचक हैं। फलतः वामन के दोष-लक्षण में पठित 'विपर्यय' का अर्थ 'वैपरीत्य' एवं 'अभाव' दोनों है, न कि कोई एक। वस्तुतः वामन के काल तक मान्य दोषों में कुछ इतने अधिक अग्राह्य थे कि उनकी भावात्मक सत्ता को अस्वीकार करना वामन के लिए असम्भव था। अतः, ऐसे दोषों की 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' कहकर उन्होंने विलोमतः भावात्मक सत्ता स्वीकार कर ली है।

रुद्रट

रुद्रट ने दोषों का वर्गीकृत और विस्तृत प्रतिपादन करके भी दोष-लक्षण-निर्धारण से अपने को अलग रखा, फिर भी, उनके अप्रत्यक्ष संकेतों से उनकी दोष-धारणा स्पष्ट की जा सकती है। उन्होंने वाक्यगुणों का वर्णन निषेधात्मक प्रणाली से किया है,^१ यानी वे कुछ दोषों के अभाव को गुण मानते हैं। इस प्रकार गुणों को दोष का अभाव मानना 'नाट्यशास्त्रीय' धारणा के अनुकूल है। रुद्रट की दोष-धारणा की एक उल्लेखनीय विशेषता है दोष का 'रस' तथा 'औचित्य' से सम्बन्ध-स्थापन। संस्कृत-काव्यशास्त्र में रुद्रट प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने 'अनौचित्य' को प्रत्यक्षतः दोषरूप में स्वीकार किया है। भामह-दण्डी के 'देश-काललोककलान्यायागमविरोधी' दोषों में 'अनौचित्य' की अप्रत्यक्ष स्वीकृति थी। भामह द्वारा सामान्यतः^२ और दण्डी द्वारा विशिष्ट दोषों की भी नित्यता-अनित्यता के प्रतिपादन में भी 'औचित्य' को दोष-नियामक तत्त्व के रूप में अप्रत्यक्ष मान्यता मिली थी। रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने 'अनौचित्य' को स्पष्टतः महत्त्वपूर्ण दोष के रूप में स्वीकार नहीं किया था। रुद्रट ने अपने शब्दगत और अर्थगत 'ग्राम्य' दोष का आधार अनौचित्य माना है। उन्होंने

१. "अन्यूनाधिकवाचकसूक्ष्मपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।

क्षोदक्षममक्षुण्णं सुमतिर्विक्रियं प्रयुञ्जीत ॥"

—रुद्रटकृत 'काव्यालंकार', २।८।

२. "सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।

नीलं पलाशमावद्धमन्तराले स्रजामिव ॥"

—भामहकृत 'काव्यालंकार', १।५४।

३. "अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।

न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलङ्किया ॥"

—दण्डिकृत 'काव्यादर्श', ३।१२७।

शब्दगत 'ग्राम्य' के चार प्रकार अनौचित्य के चार प्रकारों के रूप में प्रतिपादित किये हैं।^१ उनका अर्थगत 'ग्राम्य' भी व्यवहार, आकार, वेष तथा वचन का देश, कुल, जाति, विद्या, वित्त, वय, स्थान तथा पात्र नामक आठ विषयों के अनौचित्य में होता है।^२ रुद्रट ने यद्यपि अपने 'विरस' नामक दोष को गलत ढंग से अर्थदोषों में स्थान दिया है, तथापि है वह रसदोष, जो रस-अनौचित्य का एक प्रकार है। जिस रस का प्रसंग हो, उसमें उस रस से भिन्न रस का प्रयोग करना या किसी रस की अतिवृद्धि करना रुद्रट का 'विरस' दोष है।^३ रुद्रट ने यमक अलंकार के विवेचन के प्रसंग में अलंकार-अनौचित्य का संकेत दिया है।^४ इस प्रकार, अनौचित्य के विविध रूपों से रुद्रट परिचित प्रतीत होते हैं। फिर भी रुद्रट की यह सीमा रही कि उन्होंने अनौचित्य को दोष-सामान्य के आधार के रूप में नहीं दिखाकर एक या दो दोषों में उसे समेटने का प्रयास किया।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने न तो दोष का सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया और न विशिष्ट दोषों का ही प्रतिपादन किया। फिर भी यत्र-तत्र दोष के सम्बन्ध में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका दोष-धारणा के क्षेत्र में बहुत महत्त्व है। इन विचारों ने दोष के स्वरूप-चिन्तन की दिशा ही बदल दी। दोष काव्य-सौन्दर्य का विधात करते हैं, यह बात तो वामन ने स्पष्ट कर दी थी। किन्तु, यह सौन्दर्य उनकी दृष्टि में आत्मगत न होकर वस्तुगत था। फलतः दोष भी काव्य के आत्मतत्त्व से सम्बद्ध न होकर उसके बाह्यांगों—शब्द और अर्थ से ही सम्बद्ध दिखाये गये थे। रुद्रट ने यद्यपि 'औचित्य' और 'रस' से दोष का सम्बन्ध स्थापित किया, तथापि अलंकार को प्रधानता देने के कारण वे इन तत्त्वों को व्यापक रूप से सभी दोषों

१. "यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।

तद्वक्तृवस्तुविषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति॥" (६।१७)

'पदमिदमनुचितमपरं सभ्यासभ्यार्थवाचि सभ्येऽर्थो।' (६।२१)

'अन्यत्रैतेऽनुचिताः शब्दार्थत्वे समानेऽपि।' (६।२६)

२. "ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।

देशकुलजातिविद्यावित्तवयः स्थानपात्रेषु॥" (११।९)

३. "अन्यस्य यः प्रसङ्गे रसस्य निपतेऽब्रह्मः क्रमापेतः॥"

विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रवन्धेभ्यः॥"

—रुद्रटकृत 'काव्यालंकार', ११।१२।

४. "इति यमकशेषं सम्यगालोचयद्भिः।

सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः॥"

—वही, ३।५९।

का नियामक न दिखा सके। इन तत्त्वों को एक-दो दोषों से सम्बद्ध करके उन दोषों को शब्ददोष या अर्थदोष में ही अन्तर्भुक्त करने की उन्होंने भूल की। आनन्दवर्धन द्वारा ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा किये जाने से एवं ध्वनि में रसध्वनि की प्रमुखता स्वीकृत होने से काव्यगत सौन्दर्य आत्मगत सिद्ध हुआ। फलतः दोष का सम्बन्ध भी इसी आत्मगत सौन्दर्य से स्थापित किया गया। आनन्दवर्धन ने दोष का दोषत्व रसध्वनि की दृष्टि से निरूपित किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि श्रुतिदुष्टादि दोष काव्य के नित्य दोष नहीं हैं, अनित्य हैं, चूँकि ध्वन्यात्मक शृंगार में ही हेय हैं, अन्यत्र नहीं।^१ उनके अनुसार ये दोष वाच्यार्थ-मात्र में या शृंगारव्यतिरिक्त व्यंग्य में या ध्वनि के अनात्मभूत शृंगार (गुणीभूत शृंगार) में हेय नहीं हैं। इस विषय को ध्यान में नहीं रखने पर इन दोषों की अनित्यता ही सम्पन्न न होगी, ऐसा आनन्दवर्धन का मत है।^२ स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित दोषों की अनित्यता की यह एक अभिनव, मौलिक एवं सूक्ष्म व्याख्या थी, जो आनन्दवर्धन से पूर्व अप्राप्य है। आनन्दवर्धन के इन विचारों का प्रभाव हुआ कि दोष का मुख्य स्वरूप ध्वन्यात्मक रस का भंग माना गया।

रसभंगरूप मुख्य काव्यदोष का मूल कारण क्या है, इस सम्बन्ध में भी आनन्दवर्धन ने बड़ा महत्वपूर्ण निर्णय दिया। उन्होंने अनौचित्य के अलावा रसभंग का और कोई कारण नहीं माना।^३ 'औचित्य' तत्त्व की व्यापक प्रतिष्ठा यद्यपि क्षेमेन्द्र द्वारा हुई, जो आनन्दवर्धन के परवर्ती माने जाते हैं, तथापि इस तत्त्व का बोध काव्यशास्त्र के प्राचीनतर आचार्यों

१. "व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्निविधे सम्भवत्यति।
रसादिभ्य एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥"

—ध्वन्यालोक, ४।५।

२. "श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥"

—वही, २।११।

३. "अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि, शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते। किन्तु हि ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः। अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात्।"

—वही, द्वितीय उद्योत, पृ० १३९।

४. "अनौचित्यादुतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥"

—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० २५९।

को भी था। 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य में लोक को प्रमाण बताने में तथा^१ वेप की उपयुक्तता की चर्चा में औचित्य-तत्त्व की स्वीकृति है। भामह-दण्डी के देशकालादिविरोधी दोषों के मूल में औचित्य की मान्यता है, यह निवेदित हो चुका है।^२ दोषों की अनित्यता की धारणा भी इसी तत्त्व पर आधृत है, इस तथ्य को भामह या दण्डी पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके थे। स्थितिविशेष में दोष दोष नहीं रह जाते, कमी-कमी गुण भी बन जाते हैं,^३ यह तथ्य तो इन आचार्यों ने सामने रखा, पर स्थिति की यह विशेषता औचित्य ही है, इस तथ्य का स्पष्टीकरण भामह, दण्डी या रुद्रट में से किसी आचार्य ने नहीं किया। आनन्दवर्धन की विशेषता इस बात में है कि उन्होंने अनौचित्य को रसभंग का मूलकारण बताते हुए उसे दोष के व्यापक आधार के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अलंकार, संघटना, वृत्ति तथा प्रबन्ध के अनौचित्य का विशदता से उद्घाटन किया है, जिसकी चर्चा आगे की जायगी।

कुन्तक

दोष के सम्बन्ध में कुन्तक का दृष्टिकोण पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न है। वे दोष के पृथक् प्रतिपादन की आवश्यकता नहीं समझते। कारण, काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ का सामान्य लक्षण उन्हें स्वीकार्य नहीं है, जिसकी दृष्टि से ही दोषों की सत्ता है। शब्द और अर्थ का विशिष्ट लक्षण उन्होंने किया है। ऐसे विशिष्ट शब्दार्थ का जब काव्य में प्रयोग होता है, तब 'नेयार्थ', 'अपार्थ' आदि दोष आप-से-आप हट जाते हैं, ऐसा कुन्तक का मत है। इसी कारण वे इन दोषों के पृथक् वक्तव्य की अपेक्षा का निषेध करते हैं।^४ काव्य के शब्दार्थ के इस विशिष्टत्व के सम्बन्ध में कुन्तक का कथन है कि अन्य पर्यायों के रहते हुए भी विवक्षित अर्थ का बोधक केवल एक शब्द होता है।^५ इसीलिए कुन्तक ने काव्य के वाचक का 'कवि-विवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्व' के रूप में लक्षण किया है।^६ इसी प्रकार कुन्तक की दृष्टि में

१. "नाना शोलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम्।

तस्मात् लोकप्रमाणं हि कर्तव्यं नाट्ययोक्तृभिः॥"

—नाट्यशास्त्र २६।११९।

२. "अदेशयुक्तो वेषो हि न शोभां जनयिष्यति।

मेखलोरसि बद्धा तु हास्यं समुपपादयेत्॥"

—वही, २१।७३।

३. देखिए, इसी अध्याय का 'रुद्रट' शीर्षक प्रकरण।

४. देखिए, इसी अध्याय का 'जयदेव' शीर्षक प्रकरण।

५. "तदेवंविधं विशिष्टमेव शब्दार्थयोर्लक्षणमुपादेयम्। तेन नेयार्थापार्थादयो दूरोत्सारितावात् पृथङ् न वक्तव्याः॥"

—वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेषः, पृ० ५०।

६. 'शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।'

—वही, पृ० ३८।

७. 'कविविवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकत्वलक्षणम्।'

—वही, पृ० ४१।

वाच्य (अर्थ) का वैशिष्ट्य है—‘काव्य’ में जो सहृदयों के हृदय का आह्लादकारी अपने स्वभाव से सुन्दर है।^१ वस्तुतः कुन्तक ने काव्य के शब्दार्थ का जो वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है, उसे काव्य में पूर्णतः स्थान देने पर दोष की सत्ता संभव नहीं है।

कुन्तक की उपर्युक्त मान्यता का स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि जिस काव्य में शब्दार्थ का उक्त विशिष्ट प्रयोग नहीं हुआ है, उसका काव्यत्व ही खण्डित है। कुन्तक ऐसे काव्य को कुकाव्य या दुष्टकाव्य के रूप में स्वीकार नहीं करते। किन्तु उनकी उपर्युक्त मान्यता श्रेष्ठ काव्य या आदर्श काव्य के सम्बन्ध में सही हो सकती है, काव्यमात्र के लिए नहीं। काव्य के रूप में ऐसी पंक्तियाँ भी आदृत हैं, जिनमें शब्दार्थ का वह विशिष्ट प्रयोग पूर्णतः नहीं हुआ है जो कुन्तक का अभीष्ट है। और ऐसी पंक्तियों के रचयिता राज-शेखर तथा कालिदास जैसे ख्यात कवि रहे हैं, जिनकी रचनाओं में से ऐसी पंक्तियाँ कुन्तक द्वारा आलोचित हुई हैं, जिनमें शब्दार्थ का वैसा विशिष्ट प्रयोग अनुपलब्ध है।^२ ऐसी पंक्तियों को अकाव्य का उदाहरण न मानकर दूषित काव्य का उदाहरण मानना ही समीचीन है, कारण, इनसे भी सहृदयों का अनुरजन अनुभव-सिद्ध है। अतः जहाँ-जहाँ कुन्तक ने ‘शोभा-हानि’, ‘तद्विदाह्लादकारित्वहानि’ या ‘शोभापरिहारिकारिता’ जैसे शब्दों का प्रयोग किया है, वहाँ-वहाँ दोष-धारणा का स्वरूप स्फुट हुआ है, यह मानना समीचीन है।

एक स्थल पर कुन्तक ‘शोभाहानि’ का कारण विशेष अर्थ के अभिधान के लिए असमर्थ विशेषणों का प्रयोग बताते हैं।^३ इसका उन्होंने जो उदाहरण दिया है,^४ उसे ही मम्मट ने ‘काव्यप्रकाश’ में ‘सनियमपरिवृत्तत्व’ दोष का उदाहरण माना है।^५ इससे स्पष्ट है कि कुन्तक की यह समीक्षा दोषोद्घाटन के प्रयास-रूप में मान्य होनी चाहिए। दूसरे स्थल पर जिस ‘तद्विदाह्लादकारित्वहानि’ की चर्चा उन्होंने की है, उसका कारण उन्होंने औचित्य-विरह माना है।^६ इसके उदाहरण के रूप में ‘रघुवंश’ का वह स्थल उद्धृत है, जहाँ

१. ‘अर्थः सहृदयाह्लादकारित्वस्वप्नसुन्दरः।’ —वही, पृ० ३८।

२. देखिए, ‘वक्रोक्तिजीवित’, पृ० ४९ तथा पृ० १६४।

३. ‘विशेषाभिधानाकाङ्क्षणः पुनः पदार्थस्वरूपस्य तत्प्रतिपादनपरविशेषण-
शून्यतया शोभाहानिरुत्पद्यते।’ —वही, पृ० ४२।

४. यथा —“यत्रानुल्लिखिताख्यमेव निखिलं निर्माणमेतद्विधे-
रत्कर्षप्रतियोगिकल्पनमपि न्यक्कारकोटिः परा।
याताः प्राणभूतां मनोरथगतीरुल्लङ्घ्य यत्सम्पदः

तस्याभासमणीकृताद्भसु मणेरश्मत्वमेवोचितम्॥” —वही, पृ० ४३।

५. देखिए, मम्मटकृत ‘काव्यप्रकाश’ सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या २७३, पृ० २४२।

६. “उचिताभिधानजीवितत्वाद् वाक्यस्याप्येकदेशेऽप्यौचित्यविरहात् तद्विदा-
ह्लादकारित्वहानिः।” —वक्रोक्तिजीवितम्, पृ० १६३।

रामचन्द्र पुष्पक विमान पर लंका से अयोध्या को लौटते समय रास्ते में निषादराज की नगरी के सामने पहुँचने पर सीता से कहते हैं कि इसी स्थल पर उनके द्वारा शिर पर की मणियों को उतार देने और जटाएँ बाँध लेने पर सुमन्त्र ने कहा था—‘कैकेयि, तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हुआ।’^१ यहाँ राम—जैसे महापुरुष के द्वारा इतनी छोटी बात का स्मरण किया जाना उनकी उदार और विशाल प्रकृति के विरुद्ध पड़ने के कारण अनौचित्य का उदाहरण है। इसी प्रसंग में कुन्तक ने दोष के सम्बन्ध में यह महत्त्वपूर्ण मान्यता व्यक्त की है कि प्रबन्ध के एक प्रकरण में भी औचित्य का अभाव होने पर सारा काव्य उसी प्रकार दूषित हो जाता है, जिस प्रकार एक स्थान पर जल जाने पर कोई कपड़ा सम्पूर्णतः दूषित हो जाता है।^२ तीसरे स्थल पर जो ‘शोभापरिहारिकारिता’ कुन्तक द्वारा उल्लिखित हुई है, वहाँ उन्होंने रस-परिपोष के लिए विभावानुभावसंचारियों की उचित प्रतिपत्ति को आवश्यक बताया है, जिसके अभाव में उनके अनुसार प्रस्तुत विषय, यानी वर्ण्यमान रस की शोभा बाधित हो जाती है।^३ इस प्रकार कुन्तक के द्वारा प्रथम स्थल पर शब्दगत अनौचित्य, द्वितीय स्थल पर अर्थगत अनौचित्य और तृतीय स्थल पर रसगत अनौचित्य का स्वरूप उद्घाटित हुआ है। स्पष्ट है कि अनौचित्य को शोभाहानि का मूल कारण बताना दोष के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन की मान्यता का ही पोषक है।

अभिनवगुप्त

दोष की अनित्यता की रसध्वनि की दृष्टि से आनन्दवर्धन ने जो व्याख्या की थी, उसे अभिनवगुप्त ने अपनी टीका ‘लोचन’ में और पुष्ट किया। श्रुतिदुष्टादि दोष किस प्रकार एक रस में दोषस्वरूप, पर अन्य में गुणस्वरूप हो जाते हैं, यह अभिनवगुप्त ने अच्छी तरह स्पष्ट किया है।^४ अभिनवभारती में भी दोषों को नित्य और अनित्य के रूप में

१. यथा रघुवंशे—“पुरं निषादाधिपतेस्तदेतद् यस्मिन् मया मौलिमणिं विहाय
जटासु बद्धास्वस्वत् सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति।”

—वही, पृ० १६४।

२. “प्रबन्धस्यापि कस्यचित् प्रकरणंकदेशेऽप्यौचित्य विरहादेकदेशदाहदूषितदग्ध-
पटप्रायता प्रसज्यते।”

—वही, पृ० १९४।

३. “रसपरिपोषपेशलायाः प्रतीतेर्विभावानुभावव्यभिचार्यौचित्यव्यतिरेकेण प्रकारा-
न्तरेण प्रतिपत्तिः प्रस्तुतशोभापरिहारिकारितामावहति।”

—वही, पृ० २९९।

४. “न त्वेषां विषयविभागप्रदर्शनेनानित्यत्वं भिन्नवृत्तादिदोषेभ्यो विविक्तं प्रदर्शितम्।
नापि गुणेभ्यो व्यतिरिक्तं दोषत्वम्। बीभत्सहास्यरौद्रादौ त्वेषामस्माभिरुपगमात्
शृङ्गारादौ च वर्जनादनित्यत्व समर्थितमेवेति भावः।”

—लोचन, पृ० ८३, काव्यमाला-संस्करण।

अभिनवगुप्त ने बाँटा है।^१ इस प्रकार आनन्दवर्धन की दोष-मान्यता के पोषक के रूप में उनका महत्त्व है। स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखने के कारण उनके द्वारा दोषों का अलग से निरूपण और लक्षण-निर्धारण न हो सका।

महिमभट्ट

महिमभट्ट की दोषमान्यता का आधार आनन्दवर्धन की दोष-विचारधारा है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने अनौचित्य को रसभंग का मुख्य कारण बताया, उसी प्रकार महिमभट्ट ने भी।^२ महिमभट्ट ने तो अनौचित्य को दोषपर्याय के रूप में ही व्यवहृत किया है। उन्होंने अनौचित्य का लक्षण इस प्रकार किया—‘जो विवक्षित रसादि की प्रतीति में विघ्नविधायक हो, उसे अनौचित्य कहते हैं।’^३ इसे ही महिमभट्ट का दोषलक्षण मानना चाहिए। महिमभट्ट के अनुसार यह अनौचित्य अर्थ के असामञ्जस्य से उत्पन्न होता है।^४ उन्होंने अनौचित्य के अन्तरंग तथा बहिरंग नामक दो भेद किये हैं।^५ प्रथम को वे अर्थगत अनौचित्य तथा द्वितीय को शब्दगत अनौचित्य कहते हैं।^६ रसभंग के समस्त हेतुओं को प्रथम के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं, पर उनका विस्तार से उल्लेख इसलिए नहीं करते कि उनका अन्यों ने विस्तृत प्रतिपादन किया है।^७ यहाँ वे आनन्दवर्धन की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। द्वितीय, यानी शब्दगत अनौचित्य के पाँच भेदों का वे प्रतिपादन करते हैं।^८ महिमभट्ट और आनन्दवर्धन की मान्यताओं में अन्तर यह है कि महिमभट्ट ने रस को प्रमुखता देते हुए भी उसकी ध्वन्यात्मकता का खण्डन किया है, जबकि आनन्दवर्धन उसकी ध्वन्यात्मकता पर बल

१. “एतन्मध्ये तु केचित् नित्यदोषाः, यथा अपशब्दः, केचिदनित्या यथा ग्राम्यं हास्यादौ तस्येष्टतमत्वात्।”—अभिनवभारती, पृ० ३३३, नाट्यशास्त्र का गायकवाड़-संस्करण, खण्ड २।

२. “यथाहुः—अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।”

—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १३३।

३. “एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्।”

—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १५२।

४. ‘ततश्चार्थासामञ्जस्यादनौचित्यं प्रसज्यते।’ —वही, पृ० १३५।

५. ‘बहिरङ्गान्तरङ्गत्वभेदात् तद् द्विविधं मतम्।’ —वही, पृ० १३५।

६. ‘तत्र शब्दैकविषयं बहिरङ्गं प्रचक्षते।’ —वही, पृ० १३५।

७. “द्वितीयमर्थविषयं तत् त्वाद्यैरेव दर्शितम्।
तत्स्वरूपमतोऽस्माभिरिह नातिप्रतन्यते ॥” —वही, ९२, पृ० १३५।

८. “यत्त्वेतच्छब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते।
तस्य प्रक्रमभेदाद्या दोषाः पञ्चैव योनयः ॥” —वही, ९४, पृ० १३५।

देते हैं और इसी रस-ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से दोषों का प्रतिपादन करते हैं। महिमभट्ट का समस्त रसभंगों या रसदोषों को अर्थगत अनौचित्य बताना अपनी मान्यता के अनुकूल है।

भोजराज

भोज ने दोष का सामान्य लक्षण अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' या 'शृंगारप्रकाश' में से किसी ग्रन्थ में नहीं किया। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में वे उसकी हेयता की चर्चा करते हैं।^१ रत्नेश्वर ने इसी 'हेयाः' शब्द को भोज का सामान्य दोषलक्षण मान लिया है।^२ पर वस्तुतः भोज यहाँ केवल दोष-वर्ज्यता का संकेतमात्र कर रहे हैं। 'शृंगारप्रकाश' में यद्यपि दोष का स्पष्ट लक्षण तो नहीं दिया गया है तथापि 'दोषहान' के स्वरूप के स्पष्टीकरण के क्रम में भोज की दोष-धारणा का रूप स्पष्ट हो जाता है। उनका कथन है कि अनौचित्य के परिहार से दोषहान होता है।^३ स्पष्ट है कि भोज अनौचित्य को दोष मानते हैं। विशिष्ट दोषों के प्रकरण में भी भोज ने अनौचित्य को स्वीकार किया है।^४ अतः इस आधार पर सिद्ध है कि भोज 'दोष' का अर्थ 'अनौचित्य' लेते हैं। इस दृष्टि से वे महिमभट्ट के अनुगामी हो जाते हैं।

मम्मट

मम्मट ने मुख्य अर्थ की हति को दोष बताया।^५ यह 'मुख्य अर्थ' क्या है और 'हति' का अभिप्राय क्या है? प्रथम प्रश्न का उत्तर दोष-लक्षणकारिका में और द्वितीय का उसकी वृत्ति में मम्मट ने दिया है। वे 'रस' को काव्य का मुख्य अर्थ मानते हैं^६ और 'हति' का अर्थ 'अपकर्ष' बताते हैं।^७ इस प्रकार 'मुख्यार्थहति' का अभिप्राय हुआ रस का अपकर्ष।

१. "दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।

हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्हे तानेवादौ प्रचक्ष्महे॥

—भोजराजः, 'सरस्वतीकण्ठाभरण', प्रथम परिच्छेद, पृ० ३

२. 'हेया' इत्यनेन सामान्यलक्षणम्।

—रत्नेश्वरकृत टीका, वही, पृ० ३।

३. 'तत्र दोषहानम् अनौचित्यपरिहारेण।'

—शृंगारप्रकाश, खण्ड २, अध्याय ११, पृ० ४१०।

४. "युक्त्यौचित्यप्रतिज्ञादिः कृतो यस्त्विह कश्चन।

अनुमानविरोधः स कविमुख्यैर्निगद्यते॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण, प्रथम परि०, पृ० ४५।

५. 'मुख्यार्थहतिर्दोषो।' —मम्मट-कृत काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, ४९वीं कारिका।

६. 'रसश्च मुख्यः।'

—वही।

७. 'हतिरपकर्षः।'

—वही, सप्तम उल्लास, पृ० १८१

किन्तु मम्मट का कथन है कि रस का आश्रय है वाच्य तथा रस और वाच्य दोनों के उपायभूत हैं शब्दादि।^१ अतः दोष केवल रस के ही नहीं, वाच्य (अर्थ) और शब्दादि के भी अपकर्षक हैं। 'शब्दादि' के 'आदि' में मम्मट ने वर्ण तथा रचना का ग्रहण किया है।^२

मम्मट के उपर्युक्त दोष-लक्षण में आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की मान्यताओं का समाहार है। कहा जा चुका है कि इन आचार्यों ने रसध्वनि की दृष्टि से ही दोष का दोषत्व स्वीकार किया था और इसी आधार पर उसकी अनित्यता की व्याख्या की थी। इसी विचार से प्रेरणा लेकर मम्मट ने दोष का लक्षण 'मुख्यार्थहृति' के रूप में किया और रस को मुख्यार्थ बताया। किन्तु रस के लिए विभावानुभावव्यक्ति की अपेक्षा है, जिससे रस के लिए वाच्य भी अपेक्षित होता है और रस तथा वाच्य दोनों का ग्रहण शब्दादि द्वारा होता है। अतः मम्मट ने उनके अपकर्ष को भी दोष बताया।

अग्निपुराण

अग्निपुराण में सभ्यों के मन में उद्वेग उत्पन्न करनेवालों को दोष कहा गया है।^३ दोष का यह लक्षण नवीन नहीं है, 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' और दण्डी के 'काव्यादर्श' में इसका उल्लेख हुआ है।^४

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र ने रस के उत्कर्ष-हेतुओं को गुण एवं अपकर्ष-हेतुओं को दोष माना है। शब्दार्थ के उत्कर्षापकर्ष की गुणदोष-मान्यता वे भक्ति से ही स्वीकार करते हैं।^५ हेमचन्द्र अपने दोषलक्षण में मम्मट के अनुवर्त्ती हैं।

१. तदाश्रयाद्वाच्यः ।'

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेज्वपि सः ॥'

—वही, ७।४९।

२. 'शब्दाद्या इत्याद्यग्रहणाद्वर्णरचने ।'

—वही, पृ० १८१।

३. 'उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा ।'

—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० ८६।

४. (क) 'उद्वेजनीयं तु सतांतदुक्तमश्लीलबन्धं सुखदं न काव्यम् ।'

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड, १५।१५।

(ख) "न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।

उपमाद्वेषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ।"

—दण्डिकृत काव्यादर्श, २।५१।

५. "रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ, भक्त्या शब्दार्थयोः ।"

—हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन, १।१२, पृ० ३४।

जयदेव

जिसके अन्तःकरण में प्रवेश करने से काव्य की रमणीयता क्षत हो जाय, उसे जयदेव ने दोष माना है।^१ जयदेव अलंकारवादी आचार्य थे। स्वभावतः उन्होंने दोष को रसापकर्षक न मान उसे काव्यसौन्दर्यविधातक माना है। रसदोषों को जयदेव ने प्रतिपादित ही नहीं किया। इससे भी स्पष्ट है कि वे रस और दोष के सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करते हैं।

विद्यानाथ

विद्यानाथ ने काव्यापकर्ष के हेतुओं को दोष माना है।^२ जयदेव की तरह इन्होंने भी दोष का शब्दार्थ से ही सम्बन्ध बताया है, रस से नहीं। इसी कारण इनकी दोष-परिभाषा इतनी स्थूल है। मम्मट की दोष-परिभाषा से 'अपकर्ष' का ग्रहण करके भी विद्यानाथ ने 'रस' को छोड़ दिया और उसकी जगह 'काव्य' शब्द को स्थापित किया।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने दोष का लक्षण रसापकर्षक के रूप में दिया है।^३ रसात्मक वाक्य को काव्य मानने का स्वाभाविक परिणाम था कि ये दोष को रस से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध करते। इन्होंने शब्दार्थ दोषों को भी रसापकर्षक रूप में महत्त्व दिया है। इनका कथन है कि जैसे काणत्व, खंजत्व आदि दोष शरीर को दूषित करते हुए उसके द्वारा उसमें रहनेवाली आत्मा (जीव) के ही अपकर्ष की सूचना देते हैं और मूर्खत्व आदि साक्षात् उस आत्मा का ही अपकर्ष बताते हैं, उसी प्रकार 'श्रुतिदुष्ट' तथा 'अपुष्टार्थ' आदि दोष काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ को दूषित करते हुए उसकी आत्मा रस का ही अपकर्ष सूचित करते हैं और 'स्वशब्दवाच्यत्व' आदि रसदोष साक्षात् रस का अपकर्ष करते हैं।^४

गोविन्द ठक्कुर

गोविन्द ठक्कुर ने 'काव्यप्रकाश' की टीका 'काव्यप्रदीप' में मम्मट के दोष-लक्षण की व्याख्या करते हुए, उसकी अस्पष्टताओं एवं त्रुटियों की चर्चा करते हुए उसके संगत

१. "स्याच्चेतो विशता येन सक्षता रमणीयता ।

शब्देऽर्थे च कृतोन्मेषं दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥"

—चन्द्रालोक, २।१।

२. 'दोषाः काव्यापकर्षस्य हेतुः शब्दार्थगोचरः।' —प्रतापसूत्रशोभूषण, पृ० २९६।

३. 'रसापकर्षकाः दोषाः।' —साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद, पृ० ३२७।

४. "श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखंजत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणैव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते ।"

—वही, प्रथम परिच्छेद, पृ० २१।

मन्तव्य का संकेत किया है। इनका कहना है कि 'हृति' शब्द का अर्थ यदि 'अपकर्ष' लिया जाय, जैसा मम्मट ने लिया है, तो इससे रसानुत्पत्ति के प्रयोजकों में दोषत्व की व्याप्ति नहीं होती।^१ यदि 'हृति' का अर्थ 'अनुत्पत्ति' लें तो जहाँ रस की उत्पत्ति तो होती है, पर अपकृष्ट रूप से होती है, वहाँ इस लक्षण की व्याप्ति नहीं होगी।^२ इस प्रकार यह लक्षण दरिद्र-दम्पति के उस छोटे वस्त्र की तरह है, जिससे रात को शरीर का एक भाग ढक जाता है, तो दूसरा उधार हो जाता है।^३

मम्मट के लक्षण की उपर्युक्त सीमाओं को दूर करने के उद्देश्य से गोविन्द ठक्कुर ने मम्मट की 'हृति' की व्याख्या इस रूप में की—'हृति' का अर्थ वह अपकर्ष है, जिसका लक्षण है उद्देश्य प्रतीतिविधात।^४ इसका भाष्य करते हुए उन्होंने कहा है कि रसात्मक काव्य में यह उद्देश्य (अभिप्रेत)-प्रतीति है अविलम्बित तथा अनपकृष्ट रूप से रस की प्रतीति होना। नीरस काव्य की उद्देश्य-प्रतीति है अविलम्बित और चमत्कारी रूप से अर्थ की प्रतीति होना। इस प्रकार दुष्ट काव्य में—चाहे वह सरस हो या नीरस, उद्देश्य-प्रतीति का विधात सामान्य तत्त्व है।^५ दुष्टकाव्य में कहीं रस की अप्रतीति होती है, कहीं प्रतीयमान रस का अपकर्ष होता है और कहीं उसकी विलम्बप्रतीति होती है। ये सब उद्देश्य प्रतीति-विधात के ही रूप हैं। नीरस काव्य में मुख्यभूत अर्थ की कहीं अप्रतीति होती है, कहीं विलम्ब से प्रतीति होती है और कहीं अचमत्कारक रूप से प्रतीति होती है।^६ उद्देश्य-प्रतीति की यह विधातकता दो प्रकार से सम्भव है—साक्षात् और परम्परा से। रसदोष साक्षात् रूप से विधात करते हैं, शब्दार्थ-दोष परम्परा से।^७ शब्दार्थ-दोषों में भी कोई दोष

१. "हृतिशब्दस्यापकर्षवाचित्वात्। नन्वेवं रसानुत्पत्तिप्रयोजकेष्वव्याप्तिः।"
—काव्यप्रदीप, सप्तम उल्लास, पृ० १६९।
२. "अर्थानुत्पत्तिरेव हृति शब्दार्थः। तर्हि यत्र रस उत्पद्यते एव परं त्वपकृष्यते तत्राव्याप्तिः।"
—वही, पृ० १६९।
३. "तदेतल्लक्षणमतिदरिद्रदम्पत्योः कुशतरनिशावगुण्ठनीयवसनमिदं केनापकृष्य-
माणमपरं परिहरति।"
—वही, पृ० १६९।
४. "उद्देश्यप्रतीतिविधातलक्षणोऽपकर्षो हृति शब्दार्थः।"—काव्यप्रदीप, पृ० १६९।
५. "उद्देश्या च प्रतीती रसवत्यविलम्बितानपकृष्टरसविषया च नीरसे त्वविलम्बिता चमत्कारिणी चार्थविषया। तथा च तादृशप्रतीतिविधातकत्वं सर्वेषामविशिष्टम्।"
—वही, पृ० १६९।
६. "यतो दुष्टेषु क्वचिद्रसस्याप्रतीतिरेव, क्वचित्प्रतीयमानस्याप्यपकर्षः, क्वचित्तु विलम्बः। एवं नीरसे क्वचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याप्रतीतिरेव, क्वचिद्विलम्बेन प्रतीतिः क्वचिदचमत्कारितेत्यनुभवसिद्धम्।"
—वही, पृ० १६९-१७०।
७. "तद्विधातकता च कस्यचित्साक्षात्, यथा रसदोषाणाम्। कस्यचित्परम्परया, यथा शब्दार्थदोषाणाम्।"
—वही, पृ० १७०।

अर्थ की उपस्थिति के अभाव-रूप में विघात करता है; जैसे—असमर्थत्वादि,^१ कोई विलम्ब से अर्थप्रतीति के रूप में, जैसे, निहतार्थादि,^२ कोई वाक्यार्थबोध के अभाव रूप में, जैसे च्युत-संस्कृत्यादि,^३ कोई वाक्यार्थबोध में विलम्ब के रूप में, जैसे, 'विलम्बत्व',^४ कोई सहृदय की विमुखता, व्यग्रता आदि के रूप में, जैसे 'निरर्थक' तो कोई विरोधी या विपरीत उपस्थापन के द्वारा विघात करते हैं; जैसे विरस, विरुद्धमतिकृत् आदि दोष।^५ विघातकता कहीं ज्ञात की हो सकती है; जैसे व्याहृतत्व आदि की^६ तो कहीं स्वरूपसत् एवं जैसे 'निहतार्थत्व' आदि की। गोविन्द ठक्कुर की इस व्याख्या में दोष के स्वरूप, प्रकार एवं प्रक्रिया का बड़ा ही मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म एवं स्पष्ट विश्लेषण हुआ है।

केशवमिश्र ने रसोत्पत्ति-प्रतिबन्धकत्व को दोष कहा है।^७ इस लक्षण में व्यापकता का अभाव है। नीरस काव्य की दोषता का स्वरूप इसके द्वारा स्पष्ट नहीं हो पाता है।

हिन्दी-रीतिग्रन्थों में दोष-लक्षण-निरूपण

हिन्दी-रीतिकारों में प्रथम दोषलक्षण-निरूपक हैं चिन्तामणि, जिनके अनुसार दोष शब्द, अर्थ और रस के अपकर्ष का नाम है, जिससे हर्ष (काव्यानन्द) छिन्न-भिन्न हो जाता है।^८ मम्मट के दोषलक्षण को अपूर्णतः चिन्तामणि ने ग्रहण किया है। मम्मट ने 'मुख्यार्थहृति' के रूप में दोष का लक्षण किया। चिन्तामणि इसका उल्लेख नहीं करते। शब्द, अर्थ और रस के अपकर्ष को समान रूप से महत्त्व देकर चिन्तामणि ने मम्मट के अभिप्राय को समझने में भूल की है।

१. "तेष्वपि कस्यचिदर्थोपस्थितेरभावात्। यथा समर्थत्वादेः।" —वही, पृ० १७०।
२. 'कस्यचिद्विलम्बात्। यथा निहतार्थत्वादेः।' —वही, पृ० १७०।
३. 'कस्यचिद्वाक्यार्थबोधाभावात्। यथा च्युतसंस्कृत्यादेः।' —वही, पृ० १७०।
४. 'कस्यचित्तत्र विलम्बात्। यथा विलम्बत्वादेः।' —वही, पृ० १७०।
५. कस्यचित्सहृदयवैमुख्यव्यग्रताद्यापादनेन। यथा निरर्थकत्वादेः।
—वही, पृ० १७०।
६. "कस्यचिद्विरोध्युपस्थापनेन विपरीतोपस्थापनेन वा। यथा विरसविरुद्धमतिकृत्वादेरित्याद्यहनीयम्।" —वही, पृ० १७०।
७. 'विघातकत्वं कस्यचिज्ज्ञातस्य, यथा व्याहृतत्वादेः।' —वही, पृ० १७०।
८. 'कस्यचित्तु स्वरूपसत् एव, यथा निहतार्थत्वादेः।' —वही, पृ० १७०।
९. 'दोषत्वं च रसोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वम्।' —अलंकारशेखर, २।१।
१०. "शब्द, अर्थ, रस को जु इत देखि पर अपकर्ष।
दोष कहत है ताहि को, सुनै छदत है हर्ष॥" —कविकुलकल्पतरु, ४।१।

कुलपति के अनुसार दोष वह है, जो शब्द और अर्थ में प्रकट होकर रसानुभव में बाधक होता है जिस प्रकार तन और मन की व्यथा प्राणों को हर लेती है।^१ चिन्तामणि के दोष-लक्षण की अपेक्षा यह लक्षण मम्मट के अभिप्राय के अधिक समीप है। इससे रस की मुख्यता और शब्दार्थ की गौणता व्यंजित होती है। कुलपति ने मानव-शरीर एवं प्राण का जो दृष्टान्त काव्यदोष के लिए प्रस्तुत किया है, उसकी प्रेरणा उन्हें विश्वनाथ के दृष्टान्त से मिली होगी। किन्तु विश्वनाथ के दृष्टान्त की तरह कुलपति का दृष्टान्त संगत एवं सटीक नहीं है। रसानुभव की बाधकता का प्राण हर लेने से साम्य दिखाना उपयुक्त नहीं है। दूसरे, रसानुभव की बाधकता-मात्र दोष का कार्य नहीं। उसका प्रभाव इससे अधिक व्यापक है, जिसे गोविन्द ठक्कुर ने अच्छी तरह स्पष्ट किया है। उदाहरणार्थ, मुख्य अर्थ की अचमत्कारक प्रतीति दोष का एक कार्य है, जिसे कुलपति का लक्षण संकेतित नहीं कर पाता।

कुलपति के बाद कुमारमणि का दोषलक्षण प्राप्त है। इनके अनुसार 'जो मुख्य अर्थ के बोध में विघात करे, वह दोष है और यह मुख्य अर्थ है रस, जिसके परिपोष में शब्द और अर्थ का महत्त्व होने के कारण (उपचार से) उनका भी मुख्यत्व सिद्ध है।' स्पष्ट है कि यह लक्षण 'काव्यप्रकाश' के लक्षण का रूपान्तर है, जिसमें 'हृति' की जगह काव्यप्रदीपकार के प्रभाववश 'विघात' शब्द आ गया है और उनकी 'उद्देश्य-प्रतीति' शब्दावली का 'बोध' स्थानापन्न है। मौलिक न होते हुए भी, कुमारमणि का लक्षण इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि पूर्ववर्ती रीतिकारों ने जहाँ मम्मट के दोषलक्षण का विकलांग रूप अपने लक्षणों में प्रस्तुत किया, वहाँ कुमारमणि ने मम्मट के व्याख्याकार गोविन्द ठक्कुर का लक्षण ग्रहण करके अपनी सूक्ष्मबुद्धि का परिचय दिया।

श्रीपति का कहना है कि जिस पदार्थ के दोष से अच्छा कवित्व नष्ट हो जाता है, उसे दोष कहते हैं।^२ यह लक्षण बड़ा स्थूल है, जिसमें दोष की स्वरूपघटकता अत्यल्प है। दोष के कारण कवित्व नष्ट होता है या अपकृष्ट, इस सम्बन्ध में श्रीपति को कोई विचिकित्सा ही नहीं हुई।

१. "शब्द अर्थ में प्रकट हूँ, रस समझत नहीं देख।

सो दूषण तन मन बिधा जो जिय को हर लेइ॥"

—कुलपतिकृत 'रसरहस्य', पंचम वृत्तान्त, २, पृ० ४१।

२. "मुख्य अर्थ के बोध में करे विघात सुदोष।

गन्यौ मुख्य रस ता संगरु शब्दार्थ-परिपोष॥"

—कुमारमणि-कृत 'रसिकरसाल', दशम उल्लास, १, पृ० २२५।

३. "जा पदार्थ के दोष ते आछे कवित नसाइ।

दूषण तासों कहत हैं श्रीपति पंडित राइ॥"

—'काव्यसरोज', प्रथम दल, १३।

सोमनाथ ने दोष का लक्षण इस प्रकार किया है—‘जो मुख्य रस का, जिसके शब्द और अर्थ ओट (आश्रय) हैं, हनन करे, उसे दोष कहते हैं।’^१ स्पष्टतः यह लक्षण मम्मट के दोषलक्षण का असमर्थ अनुवाद है। ‘हति’ को सोमनाथ ने ‘हनन’ के रूप में ग्रहण किया, यह देखा जा चुका है। मम्मट का ‘हति’ से अभिप्राय है ‘अपकर्ष’।

वास ने दोष-प्रतिपादन करते समय दोष का लक्षण नहीं किया, पर अपने ग्रन्थ के प्रथम उल्लास में उसके सम्बन्ध में कहा है कि वे काव्य की कुरूपता के जनक होते हैं।^२ इस कथन से दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता।

जनराज के अनुसार दोष कवित्त को बिगाड़नेवाले होते हैं और शब्द तथा अर्थ से प्रकट होते हैं।^३ यह लक्षण भी अपूर्ण एवं स्थूल है। कवित्त के बिगाड़ जाने का अभिप्राय स्पष्ट नहीं किया गया है। दूसरे, रसदोषों का ग्रहण लक्षण से नहीं होता, जिनका जनराज ने प्रतिपादन किया है।^४

जगत्सिंह का दोष-लक्षण ‘चन्द्रालोक’ के लक्षण पर आधृत है। शब्द और अर्थ की सुन्दरता हरण करनेवाले को उन्होंने दोष कहा है।^५ जयदेव की ‘रमणीयता’ का ‘सुन्दरता’ के रूप में अनुवाद किया गया है।

प्रतापसाहि ने दोष उसे माना है, जो मुख्य अर्थ के बोध में घात करे और शब्दगत, अर्थगत और रसगत हो।^६ यह लक्षण मम्मट के दोषलक्षण का अपूर्ण एवं अस्पष्ट अनुवाद है। ‘रस’ की मुख्यार्थता और उसके आश्रय से वाच्यादि की जो मुख्यार्थता मम्मट ने प्रतिपादित की है, उसका प्रतापसाहि के लक्षण में उल्लेख नहीं है।

सेठ कन्हैयालाल पौद्धार ने ‘मुख्य अर्थ की प्रतीति को हानि (अपकर्ष) पहुँचाने-वाली वस्तु को दोष’ कहा है।^७ यहाँ तक तो मम्मट के लक्षण का अनुकरण है। बाद में

१. “रस को मुख कहि हनत है, जिहि सव्दारथ ओट।

तासों दूषन कहत है कवि रसिकनि के जोट॥”

—‘रसपीयूषनिधि’, २०।१।

२. ‘दूषन करे कुरूपता।’

—‘काव्यनिर्णय’, २३।१।

३. ‘प्रगटत सव्दरथ अर्थ तैं दूषन कवित्त बिगा (र)।’

—‘कवितारसविनोद’, अष्टम विनोद, १७।

४. वही, पृ० १२० से १२४।

५. “शब्द अर्थ सुन्दरता जो हरि लेत।

ताहि दोष करि जानो सुकवि सचेत॥”

—‘साहित्यसुधानिधि’, १०।१।

६. “अर्थ बोध के मुख्य में घात करत जो होइ।

ताको दूषन कहत हैं, शब्द अर्थ रस सोई॥”

—‘काव्यविलास’, ६।१।

७. काव्यकल्पद्रुम, सप्तम स्तवक, पृ० ३९१।

पोद्दारजी ने इसका भाष्य करते हुए कहा है कि 'कवि जिस वस्तु में जहाँ चमत्कार दिखाना चाहता है, वही मुख्य अर्थ है।' उनके अनुसार रस, भाव, वाच्यार्थ और शब्द सब मुख्यार्थ हो सकते हैं, यदि कवि इनकी उत्कृष्टता दिखाये।^१ 'मुख्यार्थ' की यह व्याख्या मम्मट के आधार पर नहीं है, उनके व्याख्याकार गोविन्द ठक्कुर की व्याख्या पर निर्भर है। किन्तु आगे चलकर जब पोद्दारजी यह कहते हैं कि 'रस, भाव आदि का उपकारक होने के कारण वाच्यार्थ को और रस, भाव आदि तथा वाच्यार्थ का उपयोगी होने के कारण शब्द को भी यहाँ मुख्यार्थ माना है';^२ तब वे मम्मट के लक्षण की अघूरी उद्धरणी प्रस्तुत करते हैं। अघूरी इसलिए कि मम्मट-मान्य रस की मुख्यता और उसके आश्रय से वाच्यादि की मुख्यता का उल्लेख नहीं किया गया है। 'अपकर्ष' शब्द की व्याख्या में पोद्दारजी का कहना है कि 'अप-कर्ष' तीन प्रकार से होता है—'(१) काव्य के आस्वाद (आनन्द) के रुक जाने से, (२) काव्य की उत्कृष्टता को नष्ट करनेवाली किसी वस्तु के बीच में आ जाने से और (३) काव्य के आस्वाद में विलम्ब करनेवाले कारणों की स्थिति हो जाने से।' इस व्याख्या का आधार भी 'काव्यप्रदीप' ही है।

षण्डित राक्षसद्विहिन मिश्र ने 'अग्निपुराण', 'साहित्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश', 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' तथा 'काव्यप्रदीप' के दोष-लक्षणों को उपस्थित किया है, पर अपना मत नहीं दिया है।^३

हिन्दी-लक्षणग्रन्थों में प्रतिपादित दोष-लक्षणों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनमें मौलिकता कहीं नहीं है। अधिकांश लक्षण 'काव्यप्रकाश' या 'काव्यप्रदीप' पर आधृत हैं। इन पुस्तकों के विचारों का सर्वाधिक सही रूप प्रस्तुत किया है कुमारमणि ने, जिनके लक्षण की ऊपर चर्चा हो चुकी है। उसके बाद पोद्दारजी का स्थान आता है। शेष आचार्यों के लक्षण तो ध्यान देने योग्य ही नहीं हैं। अतः दोष-लक्षणों की समीक्षा के लिए हिन्दी-लक्षणों की अपेक्षा संस्कृत के लक्षणों को आधार बनाना ही उपयुक्त है।

दोष-लक्षण के सम्बन्ध में विविध आचार्यों की मान्यताओं का समाहार इस प्रकार है—

क. दोष काव्य के घात-स्थान हैं। (नाट्यशास्त्र)^४

१. काव्यकल्पद्रुम, सप्तम स्तवक, पृ० ३९१।

२. वही।

३. वही, पृ० ३९२।

४. वही।

५. देखिए, काव्यदर्पण, पृ० ३७५।

६. देखिए, इसी अध्याय के प्रारम्भ में 'नाट्यशास्त्र' शीर्षक प्रकरण।

- ख. वे सहृदयों के उद्वेग के कारण हैं। (विष्णुधर्मोत्तरपुराण, काव्यादर्श और अग्नि-पुराण)^१
- ग. वे गुण-विपर्यय हैं। (वामन)^२
(विपर्यय का अर्थ अभाव ही नहीं, वैपरीत्य भी है।)
- घ. वे काव्यसौन्दर्य के आक्षेप-हेतु (वामन के अनुसार) या विघात-हेतु (जयदेव के अनुसार) हैं।^३
- ङ. दोष का अर्थ है अनौचित्य, जो रसभंग का मुख्य कारण है और इसीलिए जिसका अर्थ है विवक्षित रस की प्रतीति में विघ्न-विधायकता (महिमभट्ट)^४
- च. दोष का अर्थ है काव्य के मुख्यार्थ रस, उसके आश्रय वाच्य और उपायभूत शब्द की हति और अपकर्ष। (मम्मट)^५
- छ. दोष रसापकर्षकत्व को कहते हैं (हेमचन्द्र-विश्वनाथ)^६
- ज. काव्य के अपकर्ष करनेवालों को 'दोष' कहते हैं। (विद्यानाथ-विश्वनाथ)^७
- झ. दोष की मुख्यार्थहति का अभिप्राय है उद्देश्यप्रतीति-विघात। (गोविन्द ठक्कुर)^८
- ञ. रसोत्पत्ति-प्रतिबन्धकत्व को 'दोष' कहते हैं। (केशव मिश्र)^९

दोष-विवेचन के आरम्भिक काल में उसकी यह स्थूल धारणा स्वाभाविक थी कि दोष से काव्यत्व का घात होता है। इसके साथ ही गुण-दोष के विपर्ययात्मक सम्बन्ध का बोध भी आरम्भ में होना सहज था, चूँकि गुण या दोष में से किसी एक की चर्चा उठते ही दूसरे का रूप ध्यान में आ जाता है। काव्यगत गुणदोष के विवेचन के समय सामान्यतया जीवन की गुणदोष-धारणा का रूप आ खड़ा होता है। जीवन में गुणदोष की युग्मचेतना मन में उसी प्रकार आती है, जिस प्रकार सुख-दुःख, शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय, प्रकाश-अन्धकार की युग्म-चेतना आती है। इन युग्मों में से एक को दूसरे का विपर्यय समझ लेना स्वाभाविक है। 'नाट्यशास्त्र' से रुद्रट के काल तक गुण-दोष के विपर्ययात्मक सम्बन्ध की विवेचना

१. देखिए, इसी अध्याय का 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' और 'अग्निपुराण' शीर्षक प्रकरण।
२. देखिए, इसी अध्याय का 'वामन' शीर्षक प्रकरण।
३. देखिए, इसी अध्याय का 'वामन' तथा 'जयदेव' शीर्षक प्रकरण।
४. देखिए, इसी अध्याय का 'महिमभट्ट' शीर्षक प्रकरण।
५. देखिए, इसी अध्याय का 'मम्मट' शीर्षक प्रकरण।
६. देखिए, इसी अध्याय का 'हेमचन्द्र' और 'विश्वनाथ' शीर्षक प्रकरण।
७. देखिए, इसी अध्याय का 'विद्यानाथ' शीर्षक प्रकरण।
८. देखिए, इसी अध्याय का 'गोविन्द ठक्कुर' शीर्षक प्रकरण।
९. देखिए, इसी अध्याय के 'गोविन्द ठक्कुर' शीर्षक प्रकरण का तीसरा अनुच्छेद।

इसी कारण होती रही। किन्तु दोष के इस वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण से आगे बढ़कर उसका आत्मनिष्ठ दृष्टि से भी विचार आरम्भ हुआ और दुष्टरचना के भावक के मन पर पड़े प्रभाव को लक्षित किया गया। दोष की उद्देजनीयता के रूप में चर्चा इसी का परिणाम थी। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' और दण्डी के 'काव्यादर्श' में इस विषय की चर्चा एक दोष के प्रसंग में की गई। आगे चलकर इसे दोष सामान्य की विशेषता माना गया। 'अग्नि-पुराण' में इसी कारण दोष का सामान्य लक्षण ही सभ्यों के मन में उद्देग उत्पन्न करनेवाले के रूप में हुआ।

किन्तु दोष पर वस्तुगत दृष्टिकोण से विचार स्थगित नहीं हुआ। काव्य के अपकार का सूक्ष्म स्वरूप समझने की चेष्टा की गई। काव्य की सामान्य कथन या वार्त्ता से भिन्नता है, यह जब स्पष्ट हुआ, तब काव्य-सौन्दर्य की व्याख्या विभिन्न तत्त्वों के रूप में की गई। किसी ने अलंकार को, किसी ने रीति को, किसी ने गुण को तो किसी ने वक्रोक्ति को काव्य के इस प्राण-सौन्दर्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। दोष को 'काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतु' कहा जाना स्वाभाविक था। पर ध्वनिवादी-रसवादी आचार्यों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने यह दिखाने का प्रयास नहीं किया कि जिस तत्त्व को उन्होंने आत्मतत्त्व के रूप में मान्यता दी है, उसमें दोष के द्वारा किस प्रकार आक्षेप होता है। सर्वप्रथम ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने रस-ध्वनि की दृष्टि से दोषों का दोषत्व सिद्ध किया और उनकी नित्यता-अनित्यता की व्याख्या इसी पर आधारित की। कहा जा चुका है कि दोष का अर्थ हुआ रसमंग और उसका मूल कारण माना गया अनौचित्य। महिमभट्ट और भोज की दोष-धारणा का आधार आनन्दवर्धन की विचारधारा रही। मम्मट ने पूर्ववर्ती ध्वनिवादी मान्यताओं का समाहार करते हुए दोष को 'मुख्यार्थहति' कहा और रस को मुख्यार्थ बताया। पर उन्होंने रस के आश्रयभूत वाच्य और उनके उपयोगी शब्दादि की भी मुख्यार्थता स्वीकार की। ध्वनिवाद से रस का महत्त्व बढ़ ही गया था। विश्वनाथ ने उसे ही काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए रसात्मक वाक्य के रूप में काव्य का लक्षण किया। इनके द्वारा रसापकर्षक के रूप में दोष को स्वीकार किया जाना स्वाभाविक था। विश्वनाथ ने आरम्भिक परिच्छेद में दोष को काव्यापकर्षक कहा है।^१ उनकी काव्य-परिभाषा को ध्यान में रखने पर दोष के इन दोनों लक्षणों में कोई अन्तर नहीं होता। किन्तु, विद्यानाथ ने काव्यापकर्षक के रूप में जो दोष का लक्षण किया, उसका भिन्न कारण है। वे रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते

१. "गतोऽस्तमको भतीन्दुर्यायन्ति वासाय पक्षिणः।

इत्येवमादि किं काव्यं वात्समिनां प्रचक्षते॥"

—भामह-कृत काव्यालंकार, २।८७।

२. "वाक्यं रसात्मकं काव्यं दोषास्तत्स्थापकर्षकाः।"

—साहित्यदर्पण, १।३।

हुए प्रतीत नहीं होते। रसवाद से अप्रभावित अन्य आचार्यों में भी जयदेव ने, दोष का लक्षण, 'काव्यसौन्दर्यविघातक' के रूप में किया। इस प्रकार, दोष के लक्षण-निरूपण का आधार उत्तरध्वनिकाल में काव्य की आत्मा के रूप में विविध तत्त्वों की स्वीकृति है।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के दोष-लक्षणों की प्रेरक विचारधारा का विश्लेषण कर लेने के पश्चात् यह प्रश्न स्वभावतः उठ खड़ा होता है कि दोष की सही धारणा इन लक्षणों में से कौन प्रस्तुत करता है या कि सभी इस दृष्टि से असमर्थ हैं। इस बात के निर्णय के लिए इन लक्षणों की परीक्षा अपेक्षित है। दोष का गुण-विपर्यय के रूप में लक्षण करने से विपर्यय का अभिप्राय स्पष्ट करना और गुण का लक्षण करना आवश्यक हो जाता है। दूसरे, जो वस्तु भावात्मक सत्ता रखती है, उसकी किसी दूसरी वस्तु के विपर्ययात्मक सम्बन्ध के द्वारा व्याख्या करना कहाँ तक उचित है, यह स्पष्ट है। परिभाषा में निषेधात्मक प्रणाली का ग्रहण किया जाना परिभाषाकार की असमर्थता का सूचक है। सौन्दर्यक्षेपहेतु या सौन्दर्य-विघातहेतु के रूप में दोष की परिभाषा बड़ी स्थूल है। 'सौन्दर्य' क्या है और उसके आक्षेप या विघात की प्रक्रिया और स्वरूप क्या है, इसे स्पष्ट करने की अपेक्षा बनी रहती है। सहृदयोद्बेजकता के रूप में दोष की परिभाषा करने से दोष के कार्य या प्रभाव की सटीक व्याख्या हो जाती है। इस दृष्टि से यह परिभाषा समर्थ है। पर इस उद्बेजकता के मूल कारण की व्याख्या करने से दोष का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता। दोष के प्रति इस परिभाषा में वस्तुगत दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है। दोष को रसापकर्षक मानने में 'रस' को काव्य की अनिवार्य शक्ति मान लेना पड़ता है। हल्के चमत्कार से युक्त रसहीन उक्ति के दोषत्व का ग्रहण उक्त लक्षण द्वारा नहीं हो पाता। वस्तुतः इन श्रमेलों में नहीं पड़ने के कारण ही दोष का लक्षण विद्यानाथ के द्वारा काव्यापकर्षक के रूप में प्रस्तुत किया गया। डॉ० नगेन्द्र भी दोष की काव्य के अपकारक तत्त्व के रूप में ही परिभाषा देते हैं।^१ उनका तर्क है कि जब काव्य का सौन्दर्य वस्तुगत समझा गया था, तो दोष शब्दार्थ से सम्बद्ध माने गये और जब काव्यसौन्दर्य आत्मगत मान्य हुआ, तब उन्हें रस से सम्बद्ध किया गया। पर दोष की स्थिति में कोई फर्क नहीं आया। वे पहले भी काव्य के अपकारक थे, बाद में भी रहे।^१ डॉ० नगेन्द्र का कथन सही है। किसी को भी यह मान लेने में आपत्ति नहीं होगी कि दोष से काव्य का अपकर्ष या अपकार होता है। पर दोष की यह परिभाषा बड़ी स्थूल है। काव्य के अपकर्ष या अपकार का अर्थ क्या है, इस जिज्ञासा का समाधान अपेक्षित होता है। हमारी समझ में सदोष रचना में काव्यत्व का अपकार इस दृष्टि से होता है कि अभिप्रेत अनुभूति

१. "अतएव, दोष का सामान्य लक्षण यही संगत है : काव्य के अपकारक तत्त्वों का नाम दोष है।"—डॉ० नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, पृ० ७९।

२. "काव्य के सम्बन्ध में उनकी स्थिति वही रही—पहले भी वे काव्य के अपकारक थे और बाद में भी वही रहे।"—वही, पृ० ७९।

की असमर्थ या असफल अभिव्यक्ति होती है। काव्य में निबद्ध अनुभूति कवि को जिस रूप में प्राप्त हुई थी और जिस रूप में उसे वह अभिव्यक्त करना चाहता है, वैसी न होने में दोषों का हाथ रहता है। इस दृष्टि से गोविन्द ठक्कुर का यह दोष-लक्षण कि 'उद्देश्यप्रतीति-विघातकता' का नाम दोष है, अधिक संगत और उपयुक्त है।

उपयुक्त लक्षण की उपयुक्तता पर विस्तार से विचार करना यहाँ अपेक्षित प्रतीत होता है। नीरस-सरस सभी प्रकार के काव्य के दोषों में इस लक्षण की व्याप्ति हो जाती है। आस्वादक की अनुभूति पर यहाँ ध्यान रखा गया है। भावक के आस्वाद में जो कुछ भी बाधक, अवरोधक, प्रतिबन्धक या उद्बेजक हैं, सबका दोष-रूप में ग्रहण इस लक्षण द्वारा हो जाता है। दोष को उद्देश्य या अभिमत अर्थ की प्रतीति में विघात मानने से ऐसे विचार-प्रधान काव्य-दोषों का संकेत करने का अवसर मिल जाता है, जिनमें स्रष्टा का लक्ष्य रसात्मक आनन्द की सिद्धि-भर नहीं है। काव्य का लक्ष्य आनन्दानुभूति मानें या आत्माभि-व्यक्ति या अन्तर्वृत्तियों का सामञ्जस्य और अधिकतम सन्तुष्टि—'उद्देश्य' में सबका समावेश हो जाता है। जो लोग काव्यास्वाद को अनिवार्यतः रसात्मक या आनन्दात्मक मानने के पक्ष में नहीं हैं, उन्हें भी इस दोष-लक्षण को स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होगी।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि काव्यालोचन में दोष-दर्शन के सही स्थान और स्वरूप का भी इस लक्षण में परिचय मिलता है। प्रायः आलोचक काव्य में निबद्ध अनुभूति के मूल्य-निर्धारण के क्रम में अपनी दोष-धारणा का रूप व्यक्त करते हैं। कोई काव्यानु-भूति यदि उनके प्रतिकूल हुई तो वे उस काव्य को दुष्ट मान लेते हैं। वस्तुतः दोष का अनु-भूति के मूल्य-निर्धारण में हाथ नहीं होना चाहिए। उसका तो इतना ही प्रयोजन है कि वह निबद्ध अनुभूति की 'प्रतीति', जिसे पाश्चात्य शब्दावली में प्रेषण-योग्यता कहेंगे, की त्रुटियों की सीमांसा करे। इस प्रकार की त्रुटियाँ अनुभूति की त्रुटियों के रूप में दिखाई पड़ सकती हैं। पर अनुभूति का मूल्य केवल त्रुटियुक्त या त्रुटि-रहित अभिव्यक्ति पर ही निर्भर नहीं है। कोई अनुभूति त्रुटिपूर्ण या अपूर्ण अभिव्यक्ति पाकर भी महान्, गरिमापूर्ण और उदात्त हो सकती है। अतः उसका मूल्यांकन भी उसकी इस महत्ता के आधार पर ही होना चाहिए। यद्यपि काव्यालोचन में अनुभूति की प्रेषणीयता की सफलता-विफलता का विश्लेषण बड़ा ही महत्वपूर्ण है, तथापि काव्य-मूल्यांकन में उसके प्राविधिक विश्लेषण का गौण महत्त्व है और दोष का प्रकृत क्षेत्र काव्य की यह प्राविधिक आलोचना ही है। किसी काव्य को उसकी उच्चता-निम्नता के आधार पर अच्छी या बुरी कहने का अर्थ उसे सदोष कहना नहीं है।^१ अनुभूति का महत्त्व-निर्णय मूल्यांकन की उन सामान्य कसौटियों से

१. "Sometimes art is bad because communication is defective, the vehicle inoperative, sometimes because the experience communi-
cated is worthless; sometimes for both reasons. It would perhaps

सम्बन्ध रखता है, जिनके निर्धारण में दोष-विवेचन का सीमित हाथ है। गोविन्द ठक्कुर के दोष-लक्षण में 'उद्देश्यविधात' का उल्लेख न होकर 'उद्देश्यप्रतीतिविधात' का उल्लेख उपर्युक्त दृष्टि से बड़ा सार्थक है, यद्यपि कहना कठिन है कि उन्होंने इस दृष्टि से उक्त शब्दावली का प्रयोग किया था।

किन्तु उपर्युक्त दोष-लक्षण से एक बात का स्पष्टीकरण नहीं होता। उद्देश्य-प्रतीति के इस विधात के अनेकविध कारणों में कोई सामान्य मूल कारण ढूँढा जा सकता है या नहीं? गहराई से देखने पर प्रतीत होता है कि उनमें सामान्यतया एक सूक्ष्म तत्त्व पाया जा सकता है। इस तत्त्व को ही संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'अनौचित्य' कहा गया है। अनौचित्य का अर्थ है औचित्य का अभाव और उचित के भाव को औचित्य कहा गया है।^१ उचित की व्याख्या में क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जो जिसके सदृश (अनुरूप) हो, उसको प्राचीन आचार्य उचित कहते हैं।^२ यह औचित्य वस्तुतः संस्कृत-काव्यशास्त्र में बड़े व्यापक अर्थों में गृहीत हुआ है। इसके द्वारा काव्य के नैतिक-सौन्दर्यात्मक मानदण्डों के सूक्ष्म स्वरूप को संकेतित किया गया है और काव्य की विशिष्टता की रक्षा की गई है। औचित्य का तत्त्व काव्य के अन्य सभी तत्त्वों को अपनी परिधि में समेटे हुए है, इसका स्पष्ट उल्लेख महामहोपाध्याय डॉ० कुप्पूस्वामी ने किया है।^३ उनके द्वारा संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित सभी तत्त्वों का परस्पर सम्बन्ध दिखानेवाला जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें औचित्य वृत्तपरिधि के रूप में संकेतित किया गया है।^४ औचित्य को सहृदय की सुरुचि से उत्पन्न ऐसा Poetic censor कह सकते हैं, जो काव्यास्वाद के समय सर्वाधिक सक्रिय रहता है। इस औचित्य का जहाँ भी व्यतिक्रम हुआ, दोष का आगम हो गया। अतः दोषलक्षण को अधिक स्पष्ट एवं पूर्ण बनाने के लिए हमारा संशोधन है—'अनौचित्यमूलक उद्देश्यप्रतीतिविधात को दोष कहते हैं।'

be best to restrict the term bad art to cases in which genuine communication does to a considerable degree take place, what is communicated being worthless, and to call the other cases defective art."—I. A. Richards : Principles of Literary Criticism, Chap. XXV, p. 199.

१. 'उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते।'

—क्षेमेन्द्रकृत औचित्यविचारचर्चा, कारिका ७।

२. 'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।'

—वही, ७।

३. "औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।

गुणालङ्काररीतीनां नयाद्वचानुवाङ्मयाः॥"

—महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी-कृत 'हाइवेज ऐण्ड वाइवेज ऑव लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत', पृ० २७ पं० उल्लिखित।

४ वही, पृ० २७।

विशिष्ट दोषों का विकास

(क) संस्कृत-काव्यशास्त्र में दोष-विवेचन

नाट्यशास्त्र

संस्कृत-काव्यशास्त्र की प्राचीनतम उपलब्ध पुस्तक 'नाट्यशास्त्र'^१ के सोलहवें अध्याय में दस काव्यदोष माने गये हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं : १. गूढार्थ, २. अर्थान्तर, ३. अर्थहीन, ४. भिन्नार्थ, ५. एकार्थ, ६. अमिष्टुतार्थ, ७. न्यायादपेत, ८. विषम, ९. विसन्धि तथा १०. शब्दच्युत।^२ 'नाट्यशास्त्र' में इन दोषों के लक्षण पर्याप्त स्पष्ट नहीं हैं। उनकी न तो व्याख्या की गई है और न उनके उदाहरण ही दिये गये हैं। विभिन्न संस्करणों के लक्षणों में पाठभेद भी मिलता है। 'नाट्यशास्त्र' की परवर्ती काव्यशास्त्रीय पुस्तकों में न तो उक्त सभी दोष गृहीत हुए हैं और न गृहीत दोषों का लक्षण वह है, जो 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित है। स्वभावतया इन दोषों के स्वरूपोद्घाटन में परवर्ती पुस्तकों से भी सहायता नहीं मिलती। 'अभिनवभारती' की रचना इतने पीछे हुई है कि उसकी व्याख्या में तत्कालीन दोष-मान्यताओं का मिश्रण सम्भव है। परिणामतः 'नाट्यशास्त्र' के उक्त दोषों का स्वरूपोद्घाटन कठिन हो गया है और मतभेद को अवकाश मिल गया है।

१. "The Nāṭyaśāstra must be regarded in the present state of our knowledge as the oldest work on the Alankarśāstra."

—P. V. Kane : 'History of Sanskrit Poetics' ; p. 46.

२. "गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिष्टुतार्थम् ।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धिशब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥"

—नाट्यशास्त्र, १६।८४, काव्यमाला-संस्करण, पृ० १७५।

३. (क) 'भरत-नाट्यशास्त्र का रचनाकाल विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक से द्वितीय शतक विक्रमी तक माना जाता है।'

—पं० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, पृ० ३३।

(ख) तथा अभिनवगुप्त के काल के सम्बन्ध में—'इनका आविर्भाव-काल दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का आरम्भ-काल है।'

—वही, पृ० ७६।

‘नाट्यशास्त्र’ में ‘गूढार्थ’ का लक्षण इस रूप में प्राप्त है—“जो पर्याय शब्दों से अभिहित हो।” इस सम्बन्ध में डॉ० व्ही० राघवन् का कथन है कि इस दोष के लक्षण की अपेक्षा नाम ही अधिक स्पष्ट है और यह दोष उन सभी स्थितियों की ओर संकेत करता है, जहाँ ‘प्रसाद’ का अभाव हो।^१ हम डॉ० राघवन् के कथन से सहमत नहीं हैं। जब इस दोष-लक्षण में एक स्थिति का उल्लेख है, तब उसे सामान्य ‘अप्रसादत्व’ का वाचक मानना समीचीन नहीं। लक्षण की उपेक्षा कर अभिधान-मात्र के अर्थ को महत्त्व देना भी उपयुक्त नहीं। वस्तुतः ‘नाट्यशास्त्र’ का ‘गूढार्थ’ दोष वहाँ मानना चाहिए, जहाँ किसी वस्तु के प्रचलित नाम को छोड़कर उसे अप्रचलित पर्याय से सूचित किया जाय। ‘हिरण्वाक्ष’ के लिए ‘कनकलोचन’ का प्रयोग ऐसा ही है। ‘नाट्यशास्त्र’ के लक्षण का यही मन्तव्य है। अभिनवगुप्त ने भी ‘दशरथ’ के लिए ‘अधिकनवविमान’ शब्द के प्रयोग को ‘गूढार्थ’ का उदाहरण मानते हुए^२ अपनी यह महत्त्वपूर्ण मान्यता व्यक्त की है कि यदृच्छा शब्दों को पर्यायभाक् नहीं मानना चाहिए।^३

‘गूढार्थ’ के सम्बन्ध में डॉ० एस० के० दे का यह कथन कि पर्याय शब्दों द्वारा की गई अभिव्यक्ति को ‘गूढार्थ’ का लक्षण नहीं माना जा सकता; क्योंकि उस स्थिति में ‘एकार्थ’ से उसका कोई अन्तर नहीं रहेगा,^४ संगत नहीं। कल्पित असंगति की आशंका से स्पष्टतः व्यक्त शब्दों के सही अभिप्राय का खण्डन उपयुक्त नहीं। ‘एकार्थ’ में भिन्न शब्दों से अर्थ की पुनरुक्ति होती है,^५ ‘गूढार्थ’ में पुनरुक्ति नहीं होती, वस्तु को अप्रचलित पर्याय

१. पर्यायशब्दाभिहितं गूढार्थमभिसंज्ञितम् ।

—नाट्यशास्त्र, १६।८५, काव्यमाला-संस्करण, पृ० १७५।

२. “The name is more plain than the description. It seems to refer generally to all cases where there is no Prasad or lucidity in expression and consequently the meaning is obscure.”

—Dr. V. Raghavan : Bhoja's Sringar Prakash, Vol. I, Part II, p. 230.

३. ‘सोक कनकलोचन मति छोनी ।’ —तुलसीदास : रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, पृ० २९३।

४. ‘यथा ‘दशरथ’ इति वक्तव्ये बलात्परिकल्पितेन वस्तुनः पर्यायशब्देनाभिधानं ‘अधिकनवविमान’ इति ।’

—अभिनवभारती : ‘नाट्यशास्त्र’ का गायकवाड़-संस्करण, द्वितीय खण्ड पृ० ३३१।

५. ‘न हि यदृच्छा शब्दाः पर्यायभाजः ।’

—वही, पृ० ३३१।

६. देखिए, ‘हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स’ : एस० के० दे, खण्ड २।

७. ‘एकार्थस्याभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम् ।’

—नाट्यशास्त्र, काव्यमाला-संस्करण, १६।८८, पृ० १७६।

से सूचित किया जाता है।^१ इस प्रकार दोनों दोषों में स्पष्ट अन्तर है। प्रथम का दोषत्व पुनरुक्ति पर आधृत है, द्वितीय का वाचक की गूढ़ता पर।

‘अर्थान्तर’ का नाट्यशास्त्रीय लक्षण है—‘जहाँ अवर्ण्य का वर्णन हो।’^२ ‘अवर्ण्य’ का अभिप्राय ‘वर्णन के लिए अनोक्षित’ और ‘वर्णन के अयोग्य’, दोनों हो सकते हैं। ‘नाट्यशास्त्र’ में इनका कौन अभिप्राय विवक्षित है, कहना कठिन है। यदि प्रथम अभिप्राय हो तो यह दोष तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र से सम्बद्ध होगा, यदि दूसरा अभिप्राय हो, तो यह दोष व्यापक रूप से औचित्य-भंग का उदाहरण हो जायगा।

‘अर्थहीन’ के लक्षण में दो स्थितियों का एक साथ उल्लेख है। जहाँ १. असम्बद्ध और २. अशेषार्थ का कथन हो, वहाँ इस दोष की सत्ता मानी गई है।^३ ‘असम्बद्ध’ का अभिप्राय ‘सम्बन्धभाव’ भी हो सकता है और ‘सम्बन्ध-विरोध’ भी। ‘नाट्यशास्त्र’ के लक्षण में कौन-सा अभिप्राय उद्दिष्ट है, कहना कठिन है। यदि प्रथम अभिप्राय हो, तो ‘न्याय’ के ‘अपार्थक्य’ दोष से इसकी अभिन्नता होगी और यदि दूसरा मन्तव्य लक्षणकार का इष्ट हो, तो ‘न्याय’ के ही ‘व्याघात’^४ दोष से इस दोष का तादात्म्य होगा। डॉ० व्ही० राघवन् ‘अर्थहीन’ की ‘असम्बद्धता’ का प्रथम अभिप्राय ग्रहण कर उसका ‘अपार्थक्य’ से एकीभाव बताते हैं।^५ किन्तु हम इसके द्वितीय अभिप्राय ग्रहण किये जाने के पक्ष में हैं। कौटिल्य के ‘अर्थशास्त्र’ में ‘सम्बन्ध’ एक लेख-गुण के रूप में मान्य है, जिसका लक्षण दिया गया है पूर्वापर-विरोध के अभाव के रूप में।^६ इस गुण के विपर्यय ‘असम्बन्ध’ का अभिप्राय वहाँ स्वभावतः ‘व्याघात’ है। ‘नाट्यशास्त्र’ के ‘अर्थहीन’ की ‘असम्बद्धता’ की पूर्व परम्परा यही है। अमिनवगुप्त के उदाहरण और टिप्पणी में भी ‘पूर्वापरविरोध’ रूप अभिप्राय ही गृहीत है।^७ दूसरे,

१. ‘अवर्ण्यं वर्ण्यते यत्र तदर्थान्तरमिष्यते।’ —वही, १६।८५, पृ० १७५।

२. ‘अर्थहीनं त्वसम्बद्धं सात्वशेषार्थमेव च।’ —वही, १६।८६, पृ० १७५।

३. ‘अपार्थक्यं नाम यदर्थवच्च परस्परेण चायुज्यमानार्थकम्।’
—चरकसंहिता, पृ० ११७६।

४. ‘तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः।’ —न्यायसूत्र, २।४, पृ० ४४।

५. See Bhoja's Srngar Prakash by Dr. V. Raghavan, vol. I, Pt. II, P. 230.

६. ‘प्रस्तुतस्य अनुरोधादुत्तरस्य विधानभासमाप्तेरिति सम्बन्धः।’
—कौटिल्य : अर्थशास्त्र, २।२।१०।१०, पृ० १४७।

७. “अर्थहीनं यथा—‘अद्यापि स्मरसि रसालसं मनो मे मुग्धायाः स्मरचतुराणि’।
अत्र पूर्वापरव्याघातादसम्बन्धता।”—अमिनवगुप्त की टीका—‘नाट्यशास्त्र’,
खण्ड २, पृ० ३३२, गायकवाड़-संस्करण।

‘नाट्यशास्त्र’ के एक अन्य दोष ‘अभिप्लुतार्थ’ में तो ‘सम्बन्धाभाव’ या ‘समुदायार्थशून्यता’ की स्वीकृति है ही,^१ फिर दो जगहों पर एक ही अभिप्राय कैसे रह सकता है? कारण, तब दो दोषों में अन्तर नहीं रह जायगा।

‘अर्थहीन’ के लक्षण के दूसरे अंश में उल्लिखित ‘अशेषार्थ’ का अर्थ डॉ० एस० के० दे ने ‘अर्थ की बहुलता’ ग्रहण किया है।^२ किन्तु अर्थ की बहुलता श्लेष अलंकार के रूप में गुण भी हो सकती है। अतः लक्षणकार का यह अभिप्राय प्रतीत नहीं होता। दूसरे ‘सात्व-शेषार्थमेव च’ पाठ काव्यमाला-संस्करण का है, जो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। गायक-वाङ्-संस्करण में इसकी जगह ‘सावशेषार्थमेव च’ पाठ है,^३ जो व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध तो है ही, ऊपर जिस असंगति की चर्चा हुई है, उससे भी मुक्त है। अभिनवगुप्त की व्याख्या में यही पाठ स्वीकृत हुआ है, जो उनकी टिप्पणी से प्रमाणित है।^४ उन्होंने इस दोष की इस स्थिति का उदाहरण ‘स महात्माभाग्यवशान्महापथमुपागतः’ के रूप में दिया है, जहाँ अर्थ-निश्चय प्रकरणापेक्षी है। कारण, ‘भाग्यवश’ और ‘अभाग्यवश’ दोनों पाठ उक्त वाक्य में उद्दिष्ट हो सकते हैं।^५ ऐसी स्थिति में अर्थ-निश्चय नहीं होने के कारण पाठक के मन में सन्देह बना रहता है, अतः इसे दोष का उदाहरण मानना समीचीन है।

‘भिन्नार्थ’ नामक चौथे दोष के लक्षण में भी ‘अर्थहीन’ की तरह दो स्थितियों की एक साथ चर्चा है। पहली स्थिति है, जब असम्य अथवा ग्राम्य अर्थ का कथन हो।^६ प्रश्न है कि इस लक्षण का ‘भिन्नार्थ’ नाम से क्या सम्बन्ध? कभी-कभी उद्दिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कवि ऐसी शब्दावली का प्रयोग करता है, जो श्लेष अथवा समीपवर्ती शब्दों की

१. नाट्यशास्त्र में ‘अभिप्लुतार्थ’ का लक्षण इस प्रकार है : ‘अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत्पादेन समस्यते।’ (१६।१२) — नाट्यशास्त्र, द्वि० खण्ड, पृ० ३३२, गायकवाङ्-संस्करण। इस पर अभिनवगुप्त की टीका इस प्रकार है : “अभिप्लुतार्थं यथा— स राजा नीतिकुशलः सरः कुमुदशोभितम्।

सर्वप्रिया वसन्तश्रीग्रीष्मे मालतिकागमः॥

॥ अत्र प्रतिपादमर्थस्य परिसमाप्तत्वादभिप्लुतत्वम्, एकवाक्यत्वेन निमज्जनाभावात् ।”

—वही, पृ० ३३२।

२. देखिए, हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोएटिक्स, खण्ड २ : डॉ० एस० के० दे०।
 ३. देखिए, ‘नाट्यशास्त्र’ का गायकवाङ्-संस्करण, द्वितीय खण्ड, पृ० ३३२।
 ४. ‘अत्र हि सावशेषः प्रकरणापेक्षो वस्तुनिश्चयः, अभाग्यवशादित्यपि सम्भाव्यत्वात् ।’
 —वही, पृ० ३३२ : अभिनवगुप्त की टीका।
 ५. वही, पृ० ३३२, अभिनवगुप्त की टीका।
 ६. ‘भिन्नार्थमभिविज्ञेयमसम्यं ग्राम्यमेव च ।’

—‘नाट्यशास्त्र’, १६।८६, काव्यमाला-संस्करण, पृ० १७५।

एक साथ श्रुति के कारण एक अलग अर्थ भी देती है, जो असम्य अथवा अश्लील होता है। यहाँ अश्लीलता उद्दिष्ट अर्थ में नहीं, भिन्न अर्थ में रहती है। वामन के वाक्यगत अश्लील का उदाहरण ऐसा ही है।^१ 'भिन्नार्थ' नाम के साथ उसके लक्षण की यही संगति है।

'भिन्नार्थ' के लक्षण का दूसरा अंश पाठभेद-युक्त है। काव्यमाला-संस्करण के अनुसार यह स्थिति है : 'जहाँ विवक्षित अर्थ दूसरे अर्थ से छिन्न-भिन्न हो जाय।'^२ पर गायकवाड़-संस्करण में 'भिद्यते' की जगह 'विद्यते' पाठ है,^३ जिस आधार पर इस दोष का लक्षण होगा 'जब विवक्षित अर्थ दूसरे अर्थ से अपदस्थ हो जाय।' इस प्रकार दोनों पाठों से अर्थ में पर्याप्त अन्तर हो जाता है। अभिनवगुप्त की व्याख्या काव्यमाला-संस्करण के पाठ पर आधृत है।^४ चूँकि 'भिन्नार्थ' नाम की संगति दोनों पाठों से है, इसलिए निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता कि अमुक पाठ ही संगत है।

'नाट्यशास्त्र' का पाँचवाँ दोष 'एकार्थ' वहाँ माना गया है, जहाँ एक ही अर्थ का बार-बार कथन हो।^५ यह अर्थ की पुनरुक्ति है। गायकवाड़-संस्करण के पाठानुसार बिना किसी विशेषता के कथन में 'एकार्थ' माना गया है।^६ यदि इसका अभिप्राय 'बिना किसी विशेषता के पुनरुक्ति' हो, तो यह पाठ और अधिक उपयुक्त है। किन्तु अभिनवगुप्त ने 'अविशेषाभिधान' का अभिप्राय 'निष्प्रयोजन कथन' लिया है।^७ हमारा इस सम्बन्ध में निवेदन है कि 'एकार्थ' दोष की अभिनव-सम्मत धारणा भामह-दण्डी के काल तक प्रचलित

१. "न साधनोन्नतिर्या स्यात्कलत्ररतिदायिनी।

परार्थबद्धकक्ष्याणां यत् सत्यं पेलवं घनम्॥"

—वामन : 'काव्यालंकारसूत्र', पृ० ८६।

२. 'विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते।'

—'नाट्यशास्त्र', १६।८७, काव्यमाला-सं०, पृ० १७६।

३. 'विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन विद्यते।'—वही, गायकवाड़-संस्करण, पृ० ३३२।

४. "तृतीयं भिन्नार्थं यथा—'स्याच्चेदेष न रावणः' इत्युक्त्वा, क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः। इति। उद्दिष्टं ह्यत्र रावणस्यानुपादेयत्वं क्व नु पुनरित्यनेनान्यथा करणाद्भेदितम्।'

—वही, पृ० ३३२, अभिनवगुप्त की टीका।

५. 'एकार्थस्याभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम्।'—वही, १६।८८, काव्यमाला, पृ० १७६।

६. 'अविशेषाभिधानं यत्तदेकार्थमिति स्मृतम्।'—वही, गायकवाड़-संस्करण, १६/९२, पृ० ३३२।

७. "एकार्थं यथा—कुन्देन्दुहारहरहाससितम् इति। एक प्रयोजनं हि सर्वमेतत्।"

—वही, अभिनवगुप्त की टीका, पृ० ३३२।

यतिभेद।' इनमें 'विसन्धि' पूर्व परिगणित दस दोषों में अन्यतम है। 'छन्दोवृत्तत्याग', 'गुरु-लाघवसंकर' तथा 'यतिभेद' को 'विषम' का विस्तार कह सकते हैं। 'पुनरुक्त' 'एकार्थ' से साम्य रखता है। 'प्रत्यक्षपरोक्षसंमोह' को डॉ० राघवन् व्याकरण-सम्बन्धी कालदोष मानते हैं।^१ इसे, 'असमास', 'त्रिलिङ्ग' तथा 'विभक्तिभेद' को 'शब्दच्युत' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' के उपर्युक्त दस दोषों में एक ही दोष बचता है 'अपार्थ', जिसका न तो लक्षण दिया गया है, न उदाहरण। भामह के काव्यालंकार में समुदायार्थशून्य कथन को 'अपार्थ' कहा गया है।^२ इसे 'अभिप्लुतार्थ' से या 'अर्थहीन' से (यदि इसकी असम्बद्धता का अभिप्राय सम्बन्धाभाव लिया जाय) अभिन्न मान सकते हैं। इस प्रकार ये सभी दोष नाट्यशास्त्र के आरम्भिक दस दोषों में अन्तर्भुक्त किये जा सकते हैं, फिर भी दो स्थलों पर 'नाट्यशास्त्र' में दोष-निरूपण सूचित करता है कि दोनों स्थल एक ही व्यक्ति की सृष्टि नहीं हैं। दूसरा स्थल परवर्ती संयोजन प्रतीत होता है।

मेधाविरुद्ध

भामह, 'नमिसाधु' तथा राजशेखर ने अपने-अपने ग्रन्थ में मेधाविरुद्ध नामक आचार्य का उल्लेख किया है,^३ किन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः इनके विषय में दूसरे आचार्यों द्वारा दी गई जानकारी पर ही हमें निर्भर करना होगा।

भामह ने जिन प्रसंगों में मेधावी का नामोल्लेख किया है, उनमें से एक दोष के साथ सम्बद्ध है। भामह के अनुसार मेधावी ने इन सात उपमा-दोषों का विवेचन

१. "पुनरुक्तं ह्यसमासो विभक्तिभेदो विसन्धयोऽपार्थः।

त्रिलिङ्गजाश्च दोषाः प्रत्यक्षपरोक्षसंमोहाः॥

छन्दोवृत्तत्यागा गुरुलाघवसङ्घट्टोत्पादभेदाः।

एतानि यथास्थलं घातस्थानानि काव्यस्य॥"

—वही, २७।३०-३१, काव्यमाला-सं०।

२ "Perhaps it refers to flaws of grammar regarding tenses and moods."

—Dr. R. Raghavan : Bhoj's Sringar Prakash, Vol. I, Pt. II, p. 233

३. 'समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थक्यमिष्यते।' —भामह-कृत काव्यालंकार, ४।८।

४. (क) 'त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।' —वही, २।४०।

(ख) 'ननु दण्डिमेधाविरुद्धभामहादिकृतानि सन्त्येवालङ्कारशास्त्राणि।' —रघट-कृत काव्यालंकार, पृ० २

(ग) 'यतो मेधाविरुद्धकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।' —राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा, पृ० २७।

किया है—१. हीनता, २. असम्भव, ३. लिंगभेद, ४. वचनभेद, ५. विपर्यय, ६. उपमानाधिक्य और ७. उपमानासादृश्य।^१ भामह ने इन सातों के उदाहरण भी दिये हैं। नमिसाधु ने भी मेधाविमान्य सात उपमा-दोषों का उल्लेख किया है^२ और उनके उदाहरण-स्वरूप आये छन्दों में से पाँच वे ही हैं, जो भामह द्वारा दिये गये उदाहरणों में आये हैं।^३ इससे यह सिद्ध होता है कि जो पाँच छन्द भामह और नमिसाधु द्वारा समानतः उद्धृत हैं, वे सर्वप्रथम भामह द्वारा उद्धृत न होकर मेधावी द्वारा ही उद्धृत हुए होंगे। कारण, इस प्रसंग में नमिसाधु ने भामह का नामोल्लेख नहीं किया है। वे भामह के नाम से परिचित थे, यह उनके द्वारा अन्यत्र उल्लेख से स्पष्ट है।^४

मेधाविमान्य सात उपमा-दोषों में से प्रथम दोष 'हीनता' के उदाहरण^५ से प्रकट है कि यह दोष वहाँ होता है, जहाँ उपमेय की सारी वर्णित विशेषताओं का उपमान-पक्ष में वर्णन नहीं रहता है, एक-दो विशेषताओं का ही रहता है। इस प्रकार उपमेय से उपमान की हीनता प्रकट होती है। दूसरे उपमादोष 'असम्भव' के उदाहरण^६ में अतिशीघ्रता से तीर को तरकश से निकालते हुए धनुष पर रखने की क्रिया की उपमा सूर्य से निकलनेवाली प्रज्वलित जलधारा से दी गई है। उपमेय से उपमान का लिंग भिन्न रहने पर 'लिंगभेद' तथा वचन भिन्न रहने पर 'वचनभेद' नामक दोष होता है। भामह के उदाहरण में 'राजा' उपमेय के लिए 'आपगा' का उपमानस्वरूप प्रयोग 'लिंगभेद' को स्पष्ट करता है और 'नारीणां'

१. "हीनताऽसम्भवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः।

उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि च॥

त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः॥"

—काव्यालंकारः भामह, ३।३९-४०।

२. "मेधाविप्रभृतिभिस्त्वं यथा—'लिङ्गवचनभेदो हीनताधिक्यमसम्भवो विपर्ययोऽसादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः'।"

—रुद्रटकृत काव्यालंकार, पृ० १४५।

३. भामहकृत काव्यालंकार २।४१, ४७, ५८, ५५ तथा ६३ एवं रुद्रटकृत 'काव्यालंकार' की नमिसाधु-कृत टीका में पृ० १४५-१४६ पर प्राप्य हैं।

४. 'भामहादिमतेन त्वर्थान्तरन्यास एव।' —रुद्रटकृत 'काव्यालंकार', पृ० ११६।

५. "समारुताकम्पितपीतवासा बिभ्रत्सलीलं शशिभासमब्जम्।

यदुप्रवीरः प्रगृहीतशार्ङ्गः सेन्द्रायुधो मेघ इवावभासे॥"

—भामहकृत 'काव्यालंकार', २।४१।

६. "निष्पेतुरास्यादिव तस्य दीप्ताः शरा धनुर्मण्डलमध्यभाजः।

जाज्वल्यमाना इव वारिधारा दिनार्द्धभाजः परिवेषिणोऽर्कात्॥"

—भामहकृत 'काव्यालंकार', २।४७।

के लिए 'तितीर्षतः' का प्रयोग 'वचनभेद' को।^१ पाँचवें दोष 'विपर्यय' के दो भेद माने गये हैं—हीनविपर्यय और अधिकविपर्यय। प्रथम का उदाहरण है 'राजा की कुत्ते से उपमा देना'^२ और द्वितीय का, पद्मासीन चक्रवाक की ब्रह्मा से उपमा देना।^३ छोटे उपमादोष 'उपमानाधिकत्व' के उदाहरण^४ से स्पष्ट है कि उपमेय की विशेषताओं से उपमान में अधिक विशेषताएँ रहने पर यह दोष होता है। सातवें दोष 'असदृशता' के उदाहरण में हाथी और मयूर की उपमाग्रहों से दी गई है,^५ जिनमें कोई सादृश्य नहीं है।

उपमादोषों के अतिरिक्त अन्य काव्यदोषों के सम्बन्ध में भी मेधावी ने कुछ लिखा था, इसका कोई आधार नहीं है। सम्भव है, उन्होंने केवल अलंकारों का विवेचन किया हो और उसी प्रसंग में उपमादोषों की चर्चा की हो। यदि अन्य काव्यदोषों का उन्होंने प्रतिपादन किया भी होगा, तो उसमें कोई ऐसी मौलिकता नहीं होगी, जिसका उल्लेख परवर्ती आचार्यों द्वारा आवश्यक समझा जाता। फिर भी काव्यशास्त्र में उपमादोषों के प्रतिपादन के प्रवर्तक के रूप में मेधावी का नाम स्मरणीय रहेगा।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रसंग में प्रायः पुराणों में 'अग्निपुराण' का उल्लेख होता रहा है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के काव्यशास्त्रीय अंशों की ओर श्री पी० ह्री० काणे ने

१. "अविगाह्योऽसि नारीणामनन्यमनसामपि।

विषमोपलभितोऽमिरापगेवोत्तितीर्षितः ॥"

—वही, २।५३।

२. "क्वचिदग्रे प्रसरता क्वचिदापत्य निघ्नता।

शुनेव सारङ्गकुलं त्वया भिन्नं द्विषां बलम् ॥"

—वही, २।५४।

३. "अयं पद्मासनासीनश्चक्रवाको विराजते।

युगादौ भगवान्नह्या विनिमित्सुरिव प्रजाः ॥"

—वही, २।५५।

४. "सपीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः।

शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥"

—वही, २।५८।

५. "वनेऽथ तस्मिन्वन्तितानुयायिनः प्रवृत्तवानाद्रंकटा मत्तङ्गजाः।

विचित्रवर्हभिरणाश्च वर्हिणो बभुर्विवीवामलविग्रहा ग्रहाः ॥"

—रुद्रट्टकृत 'काव्यालंकार' की नमिसाधु-कृत टीका, पृ० १४६ तथा भागहकृत काव्यालंकार, २।६३।

यद्यपि अच्छी तरह ध्यान दिया, तथापि इस पुराण का दोष-विवेचन उनकी दृष्टि में नहीं आया। इस पुराण के दोष-प्रतिपादन का सर्वप्रथम उल्लेख इसी प्रबन्ध में हो रहा है। जिन दस दोषों का उल्लेख इस पुराण में हुआ है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. छन्दोविरहित, २. शब्दशास्त्रविरोधी, ३. कष्टाक्षरपदन्यास, ४. अश्लीलवचनान्वित, ५. अप्रसिद्धाभिधान, ६. पुनरुक्त, ७. ससंशय, ८. प्रतिज्ञारहित, ९. पूर्वापरविरुद्ध तथा १०. लोकविगर्हित।^१ इन दोषों के लक्षण-उदाहरण यद्यपि इस पुराण में नहीं दिये गये हैं, तथापि इनके नाम ही इनके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं। इन दोषों में 'छन्दोविरहित', 'अप्रसिद्धाभिधान', 'अश्लीलवचनान्वित', 'पूर्वापरविरुद्ध', 'पुनरुक्त' तथा 'शब्दशास्त्रविरोधी' 'नाट्यशास्त्र' में क्रमशः 'विषम', 'गूढार्थ', 'भिन्नार्थ' (लक्षण के पूर्वांश के आधार पर), 'भिन्नार्थ' (लक्षण के उत्तरांश के अनुसार), 'एकार्थ' तथा 'शब्दहीन' नामक दोषों के रूप में वर्णित हुए हैं। शेष चार में तीन दोष पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रेतर ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। 'कष्टाक्षरपदन्यास' 'महाभारत' में 'कष्टपद' है और 'ससंशय', 'सन्दिग्ध'। 'प्रतिज्ञारहित' 'न्यायसूत्र' का 'प्रतिज्ञाहीन' है। एक ही नया दोष बचता है 'लोकविगर्हित'।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का दोष-प्रतिपादन 'नाट्यशास्त्र' से भिन्न किसी अनुपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ के दोष-प्रतिपादन के प्रति ऋणी प्रतीत होता है। कारण, 'नाट्यशास्त्र' के जो दोष यहाँ गृहीत हैं, वे भी भिन्न नाम से और उसके पाँच दोष तो अनुलिखित ही हैं। नाट्यशास्त्र के ये पाँच दोष हैं :—'अर्थान्तर', 'अर्थहीन', 'अभिप्लुतार्थ', 'न्यायादपेत' और 'विसन्धि'। इनमें से दो दोष ('न्यायादपेत' और 'विसन्धि') तो विष्णुधर्मोत्तरपुराण से परवर्ती काव्यशास्त्रीय पुस्तकों में भी गृहीत हैं^२, जिससे उनका प्रचलन सिद्ध है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी दोषों की संख्या दस ही स्वीकृत है, जिससे प्रतीत होता है कि उस काल तक दोषों की दस संख्या प्रायः सर्वस्वीकृत थी, भले ही, सूची में अन्तर मौजूद हो।

१. "छन्दोविरहितं गद्यं शब्दशास्त्रविरोधि च।

कष्टाक्षरपदन्यासमश्लीलवचनान्वितम् ॥

तस्मादुल्लङ्घ्यवाक्यार्थमप्रसिद्धाभिधानवत् ।

काव्यबन्धं न कर्तव्यं पुनरुक्तं च यद्भवेत् ॥

×

×

×

ससंशयं न वक्तव्यं प्रतिज्ञारहितं तथा।

पूर्वापरविरुद्धं च यच्च लोकविगर्हितम् ॥"

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड, अध्याय १५, १।११, १३।

२. ... 'भिन्नवृत्तं विसन्धि च। देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।'

—भामहकृत 'काव्यालंकार', ४।१-२।

भामह

भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में तीन स्थलों पर दोषों की चर्चा की है—१. प्रथम परिच्छेद की श्लोक-संख्या ३७ से ५३ तक, २. द्वितीय परिच्छेद की श्लोक-संख्या ३९ से ६४ तक और पूरे चतुर्थ एवं पंचम परिच्छेद में।

प्रथम स्थल पर पहले छह दोषों की चर्चा कर लेने के बाद फिर चार अन्य दोषों का उल्लेख हुआ है। पहले के छह दोष इस प्रकार हैं : १. नेयार्थ, २. विलुप्त, ३. अन्यार्थ, ४. अवाचक, ५. अयुक्तिमत् तथा ६. गूढशब्दाभिधान।^१ ये सभी दोष नामतः काव्य-शास्त्र के लिए नये हैं। अतः इनके लक्षण-उदाहरण परीक्षणीय हैं। प्रथम दोष 'नेयार्थ' वहाँ माना गया है, जहाँ युक्तार्थ (उपयुक्त अर्थ) कृति से जबर्दस्ती लिया जाय। वह अर्थ शब्द न्यायानुसार हो, यानी शब्दशास्त्र के नियमों पर आधारित न हो और अपनी इच्छा के अनुकूल हो।^२ भामह ने इस दोषोदाहरण के रूप में कहा कि 'माया' की तरह भद्र, यह असाधु कल्पना है, किन्तु यहाँ वचन के अभाव में भी 'वेणुदाकेः' लाकर अर्थ लगाते हैं।^३ 'वेणुदाकेः' शब्द के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। श्रीनागनाथ शास्त्री इसकी जगह 'वेणु-दारेः' पाठ उचित समझते हैं। उनका कहना है कि वेणुदारि वाणासुर का पुत्र था। संभव है, उसकी माया किसी अच्छे उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हुई हो, यद्यपि ऐसी किसी कथा का उल्लेख प्राप्य नहीं है।^४ श्री डी० टी० तताचार्य के अनुसार 'वेणुदाकि' किसी प्रबन्ध का नायक है और भद्रा उसकी नायिका थी, जो उसके लिए माया की तरह थी।^५ श्रीशंकराराम शास्त्री ने उपर्युक्त दोनों मतों का खण्डन करते हुए 'वेणुदाकि' का अर्थ

१. "नेयार्थं विलुप्तमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्।

गूढशब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते॥"

२. "नेयार्थं नीयते युक्तो यस्यार्थः कृतिभिर्बलात्।

शब्दन्यायानुपाखण्डः कथञ्चित्स्वाभिसन्धिना॥"

—वही, १।३८।

३. "मायेव भद्रेति यथा सा चासाध्वी प्रकल्पना।

वेणुदाकेरिति च तां नयन्ति वचनाद्विना॥"

—वही, १।३९।

४. "If we take 'Venudakeh' as Venudarah' then we can guess a meaning. A venudare is mentioned as the son of Banasura. Being an Asura he must excel in Maya . . . probably his deceit was useful for some good purpose. No such story is however available."

—नागनाथ शास्त्री, भामह-कृत 'काव्यालंकार' की टीका, पृ० १३-१४।

५. "वेणुदाकिः कस्यचित् प्रबन्धस्य नायकः। भद्रा नायिका। सा तस्य मायेवाभूत्।"

—डी० टी० तताचार्य, शंकराराम शास्त्री द्वारा सम्पादित भामह-कृत काव्यालंकार,

पृ० ३१ पर उद्धृत।

‘कृष्ण’ किया है और ‘दक’ को ध्वन्यर्थ व्यंजक माना है। उनका कहना है कि कृष्ण की माया लोगों के लिए कल्याणकर थी, यह असन्दिग्ध है।^१ ‘वेणुदाकि’ का जो भी अर्थ हो, इतना स्पष्ट है कि ‘माया की तरह भद्र’—इस असम्यक् कथन की संगति बैठाने के लिए ऊपर से उसको लाया गया है।

व्यवहित अर्थ-प्रतीति में भामह ने ‘क्लिष्ट’ नामक दोष माना है।^२ इस व्यवधान का न तो उन्होंने स्वरूप स्पष्ट किया है और न इस दोष का उदाहरण ही दिया है कि हम उसे स्पष्ट कर सकें। किसी अर्थ को घुमा-फिराकर कहने में अर्थ का व्यवधान होता है, पर इसे भामह ने ‘अवाचक’ नाम दिया है और बादल के लिए ‘हिमापहामित्रघर’ शब्द के प्रयोग को इसका उदाहरण माना है।^३ स्पष्ट है कि ‘क्लिष्ट’ के अर्थ-व्यवधान का स्वरूप कुछ दूसरा है। काव्य में पदसान्निध्य के अभाव में भी अर्थ-प्रतीति का व्यवधान होता है, जिसे आगे चलकर ‘अस्थानपदता’ दोष कहा गया है।^४ अन्वयदोष के कारण भी अर्थ में व्यवधान होता है। भामह के ‘क्लिष्ट’ का स्वरूप इनमें से कोई हो सकता है।

भामह का ‘अन्यार्थ’, वहाँ होता है, जहाँ उद्दिष्ट अर्थ किसी शब्द के हटा देने से प्रकट हो। इसके दिये गये उदाहरण में ‘विजहुः’ शब्द से ‘वि’ उपसर्ग को हटा देने से ही अप्रसंगगत अर्थ प्राप्त होता है।^५ यह दोष ‘नाट्यशास्त्र’ के ‘मित्रार्थ’ के दूसरे रूप से समता रखता है।^६ अन्तर इतना ही है कि ‘मित्रार्थ’ व्यापक है, किसी भी प्रकार से विवक्षित अर्थ से भिन्न अर्थ आ जाने में होता है और भामह का ‘अन्यार्थ’ किसी अतिरिक्त पद के आ जाने से सम्भव होता है और इस प्रकार एक विशिष्ट स्थिति का सूचक है।

जैसा कहा जा चुका है, भामह का ‘अवाचक’ उस स्थिति में होता है, जब कोई शब्द सीधे विवक्षित अर्थ नहीं देता, अपितु घुमा-फिराकर कहे जाने के कारण पर्याप्त मानसिक व्यायाम के बाद देता है। ‘बादल’ के लिए ‘हिमापहामित्रघर’ शब्द का प्रयोग ऐसा ही है।

१. “वेणुं दाकयतीति वेणुदाकिः कृष्णः, दक is an onomatopoeic verb suggesting the sound of a flute. Krishna's deceitful tactics contributed to the weal of the people.”

—C. Shankar Rama Shastry: Kavyalankar of Bhamah, pp. 39-40.

२. ‘क्लिष्टं व्यवहितं विधात् ।’ —भामहकृत ‘काव्यालंकार’, १४०।
 ३. ‘हिमापहामित्रघरैर्व्योमेत्यवाचकम्’ —वही, १४१।
 ४. देखिए, मम्मटकृत ‘काव्यप्रकाश’, ७।५४।
 ५. ‘अन्यार्थं विगमे यथा—विजहुस्तस्य ताः शोकं क्रीडायां विकृतं च तत् ।’
 —भामहकृत ‘काव्यालंकार’ १४१।
 ६. ‘विवक्षितोऽन्य एवार्थो यत्रान्यार्थेन भिद्यते ।’

—नाट्यशास्त्र, १६।८७, काव्यमाला-संस्करण।

‘अवाचक’ नामकरण अनुपयुक्त है। कारण, यह दोष अभिधा के क्षेत्र में ही है। यहाँ शब्द वाचक तो होता ही है, बाधित नहीं होता, केवल उसका संकेत विलम्बित हो जाता है।

जहाँ बादल, हवा, चाँद, भ्रमर, हारीत, चक्रवाक, गूँगे या अव्यक्त वक्ता से सन्देश पहुँचाने का वर्णन हो, वहाँ भामह ने ‘अयुक्तिमत्’ दोष माना है।^१ इस दोष को हम ‘प्रबन्धदोष’ कह सकते हैं। यह दोष ‘अनौचित्य’ पर प्रत्यक्षतः आधृत है। काव्यशास्त्र में इसका सर्वप्रथम उल्लेख भामह द्वारा ही हुआ। छठा दोष ‘गूढशब्दाभिधान’ ‘नाट्यशास्त्र’ के ‘गूढार्थ’ से अभिन्न है।^२

उपर्युक्त छह दोषों की चर्चा के बाद जिन चार दोषों का भामह ने उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—१. श्रुतिदुष्ट, २. अर्थदुष्ट, ३. कल्पनादुष्ट और ४. श्रुतिकण्ट^३। इनमें अन्तिम को छोड़कर शेष तीन ‘नाट्यशास्त्र’ के ‘मिन्नार्थ’ के प्रथम रूप के ही विस्तार हैं। असम्य, ग्राम्य अथवा अश्लोक-कथन में ‘मिन्नार्थ’ माना गया है।^४ भामह के पूर्वोक्त तीन दोषों के साथ भी यही बात है। ‘विट्’, ‘वर्च’, ‘सम्बाध’ जैसे शब्दों का प्रयोग ‘श्रुतिदुष्ट’ का उदाहरण है।^५ इनका एक शिष्ट अर्थ है, तो दूसरा जुगुप्सामूलक या व्रीडाव्यंजक। भामह द्वारा ‘अर्थदुष्ट’ के दिये गये उदाहरण से स्पष्ट है कि वहाँ सम्पूर्ण वाक्य का ही प्रकृत अर्थ के अतिरिक्त एक और व्रीडाव्यंजक अर्थ निकलता है।^६ ‘कल्पनादुष्ट’ वहाँ होता है,

१. “अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतेन्दवः।

तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥

अवाचोऽव्यक्तवाचश्च दूरदेशविचारिणः।

कथं दूत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते॥”

—भामहकृत ‘काव्यालंकार’, १।४२-४३।

२. ‘गूढार्थ’ के निमित्त अभिनवगुप्त ने ‘दशरथ’ के लिए ‘अधिकनवविमान’ के प्रयोग का उदाहरण दिया है। ‘गूढशब्दाभिधान’ के उदाहरण के निमित्त भामह ने कार्तिकेय के लिए ‘असितार्त्तितुक्’ के प्रयोग (काव्यालंकार, १।४६) की चर्चा की है। दोनों गूढ़ पर्याय के प्रयोग के उदाहरण हैं।

३. “श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यपि।

श्रुतिकण्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्॥”—भामहकृत ‘काव्यालंकार’, १।४७।

४. ‘मिन्नार्थमभिविज्ञेयमसम्यं ग्राम्यमेव च।’ —नाट्यशास्त्र, १६।८६।

५. “विड्वर्चोविण्ठितविलम्बजिह्वावातप्रवृत्तयः।

वाक्काटवाद्यश्चेति श्रुतिदुष्टा मता गिरः॥”—भामहकृत ‘काव्यालंकार’, १।४८।

६. “हेतुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरं विनिः।

पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिः॥”

—वही, १।५१

जहाँ दो पदों की सन्निधि से अशिष्ट शब्द की ध्वनि मिले; जैसे 'शौर्य' और 'आमरण' के मिलने से 'शौर्यामरण' बनेगा, जिसमें 'याम' की श्रुति है, जिसका अर्थ मथुन होता है।' इस प्रकार ये तीनों दोष किसी-न-किसी रूप में असम्य अर्थ देते हैं। यह असम्यता प्रकृत अर्थ से भिन्न अर्थ में होती है, जिस प्रकार 'भिन्नार्थ' में। भामह का चतुर्थ दोष 'श्रुतिकष्ट' कर्णकटु शब्दों के प्रयोग में होता है। यह दोष भी नया नहीं है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण का 'कष्टाक्षर-पदन्यास' यही है।

'काव्यालंकार' के द्वितीय परिच्छेद में मेघादी के द्वारा कहे गये सात उपमा-दोषों का उल्लेख हुआ है, जिनकी चर्चा मेघादी के प्रसंग में हो चुकी है। चतुर्थ परिच्छेद में जिन ग्यारह दोषों की चर्चा आई है, उनके नाम हैं—१. अपार्थ, २. व्यर्थ, ३. एकार्थ, ४. ससंशय, ५. अपक्रम, ६. शब्दहीन, ७. यतिभ्रष्ट, ८. भिन्नवृत्त, ९. विसन्धि, १०. देशकाल कलालोकन्यायागमविरोधी तथा ११. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीन। इनमें 'एकार्थ', 'शब्दहीन' तथा 'विसन्धि' 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध हैं। इनका लक्षण भी यहाँ वही है, जो 'नाट्य-शास्त्र' में है, अतः इनकी चर्चा अनपेक्षित है। 'काव्यालंकार' में 'नाट्यशास्त्र' का 'विषम-दोष' 'यतिभ्रष्ट' और 'भिन्नवृत्त' के रूप में विस्तार पा गया है। 'अपार्थ' भी 'नाट्यशास्त्र' के दूसरे दोष-निरूपक स्थल पर उल्लिखित है। 'ससंशय', 'प्रतिज्ञाहीन' तथा 'लोकविरोधी' का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तरपुराण में हो चुका है। उसी का 'पूर्वापरविरुद्ध' 'काव्यालंकार' का 'व्यर्थ' है। 'न्यायविरोधी' 'महाभारत' के अठारह दोषों में परिगणित है। क्रम-रहित कथन में भामह ने 'अपक्रम' माना है। यही महाभारत का 'विक्रम' है। इस प्रकार भामह की पूर्वोक्त दोषसूची के नये दोष ये ही हैं—१. देशकालकलागमविरोधी और २. हेतु-दृष्टान्तहीन। उनके लक्षण-उदाहरण की चर्चा अपेक्षित है।

१. "पदद्वयस्य सन्धाने यदनिष्टं प्रकल्पते।

तदाहुः कल्पनादुष्टं स शौर्यामरणो यथा॥"

—वही, १।५२।

२. "यथाऽजिह्वलदित्यादि श्रुतिकष्टं च तद्विदुः।"

—वही, १।५३।

३. देखिए, इसी अध्याय का 'मेघाविरुद्ध' शीर्षक प्रकरण।

४. "अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।

शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च॥

देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते॥"

—भामह-कृत 'काव्यालंकार', ४।१-२।

५. "विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते।

पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा॥"

—वही, ४।९।

६. "यथोपदेशं क्रमशो निर्देशोऽत्र क्रमो मतः।

तदपेतं विपर्यासादित्याख्यातमपक्रमम्॥"

—वही, ४।२०

देश-विशेष में किसी द्रव्य की उत्पत्ति जैसी कही या नहीं कही गई है, उससे विपरीत वर्णन को 'देशविरोधी' कहा गया है^१; जैसे मलयपर्वत पर देवदारु की स्थिति बताना, जो हिमालय पर पाये जाते हैं।^२ ऋतुओं के वर्णन में भी ऐसी बातें कहना, जो उनमें सम्भव न हों, कालविरोधी है।^३ जैसे, शिशिर में ठण्डे जलकणों से युक्त हवा बहने की बात।^४ शिल्पादि कलाओं के विरुद्ध पड़नेवाली बातों का कथन 'कलाविरोधी' कहलाता है।^५ धर्मशास्त्र और उनके द्वारा निर्दिष्ट मर्यादा के अतिक्रमण को 'आगमविरोधी' माना गया है।^६

'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीन' दोषों को भामह ने अपने 'काव्यालंकार' के पंचम परिच्छेद में विस्तार से उपस्थित किया है। न्याय की दृष्टि से प्रतिज्ञा की परिभाषा, उसके अंग, भेदों तथा दोषों को उपस्थित करने के पश्चात् उन्होंने काव्यगत प्रतिज्ञा को शास्त्रीय प्रतिज्ञा से भिन्न मानते हुए^७ उसके दोष-भेदों को उदाहृत किया है। इष्ट कार्य की स्वीकृति (करने के संकल्प) को भामह ने 'प्रतिज्ञा' कहा है।^८ स्पष्ट है कि यह न्याय की 'प्रतिज्ञा' न होकर सामान्य भाषा की प्रतिज्ञा है, जिसे भामह काव्यगत प्रतिज्ञा मानते हैं। उन्होंने इसके चार प्रकार कहे हैं—धर्मनिमित्ता, कामनिमित्ता, अर्थनिमित्ता और कोपनिमित्ता।^९ पुरु के द्वारा पिता का बुढ़ापा धारण करना प्रथम का,^{१०} उदयन के द्वारा वासवदत्ता के हरण

१. "या देशे द्रव्यसम्भूतिरपि वा नोपदिश्यते।
तत्तद्विरोधि विज्ञेयं स्वभावात्तद्यथोच्यते ॥" —वही, ४।२९।
२. "मलये कन्दरोपान्तरूठकालागुरुद्रुमे।
सुगन्धिकुसुमास्रन्ना राजन्ते देवदारवः ॥" —वही, ४।३०।
३. "षण्णामृतानां भेदेन कालः षोढेव भिद्यते।
तद्विरोधकृदित्याहुर्विपर्यासादिदं यथा ॥" —वही, ४।३१।
४. "उद्गूढशिशिरासारान् प्रावृषेयान् नभस्वतः।" —वही, ४।३२।
५. "कला सङ्कलना प्रज्ञा शिल्पोऽन्यस्याश्व गोचरः।
विपर्यस्तं तत्रैवाहुस्तद्विरोधकरं यथा ॥" —वही, ४।३३।
६. "आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता।
तद्विरोधि तदाचारव्यतिक्रमणतो यथा ॥" —वही, ४।४८।
७. "अपरं वक्ष्यते न्यायलक्षणं काव्यसंश्रयम्।" —वही, ५।३०।
८. "इष्टकार्याभ्युपगमं प्रतिज्ञां प्रतिजानते।" —वही, ५।३५।
९. "धर्मार्थकामकोपानां संश्रयात्सा चतुर्विधा।" —वही, ५।३५।
१०. "जरामेष विभर्मीति प्रतिज्ञाय पितुर्यथा।
तथैव पुरुणांऽभारि सा स्याद्धर्मनिबन्धिनी ॥" —वही, ५।३६।

की प्रतिज्ञा द्वितीय का,^१ हनुमान के द्वारा सीता का पता लगाने की प्रतिज्ञा तृतीय का^२ और भीम द्वारा दुर्योधन के रक्तपान की प्रतिज्ञा चतुर्थ का उदाहरण है।^३ इन चारों के विरोध में 'प्रतिज्ञाहीन' दोष होता है। दुर्योधन का राज्य के लिए उठ खड़ा होना धर्मविरोधी प्रतिज्ञा ('सत्यं वद' का विरोध) का,^४ युधिष्ठिर का जुआ खेलना अर्थविरोधी प्रतिज्ञा का,^५ परशुराम की क्षत्रिय-वध की प्रतिज्ञा का राम द्वारा भंग होना कोपविरोधी प्रतिज्ञा का^६ तथा भीष्म की, आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा कामविरोधी प्रतिज्ञा का^७ उदाहरण है। स्पष्ट है कि ये प्रतिज्ञा-दोष न्यायशास्त्रीय न होकर आचारशास्त्रीय हैं।

भामह ने तीन काव्यगतहेतुदोष बताये हैं—अज्ञान, संशय और ज्ञानविपर्यय।^८ काश में मुगन्धि बताना प्रथम का^९, पानी के पास रहने से जीवों का अनिष्टकर होना द्वितीय का^{१०} और आँख की कोर के उज्ज्वल होने से किसी पक्षी का चकोर समझा जाना तृतीय का^{११} उदाहरण है। भामह ने दृष्टान्तहीन का अलग से उदाहरण न देकर शुद्ध दृष्टान्त का लक्षण उपस्थित कर दिया है और इस प्रकार उसके अभाव में दोष की सत्ता का संकेत

१. "आहरिष्याम्यमूमद्य महसेनात्मजामिति ।
कृत्वा प्रतिज्ञां वत्सेन हतेति मदनाश्रया ॥" —वही, ५।३८।
२. "उपलप्स्ये स्वयं सीतामिति भर्तृनिदेशतः ।
हनूमता प्रतिज्ञाय सा ज्ञातेत्यर्थसंश्रया ॥" —वही, ५।३७।
३. "भ्रातुर्भ्रातृव्यमुन्मथ्य पास्याम्यस्यासृगाहवे ।
प्रतिज्ञाय यथा भीमस्तच्चकारावशो रूपा ॥" —वही, ५।३९।
४. "प्रायोपवेशाय यथा प्रतिज्ञाय सुयोधनः ।
राज्याय पुनरुत्तस्थाविति धर्मविरोधिनी ॥" —वही, ५।४१।
५. "आहूतो न निवर्त्तं हं द्यूतायेति युधिष्ठिरः ।
कृत्वा सन्धां शकुनिना दिदेवेत्यर्थबाधिनी ॥" —वही, ५।४२।
६. "अत्याजयद्यथा रामः सर्वक्षत्रवधाश्रयान् ।
जामदग्न्यं युधा जित्वा सा ज्ञेया कोपबाधिनी ॥" —वही, ५।४४।
७. "अद्यारभ्य निवत्स्यामि मुनिवद्वचनादिति ।
पितुः प्रियाय यां भीष्मश्चक्रे सा कामबाधिनी ॥" —वही, ५।४३।
८. "तस्यापि सुधियामिष्टा दोषाः प्रागुदितास्त्रयः ॥
अज्ञानसंशयज्ञानविपर्ययकृता यथा ॥" —वही, ५।५२।
९. 'काशा हरन्ति हृदयममी कुसुमसौरभात् ॥' —वही, ५।५३।
१०. 'अपामभ्यर्णवर्त्तित्वादेते ज्ञेयाः शराख्यः ।' —वही, ५।५३।
११. 'असौ शुक्लान्तनेत्रत्वाच्चकोर इति गृह्यताम् ।' —वही, ५।५४।

किया है। उनके अनुसार उक्त वस्तु के समान वस्तु का निर्देश दृष्टान्त कहलाता है।^१ जहाँ दृष्टान्तमात्र से साध्य-साधन की व्यंजना होती है, उसे शुद्ध दृष्टान्त कहते हैं।^२

भामह के उपर्युक्त दोष-विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल तक दोषों का संख्या-विस्तार इतना हो चुका था कि भामह को 'नाट्यशास्त्र' द्वारा स्वीकृत दस संख्या को अस्वीकार करना पड़ा। भामह के सर्वथा नये दोष ये हैं : १. नेयार्थ, २. क्लिष्ट, ३. अवाचक, ४. अयुक्तिमत्, ५. देशकालकलान्यायागमविरोधी और ६. हेतुदृष्टान्तहीन। शेष दोष समान या भिन्न नाम से, पर लक्षणतः समान होकर, 'नाट्यशास्त्र' या 'विष्णुधर्मात्तरपुराण' में वर्णित हैं। कुछ दोष उक्त पुस्तकों के दोषों के भेदविकास के रूप में आये हैं। 'नाट्यशास्त्र' के 'अर्थान्तर' को छोड़कर शेष सभी दोष समान या भिन्न नाम से भामह द्वारा स्वीकृत हुए हैं। भामह द्वारा तीन स्थलों पर तीन दोषसूची प्रस्तुत करना इस सम्भावना को व्यक्त करता है कि उनके समय तक सहृदय-समाज में काव्यदोषों के तीन वर्ग स्वीकृत थे, भामह ने अपनी संग्रहवृत्ति के कारण उन सब दोषों को स्थान दिया है। उपर्युक्त तीन स्थलों में से प्रथम दो स्थलों पर वर्णित दोष अपेक्षया नवीनतर हैं और अन्तिम स्थल के दोष अधिकांशतः प्राचीनतर।

उक्त तीन स्थलों के अतिरिक्त भी प्रासंगिक रूप से भामह ने कुछ अन्य दोषों की ओर अप्रत्यक्ष संकेत किये हैं, जिनकी चर्चा अपेक्षित है। 'काव्यालंकार' के प्रथम अध्याय में गौडीय एवं वैदर्भ मार्ग का विवेचन करते हुए उन्होंने 'अपुष्टार्थ', 'अवक्रोक्ति', 'ग्राम्य' एवं 'आकुल' दोषों का उल्लेख किया है।^३ इनमें प्रथम दो दोष गुणाभावस्वरूप हैं। काव्य के लिए पुष्ट अर्थ, यानी प्रत्येक शब्द से अर्थ पोषण का होना आवश्यक है। भामह 'वक्रोक्ति' को काव्यत्व के लिए आवश्यक मानते हैं,^४ जिसके अभाव में उक्ति, वार्त्ता से अधिक कुछ नहीं हो पाती।^५ अतः 'अवक्रोक्ति' का अर्थ हुआ 'अकाव्यत्व'। तीसरा दोष 'ग्राम्य' स्पष्ट ही है। 'नाट्यशास्त्र' के 'मिन्नार्थ' में इसका दोषत्व स्वीकृत है। 'आकुल' नवीन दोष है,

१. 'उक्तस्यार्थस्य दृष्टान्तः प्रतिबिम्बनिदर्शनम्।' —वही, ५।५५।
२. "यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्येते साध्यसाधने।
तमाहुः शुद्धदृष्टान्तं तन्मात्राविष्कृतेर्यथा॥" —वही, ५।५८।
३. "अपुष्टार्थमवक्रोक्तिः प्रसन्नमृजुकोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम्॥
अलङ्कारवदग्राम्यमर्थं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमपि नान्यथा॥" —वही, १।३४-३५।
४. 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।' —वही, १।३६।
५. गतोऽस्तमर्कः भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादिः किं काव्यं वात्समिनां प्रचक्षते।" —वही, २।८७।

जिसका संकेत भामह द्वारा एक और जगह पर भी हुआ है। वहाँ 'आकुल' के साथ 'विरुद्धपद', 'अस्वर्थ' एवं 'बहुपूरण' की भी दोषस्वरूप गणना है।^१ 'विरुद्धपद' वहाँ होता है, जहाँ उद्दिष्ट अर्थ से विपरीत अर्थ देनेवाले शब्द का प्रयोग हो। यह 'व्याघात' या 'व्यर्थ' से भिन्न है। कारण, वहाँ तो पहले कही गई बात का खण्डन होता है, पर यहाँ उद्दिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति हो ही नहीं पाती, उसके विपरीत अर्थ का सूचक पद प्रयुक्त होता है। निरर्थक शब्दों की भरती में 'बहुपूरण' दोष होता है। 'अस्वर्थ' वहाँ होता है, जहाँ बहुत शब्दों के प्रयोग से भी किसी अच्छे अर्थ की अभिव्यक्ति न हो सके। शब्द और अर्थ के जाल में उलझ जाने में 'आकुल' दोष होता है।

षष्ठ परिच्छेद में भी शब्दों के सम्यक्-असम्यक् प्रयोग पर विचार करने के प्रसंग में भामह द्वारा कुछ दोषों का संकेत हुआ है। चित्त को सम्मोह में डालनेवाले अप्रचलित शब्दों का प्रयोग वे वर्जित मानते हैं। इसे उन्होंने 'अप्रयुक्त' कहा है। 'हन्' धातु का 'गति' अर्थ में प्रयोग इसका उदाहरण है।^२ भामह 'शिष्टमात्रप्रयुक्त' शब्द को भी वर्ज्य मानते हैं।^३ 'तन्त्रान्तरसाधित', यानी किसी एकदेशीय शास्त्र में ही प्रयुक्त शब्द को भी वे अप्रयोज्य कहते हैं।^४ 'छन्दोवत्', यानी लौकिक भाषा में वैदिक शब्दों का आभास देने-वाले या 'छान्दस्' शब्दों को भी उन्होंने अग्राह्य माना है।^५ धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण ऐसे प्रयोगों को भामह क्षम्य नहीं मानते, जो 'अप्रतीत' हों या अन्यथा अर्थ देने-वाले हों।^६ इस प्रकार जहाँ प्रसिद्ध दोषों को तीन स्थलों पर भामह ने वर्णित किया, वहाँ अपने समय के दोषालोचन के अन्य तथ्यों को भी समेटकर अपनी प्रौढ़ता प्रदर्शित की है। इन अप्रत्यक्ष दोष-संकेतों के आधार पर किस प्रकार परवर्ती दोषविवेचकों की दोषसूची समृद्ध हुई, यह आगे दिखाया जायगा।

दण्डी

आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में जिन दस काव्यदोषों का प्रतिपादन किया है, वे हैं—१. अपार्थ, २. व्यर्थ, ३. एकार्थ, ४. ससंशय, ५. अपक्रम, ६. शब्दहीन,

१. "विरुद्धपदमस्वर्थं बहुपूरणमाकुलम्।
कुर्वन्ति काव्यमपरे व्यायताभीप्सया यथा॥" —वही, ५।६७।
२. "नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतःसम्मोहकारिणम्।
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ज्ञायात् को हन्ति गतिवाचिनम्॥" —वही, ६।२४
३. 'न शिष्टैरक्षमित्येव।' —वही, ६।२७।
४. 'न तन्त्रान्तरसाधितम्।' —वही, ६।२७।
५. 'छन्दोवदिति चोत्सर्गान् चापिच्छान्दसं वदेत्।' —वही, ६।२७।
६. 'नाप्रतीताव्यथार्थत्वं शास्त्रनेकार्थतावशात्।' —वही, ६।२६।

७. यतिभ्रष्ट, ८. भिन्नवृत्त, ९. विसन्धि तथा १०. देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी।^१ देखा जा चुका है कि ये सभी 'काव्यालंकार' के तीसरे दोषनिरूपक स्थल पर यानी चतुर्थ-परिच्छेद में इसी क्रम से वर्णित हुए हैं। 'काव्यालंकार' के ग्यारहवें दोष 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्त-हीन' को दण्डी ने जान-बूझकर छोड़ दिया है। उनका मत है कि इन दोषों का विचार कर्कश और रूक्ष है, अतः इनके आलीढन से कोई लाभ नहीं।^२ उपर्युक्त दस दोषों के दण्डी ने जो लक्षण निरूपित किये हैं, उनमें अधिकांशतः भामह का अनुसरण है। जिन दोष-लक्षणों में भामह से वैशिष्ट्य है, उन्हीं की चर्चा की जा रही है।

'व्यर्थ' की पूर्वापरविरुद्धता भामह की तरह दण्डी ने भी बताई है, पर विशिष्टता यह है कि वे इस दोष को एक वाक्य या पूरे प्रबन्ध का विषय बताते हैं।^३ 'एकार्थ' के लक्षण की विशेषता यह है कि बिना विशेषता की पुनरुक्ति को दण्डी ने एकार्थ दोष माना है।^४ भामह ने इसका उल्लेख नहीं किया है। 'यतिभ्रष्ट' के लक्षण की विशेषता यह है कि नियमानुकूल होने पर भी श्रुतिकटुत्व होने पर यतिभ्रष्ट-दोष माना गया है।^५ भामह द्वारा इस तथ्य का उल्लेख नहीं हुआ है।

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त गुणों के प्रसंग में दण्डी ने प्रकारान्तर से कुछ अन्य दोषों की ओर संकेत किया है। उनका मत है कि श्लेषादि दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण हैं तथा गौड मार्ग में प्रायः उनका विपर्यय रहता है।^६ इससे यह सूचित हुआ कि उक्त दस गुणों का विपर्यय गौड मार्ग के लिए भले ही दोष-स्वरूप न हो, वैदर्भ मार्ग के लिए दोषरूप है। प्रथम गुण 'श्लेष' का विपर्यय दण्डी ने 'शिथिल' बताया है, जिसका अर्थ

१. "अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम्।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवंते वर्ज्याः काव्येषु सुरिभिः ॥" —दण्डिभट्ट काव्यादर्श, ३।१२५-१२६
२. "प्रतिज्ञा हेतुदृष्टान्तहानिर्दोषा न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ॥" —वही, ३।१२७।
३. "एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम्।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥" —वही, ३।१३१।
४. "अविशेषेण पूर्वोक्तं यवि भूयोऽपि कीर्त्यते।
अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा ॥" —वही, ३।१३५।
५. "तथापि कटुकर्णानां कवयो न प्रयुञ्जते।" —वही, ३।१५५।
६. "इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि ॥" —वही, १।४२

है अधिक संख्या में अल्पप्राण वर्णों का प्रयोग; जैसे 'मालतीमाला लोलालिकलिला'। यह 'शैथिल्य' वैदर्भमार्ग के लिए दोष-स्वरूप है, गौड मार्ग के लिए नहीं। 'प्रसाद' गुण का विपर्यय दण्डी के अनुसार 'व्युत्पन्न' है। नातिरुद्ध—अप्रसिद्ध प्रयोगों से 'प्रसाद' का यह अभाव होता है। समता का विपर्यय है, 'विषम' यानी असमान बन्ध का प्रयोग। 'माधुर्य' का विपर्यय 'वैरस्य' होगा, चूँकि रसवत् वाक्य को 'मधुर' कहा गया है। यह 'विरसता' दण्डी के अनुसार 'ग्राम्यता' के कारण उत्पन्न होती है, जिसे उन्होंने वैदर्भ ही नहीं, 'गौड' मार्ग के लिए भी त्याज्य माना है। दण्डी ने इस 'ग्राम्यता' के दो प्रकार बताये हैं—पदसन्धानवृत्तिमूलक और वाक्यार्थमूलक। प्रथम का उदाहरण 'या भवतः' शब्दों की समीपता से 'याम' (मैथुन) की श्रुति है।

द्वितीय का उदाहरण वह है, जिसमें प्रस्तुतार्थ के अतिरिक्त एक अन्य अर्थ भी विद्यमान रहता है, जो ग्राम्य होता है। 'सुकुमारता' का विपर्यय 'दीप्त' है, जिसका अर्थ है कण्टोच्चार्य शब्दों से आनेवाली विशेषता। यह गौडीयों के लिए ग्राह्य है, पर वैदर्भ मार्ग के लिए दोष-स्वरूप है। 'अर्थव्यक्ति' गुण 'नेयत्व' के अभाव से आता है। 'नेयत्व' इस प्रकार 'अर्थव्यक्ति' का विपर्यय हुआ, जिसका अभिप्राय है अर्थ की पूर्णता के लिए अपनी ओर से क्लिष्ट कल्पना करना। दण्डी के अनुसार यह नेयत्व शब्दन्यायविलिखक होने के कारण वैदर्भ या गौड किसी भी मार्ग के लिए त्याज्य है। 'कान्ति' का विपर्यय 'अत्युक्ति'

१. "श्लिष्टमस्युष्टशैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।

शैथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा॥"

—वही, १।४३।

२. 'व्युत्पन्नसिद्धि' गौडीयैर्नातिरुद्धमपीष्यते।

—वही, १।४६।

३. 'सर्वं बन्धेष्वविषमं...।'

—वही, १।४७।

४. 'इति ग्राम्योऽन्यन्यत्वात् वैरस्याय प्रकल्पते।'

—वही, १।६३।

५. 'मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।'

—वही, १।५१।

६. दण्डि-कृत काव्यादर्श, १।६३।

७. 'खरं प्रहृत्य विभ्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति।

एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि॥"

—वही, १।६७।

८. 'पदसन्धानवृत्त्या वा वाक्यार्थत्वेन वा पुनः।'

—वही, १।६६।

९. 'कुप्रतीतिकरं ग्राम्यं यथा या भवतः प्रिया।'

—वही, १।६६।

१०. काव्यादर्श, १।६३।

११. 'दीप्तमित्यपरैर्भून्ना कृच्छ्रोद्यमपि वध्यते।'

—काव्यादर्श, १।७२।

१२. 'अर्थव्यक्तिरनेयत्वम्...।'

—वही, १।७३।

१३. 'नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि।

नहि प्रतीतिमुभया शब्दन्यायविलिखिनी॥"

—वही, १।७५।

है, जो गौडीयों को प्रिय, पर 'वैदर्भ' मार्ग के लिए दोष-स्वरूप है। 'उदारता', 'ओज' तथा 'समाधि' नामक गुणों का विपर्यय दण्डी ने नहीं बताया है।

दण्डी के उपर्युक्त सात गुणविपर्ययात्मक दोषों में तीन—'विषम', 'शैथिल्य' और 'अत्युक्ति' नवीन हैं, शेष की दोषस्वरूपमान्यता किसी-न-किसी रूप में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा हुई ही है। प्रमाण-स्वरूप 'अर्थव्यक्ति' का विपर्यय 'नेयत्व' भामह द्वारा 'नेयार्थ' के रूप में उल्लिखित है।^१ 'दीप्त' भामह द्वारा 'श्रुतिकण्ट' के रूप में प्रस्तुत हो चुका है।^२ 'माधुर्य' के विपर्यय 'वैरस्य' का कारण 'ग्राम्यता' है, जिसके दण्डी ने जो उदाहरण दिये हैं, वे भामह के 'कल्पनादुष्ट' और 'अर्थदुष्ट' दोषों के उदाहरणों से समता रखते हैं।^३ 'प्रसाद' के विपर्यय 'व्युत्पन्न' की अर्थगत बाधाएँ भामह द्वारा 'गूढशब्दाभिधान', 'अवाचक' तथा 'क्लिष्ट' के रूप में संकेतित हो चुकी हैं। इस प्रकार यद्यपि दण्डी ने प्रत्यक्षतः दस दोषों का वर्णन किया, पर गुणविपर्यय के रूप में भामह-मान्य प्रायः सभी दोषों का अप्रत्यक्षतः उल्लेख किया है।

दण्डी ने भामह-मान्य सात उपमा-दोषों में 'विपर्यय', 'असादृश्य' तथा 'असम्भव' को छोड़कर शेष चार को स्वीकार किया है। उनका उपमालंकार का लक्षण ही ऐसा है कि उक्त तीन दोष सम्भव ही नहीं हो सकते। जहाँ उद्भूत सादृश्य प्रतीत हो, वहीं दण्डी की दृष्टि में उपमा होगी।^४ तब स्फुट सादृश्य में 'असादृश्य', 'असम्भव' और 'विपर्यय' नामक दोषों की सत्ता कैसे हो सकेगी? यदि ये दोष होंगे, तो सादृश्य ही स्फुट न होगा, फलतः उपमा ही वहाँ न होगी। शेष चार उपमा-दोषों का भी दोषत्व दण्डी को तभी मान्य है, जब वे श्रोताओं के लिए उद्वेगजनक हों।^५

उपमा के अतिरिक्त 'प्रहेलिका' के दोषों का भी दण्डी ने संकेत किया है, यद्यपि उसका विस्तृत निरूपण नहीं किया। वे 'च्युताक्षर', 'दत्ताक्षर' आदि चौदह दुष्ट प्रहेलिकाओं के लक्षण-उदाहरण नहीं देते, केवल इतना कहते हैं कि आचार्यों द्वारा चौदह प्रकार की दुष्ट प्रहेलिकाएँ कही गई हैं, पर उसके दोष असीम हैं, अतः उन सबका वर्णन यहाँ नहीं

१. 'इदमत्युक्तिरित्युक्तमेतद्गौडोपलालितम्।'

—बही, १९३।

२. 'नेयार्थं नीयते युक्तो यस्यार्थः कृतिभिर्बलात्।'

—शान-कृत काव्यालंकार, १३८

३. देखिए इसी अध्याय का 'मेधाविरुद्ध' शीर्षक प्रकरण।

४. देखिए, इसी अध्याय का 'भामह' शीर्षक प्रकरण।

५. "यथा कथञ्चित् सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।

उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं प्रदर्श्यते॥"

—काव्यादर्श, २१४।

६. "न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।

उपमादूषणायालं यत्रोद्देशो न धीमताम्॥"

—बही, २५१।

किया जा रहा है।^१ उनका कहना है कि 'समागता' आदि सोलह प्रहेलिकाओं (जिनके लक्षण-उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं) के लक्षणों से रहित प्रहेलिकाओं को दुष्ट मानना चाहिए।^२ दण्डी के कथन से ही प्रमाणित है कि प्रहेलिका-दोष की कल्पना उनसे पहले ही हो चुकी थी। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीय खण्ड के सोलहवें अध्याय में प्रहेलिकाओं का विस्तृत वर्णन आया है, जिसमें 'समागता', 'निमृता' (दण्डप्रतिपादित)^३ जैसी प्रहेलिकाओं का उल्लेख आया है।^४ वहाँ भी दुष्ट प्रहेलिकाओं का उल्लेख है।^५ फिर भी उक्त पुराण में चौदह दुष्ट प्रहेलिकाओं का वर्णन नहीं है। सम्भवतः उक्त पुराण के परवर्ती, पर दण्डी से पूर्ववर्ती किसी अनुपलब्ध काव्यशास्त्रीय पुस्तक में उनका वर्णन हुआ हो, जिसे दण्डी ने देखा हो।

वामन

भारतीय काव्यशास्त्र में वामन प्रथम व्यक्ति हैं, जिनने पद, पदार्थ, वाक्य एवं वाक्यार्थ की श्रेणी में काव्यदोषों को वर्गीकृत करके निरूपित किया है। उन्होंने पाँच पददोष, पाँच पदार्थदोष, तीन वाक्यदोष तथा सात वाक्यार्थदोष—इस प्रकार कुल बीस दोषों का प्रतिपादन किया है। उनके कुछ दोष तो पुराने हैं, पर कुछ नवीन हैं। अतः विस्तार से उनके दोषों की परीक्षा अपेक्षित है।

वामन-प्रतिपादित पाँच पददोष इस प्रकार हैं—१. असाधु, २. कष्ट, ३. ग्राम्य, ४. अप्रतीत तथा ५. अनर्थक।^६ व्याकरणविरुद्ध पद को उन्होंने 'असाधु' कहा है।^७ ग्रह पूर्ववर्ती आचार्यों का 'शब्दच्युत' या 'शब्दहीन' है। 'कष्टपद' मामह के 'श्रुतिकष्ट' से अभिन्न है।^८ लोकमात्र में प्रयुक्त पद को वामन ने 'ग्राम्य' कहा है,^९ जैसे, 'फूत्', 'गल्ल' आदि। देखा जा चुका है कि 'ग्राम्यता' भरत द्वारा मित्रार्थ के लक्षण में निर्दिष्ट हुई है

१. "दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश ।

दोषानपरिसङ्ख्येयान् मन्यमाना वयं पुनः ॥"

—वही, ३।१०६।

२. 'साध्वी रेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणा।'

—वही, ३।१०७।

३. काव्यादर्श, तृतीय परिच्छेद।

४. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड, १६।३-८।

५. 'न कर्त्तव्याश्च ता राजन्बहुश्लोकनिबन्धनाः।'

—वही, १६।२।

६. 'दुष्टं पदमसाधुकष्टं ग्राम्यमप्रतीतमनर्थकं च।'

—वामनकृत 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति', २।१।४।

७. 'शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु।'

—वही, २।१।५।

८. 'श्रुतिविरसं कष्टम्।'

—वही, २।१।६।

९. 'लोकप्रयुक्तमात्रंग्राम्यम्।'

—वही, २।१।७।

और दण्डी ने माधुर्य के विपर्यय 'वैरस्य' के कारणरूप में उसका उल्लेख किया है, पर स्वतन्त्र दोष के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख वामन ने ही किया है। दूसरे, दण्डी की ग्राम्यता अश्लीलता का पर्याय है, पर वामन का ग्राम्यत्व उससे व्यापक है। शास्त्रमात्र में प्रयुक्त पद को वामन ने 'अप्रतीत' कहा है।^१ इसके उदाहरण के रूप में 'रूपस्कन्ध' तथा 'नान्तरीयक' पदों को प्रस्तुत किया है।^२ प्रथम बौद्ध-दर्शन के पंचस्कन्धों में से एक है और द्वितीय न्यायादिदर्शन में 'अविनाभाव' या 'व्याप्ति' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यद्यपि भामह के अप्रत्यक्ष दोषों में 'अप्रतीत' का उल्लेख मिलता है,^३ तथापि वामन का लक्षण दूसरा है। वामन ने भामह के 'तन्त्रान्तरसाधित' को ही 'अप्रतीत' के रूप में उपस्थित किया है। इस तरह नाम और लक्षण दोनों भामह से लेकर भी वामन ने नवीन रीति से सम्बन्ध-स्थापन किया है। वामन का पाँचवाँ पददोष 'अनर्थक' भी नया नहीं, अपितु भामह के 'बहुपूरण' का नया नाम है, जिसमें अर्थ के लिए नहीं, पादपूर्ति के लिए 'तु', 'खलु' जैसे निरर्थक शब्दों का प्रयोग होता है।^४ वामन केवल अव्यय पदों के ही नहीं, वाचक पदों के भी निरर्थक पादपूर्ति के लिए किये गये प्रयोग को 'दण्डापूपिकान्याय' से 'अनर्थक' दोष मानते हैं।^५ इस तरह स्पष्ट है कि वामन के पाँचों पददोषों में से एक भी पूर्णतः नवीन नहीं है, पर उनमें नवीन सम्बन्ध-स्थापन अवश्य हुआ है।

वामन ने १. अन्यार्थ, २. नेयार्थ, ३. गूढार्थ, ४. अश्लील एवं ५. क्लिष्टार्थ नामक पाँच पदार्थदोष निरूपित किये हैं।^६ इनमें 'अन्यार्थ' भामह के 'अन्यार्थ' से साम्य रखते हुए भी वामन के अधिक स्पष्ट एवं सूक्ष्म विवेचन का सूचक है। देखा जा चुका है कि भामह ने 'अन्यार्थ' वहाँ माना है, जहाँ किसी शब्द को हटा देने से अर्थ सही होता है।^७ 'मुक्त करने' अर्थ में 'जहु' का प्रयोग न करके 'विजहुः' के प्रयोग को भामह ने 'अन्यार्थ' का उदाहरण माना है।^८ 'वि' उपसर्ग के विगम से ही प्रकरणगत अर्थ उपलब्ध होता है। 'विजहुः'

१. 'शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम्।'—वही, २।१।८।

२. (क) 'किं भाषितेन बहुना रूपस्कन्धस्य सन्ति मे न गुणाः।'।

(ख) 'गुणान्तरीयकं च प्रेमेति न तेऽस्त्युपालम्भः।'।

—वही, द्वितीयाधिकरण, प्रथम अध्याय, पृ० ७३।

३. भामह : काव्यालंकार, ६।२६।

४. 'पूरणार्थमनर्थकम्।'।

—काव्यालंकार-सूत्र, २।१।९।

५. 'पूरणमात्रप्रयोजनमव्ययपदमनर्थकम्। दण्डापूपिकान्यायेन पदमन्यदप्यनर्थकमेव।'।

—वही, पृ० ७४।

६. 'अन्यार्थनेयगूढार्थाश्लीलक्लिष्टानि च।'।

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।१०।

७. 'अन्यार्थं विगमे यथा।'।

—भामह-कृत, काव्यालंकार, १।४०।

८. 'विजहुस्तस्य ताः शोकं क्रीडायां विकृतं च तत्।'।

—वही, १।४१।

का अर्थ 'क्रीड़ा करना' है, जो प्रसंग में अमिप्रेत नहीं है। वामन के 'अन्यार्थ' का उदाहरण भी ऐसा ही है। 'धारण करने' अर्थ में 'वहति' का प्रयोग न करके 'आवहति' का प्रयोग, जिसका अर्थ 'करना' हो जाता है, वामन की दृष्टि में 'अन्यार्थ' का उदाहरण है।^१ स्मरण करने के अर्थ में 'स्मरति' की जगह 'प्रस्मरति' का, जिसका अर्थ विस्मरण करना होता है, प्रयोग भी ऐसा ही है।^२ समान उदाहरण देते हुए भी वामन ने भामह द्वारा मान्य अन्याय-लक्षण को स्वीकार नहीं किया। कारण, उसमें सही अर्थ प्राप्त करने के साधन का उल्लेख है, दोष के कारण का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वामन ने रुढ़िच्युत प्रयोग को अन्याय कहा है।^३ कुछ पदों का योगरूढ़ रूप में प्रयोग होता है, जिससे उनका अर्थ निश्चित रहता है। पर जब कवि उनका यौगिक रूप में प्रयोग करते हैं, तब वह पद अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है।^४ वामन का कहना है कि 'घट' की जगह 'पट' के प्रयोग में 'अन्यार्थ' मानना तो स्थूल बुद्धि से ही ग्राह्य है, अतः उसका उल्लेख अनावश्यक समझ उन्होंने छोड़ दिया।^५ सूक्ष्म दृष्टि से 'अन्यार्थ' की सत्ता रुढ़िच्युत प्रयोग में मानी जानी चाहिए।

वामन का 'नेयार्थ' भी भामह के 'नेयार्थ' से बहुत-कुछ समान है। पर वामन के उदाहरण में अधिक व्यवस्था एवं स्पष्टता है। उन्होंने कल्पितार्थ को 'नेयार्थ' माना है।^६ 'दशरथ' के लिए 'पंक्तिविहङ्गमनामभृत्' (पंक्ति=दश+विहङ्गमनाम=चक्रवाक के नामांश चक्र को भृत्=धारण करनेवाला यानी रथ) तथा 'मेघनाद' के लिए 'उलूकजित्' (उलूक=कौशिक=इन्द्र) का प्रयोग इसका उदाहरण माना गया है।^७ वामन का उदाहरण यद्यपि भामह के उदाहरण से भिन्न है, फिर भी दोनों उदाहरणों में इस दृष्टि से समानता है कि दोनों में अपनी ओर से कल्पना किये बिना अर्थ-प्रत्यय नहीं हो पाता है।

वामन का 'गूढार्थ' नाट्यशास्त्रीय 'गूढार्थ' या भामह के 'गूढशब्दामिधान' से भिन्न है। उन्होंने अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त पद को 'गूढार्थ' का उदाहरण माना है;^८ जैसे

१. "यथा—ते दुःखमुच्चावचमावहन्ति...अत्र 'आवहतिः' करोत्यर्थो धारणार्थे प्रयुक्तः।" —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ७७।
२. 'प्रस्मरतिविस्मरणार्थः प्रकृष्टस्मरण इति।' —वही, पृ० ७७।
३. 'रुढ़िच्युतमन्यार्थम्।' —वही, २११११, पृ० ७७।
४. 'रुढ़िच्युतं रुढिमनपेक्ष्य यौगिकार्थमात्रोपादानात्।' —वही, पृ० ७७।
५. 'अन्यार्थं पदं स्थूलज्ञात् सामान्येन घटशब्दः पटशब्दार्थं इत्यादिकमन्यार्थं नोक्तम्।' —वही, पृ० ७७।
६. 'कल्पितार्थं नेयार्थम्।' —वही, २१११२।
७. —वही, पृ० ७९।
८. 'अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम्।' —वही, २१११३।

‘गो’ शब्द का ‘नेत्र’ अर्थ में प्रयोग।^१ भामह ने इसे ‘अप्रयुक्त’ कहा है। वामन का ‘अश्लील’ यद्यपि ‘नाट्यशास्त्र’ के ‘मित्रार्थ’ तथा भामह के ‘अर्थदुष्ट’ तथा ‘श्रुतिदुष्ट’ से समता रखता है, पर उसका वामन ने जैसा वर्गीकरण किया है, वैसा पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा नहीं हुआ था। वामन ने ‘अश्लील’ के तीन भेद माने—१. व्रीडादायी (लज्जाजनक पद का प्रयोग, जैसे ‘हिरण्यरेता’), २. जुगुप्सादायी (घृणाजनक पद का प्रयोग, जैसे ‘कपर्द’) तथा ३. अमंगलवाचक (अनिष्टसूचक पद का प्रयोग, जैसे ‘संस्थितः’)^२।

वामन के ‘क्लिष्ट’ का लक्षण भामह के ‘क्लिष्ट’-लक्षण के समान है।^३ पर वामन की विशेषता यह है कि वे ‘क्लिष्ट’ दोष की सत्ता व्यवहित अर्थप्रतीति में बताकर ही रह नहीं गये। उन्होंने व्यवहित अर्थप्रतीति के कारण का संकेत भी दूसरे सूत्र में कर दिया। अरूढ या अप्रसिद्ध अर्थ के कारण अर्थ की प्रतीति व्यवहित होती है, यह वामन की सम्मति है।^४

मिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट तथा विसन्धि—ये तीन वामन के वाक्यदोष हैं।^५ वामन ने प्रथम दो दोषों को एक मानने का खण्डन किया है। उनका तर्क यह है कि जत्र दोनों के लक्षण मिन्न हैं, तब दोनों को एक क्यों माना जाय।^६ ‘विसन्धि’ यद्यपि पुराना दोष है, नाट्यशास्त्र और भामह के ‘काव्यालंकार’ में इसका उल्लेख हुआ है, तथापि वामन ने इसमें भी अपना योगदान किया है। पदसन्धि की विरूपता को ‘विसन्धि’ मानते हुए^७ उसके तीन प्रकार—१. विश्लेषरूप, २. अश्लीलत्व-रूप तथा ३. कष्टत्व-रूप वामन ने संकेतित किये हैं।^८ सन्धि होने योग्य स्थल में सन्धि न करना विश्लेष है।^९ पदों की सन्धि कर देने से जहाँ असम्यार्थ की स्मृति का हेतु उपस्थित हो जाय, वहाँ अश्लीलत्व है।^{१०} भामह का

१. ‘गोशब्दस्याक्षिवाचित्वं कविष्वप्रसिद्धमिति।’—वही, पृ० ८०।

२. ‘तत् त्रैविध्यं व्रीडाजुगुप्सामङ्गलतङ्कदाविभेदात्।’

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।१९।

३. तुलना कीजिए : क्लिष्टं व्यवहितं विद्यात्।’—भामहकृत काव्यालंकार, १।४०

तथा ‘व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टं।’

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।२०।

४. ‘अरूढार्थत्वात्।’

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।२१।

५. ‘मिन्नवृत्तयतिभ्रष्टविसन्धीनि वाक्यानि।’

—वही, २।२।१।

६. ‘न, लक्ष्मणः पृथक्त्वात्।’

—वही, २।२।६।

७. ‘विरूपपदसन्धिविसन्धिः।’

—वही, २।२।७।

८. ‘पदसन्धिवैरूप्यं विश्लेषोऽश्लीलत्वं कष्टत्वं च।’

—वही, २।२।८।

९. ‘विश्लेषो विभागे न पदानां संस्थितिरिति।’

—वही, पृ० ९४।

१०. ‘अश्लीलत्वमसम्यस्मृतिहेतुत्वम्।’

—वही, पृ० ९४।

‘कल्पनादुष्ट’ यही है। दोनों के उदाहरण भी समान ही हैं।^१ पर चूँकि वामन ने अश्लील नामक पदार्थ-दोष के तीन प्रकार बताये, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, अतः अश्लील-सन्धि के भी तीन अलग-अलग उदाहरण दिये।^२ भामह के ‘कल्पनादुष्ट’ के उदाहरण में इनमें से ब्रीडादायी अश्लील का ही ग्रहण है। शेष दो उदाहरण वामन की अपनी सूत्र के परिणाम हैं। जिस सन्धि से पद में पारुष्य आ जाय, उसे वामन ने ‘कष्ट-सन्धि’ कहा है।^३ इस प्रकार वामन का विसन्धि-दोष नवीन विस्तार से युक्त है। तीनों वाक्य-दोषों के प्रतिपादन के पश्चात् वामन का कहना है कि ‘अश्लीलत्व’ और ‘क्लिष्टत्व’ वाक्यदोष भी हैं।^४ इन्हें पदार्थ-दोष के रूप में वामन पहले ही उपस्थित कर चुके थे। इनके वाक्यगत रूप के उदाहरण भी वामन ने दिये हैं।^५ इस प्रकार प्रकारान्तर से वामन वाक्य-दोषों की संख्या पाँच बताते हैं।

वामन द्वारा मान्य सात वाक्यार्थ-दोष इस प्रकार हैं—१. व्यर्थ, २. एकार्थ, ३. सन्धि, ४. अप्रयुक्त, ५. अपक्रम, ६. लोकविरुद्ध और ७. विद्याविरुद्ध।^६ इनमें व्यर्थ, एकार्थ तथा अपक्रम भामह-दण्डी द्वारा इसी रूप में निरूपित हैं। ‘सन्दिग्ध’ भी भामह का ‘संशय’ ही है।^७ भामह के ‘देशकालविरोधी’ दोषों के साथ ‘स्वभावविरुद्ध’ को जोड़कर तीनों को वामन ने ‘लोकविरुद्ध’ के अन्तर्गत समेट लिया है।^८ ‘विद्याविरुद्ध’ में भी नाम की ही नवीनता है। भामह के ‘कलाविरोधी’ और ‘आगमविरोधी’ दोषों को इस दोष के अन्तर्गत वामन ने समेटा है।^९ इसमें विस्तार इतना है कि चतुर्वर्ग-शास्त्र-विरोध को भी समाविष्ट किया गया है।^{१०} वामन के वाक्यार्थ-दोषों में नवीन दोष है ‘अप्रयुक्त’, जिसके नाम का संकेत तो भामह ने किया है, पर वामन का लक्षण अपना है। वे मायादिकल्पितार्थ

१. तुलना कीजिए : ‘स शौर्याभरणो यथा।’ —काव्यालंकार, १।५२।

‘अश्लीलद्वयं यथा —विरेचकनिदं नूतमाचार्याभासयोजितम्।’

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ९६।

२. वही, पृ० ९६-९७।

३. ‘कष्टत्वं पारुष्यमिति।’

—वही, पृ० ९४।

४. ‘अन्त्याभ्यां वाक्यं व्याख्यातम्।’

—वही, २।१।२२।

५. वही, पृ० ८६-८७।

६. ‘व्यर्थैकार्थसन्दिग्धाप्रयुक्तापक्रमलोकविद्याविरुद्धानि।’

—वही, २।२।९।

७. तुलना कीजिए : ‘संशयकृतसन्दिग्धम्।’

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।२।२ तथा भामहकृत काव्यालंकार, ४।१७-१८

८. ‘देशकालस्वभावविरुद्धानि लोकविरुद्धानि।’—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।२।२३।

९. ‘कलाचतुर्वर्गशास्त्रविरुद्धानि विद्याविरुद्धानि।’

—वही, २।२।२४।

१०. वही।

१२

को 'अप्रयुक्त' कहते हैं।^१ इसका उदाहरण विरल है, यह कहकर वामन ने इस दोष को उदाहृत नहीं किया।^२

दण्डी की तरह वामन ने भी गुणविपर्यय-स्वरूप दोषों का उल्लेख किया है। पर वे इस प्रसंग में दण्डी का पूरा अनुगमन नहीं करते। उन्होंने 'ओज' का विपर्यय 'शैथिल्य' माना है,^३ जबकि दण्डी ने 'श्लेष' का विपर्यय 'शिथिल' बताया।^४ वामन की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने 'प्रसाद' गुण का अर्थ 'शिथिलता' के रूप में ग्रहण किया है।^५ उनका कहना है कि 'प्रसाद' की 'शिथिलता' ओजमिश्रित होने के कारण दोषावह नहीं होती,^६ जबकि शुद्ध 'शिथिलता' दोषस्वरूप होती है,^७ जो 'ओज' का विपर्यय है। मसृणत्व को वे श्लेष-गुण मानते हैं,^८ जिसके अभाव को उन्होंने उदाहृत किया है।^९ दण्डी की ही तरह वे भी 'समता' का विपर्यय 'वैषम्य' मानते हैं।^{१०} दण्डी की ही तरह वामन ने भी 'समाधि' के विपर्यय का उल्लेख नहीं किया है। पृथक्पदत्व को वामन माधुर्यगुण कहते हैं,^{११} जिसका विपर्यय लम्बे समस्त पदों का प्रयोग है, ऐसा उनके उदाहरण से स्पष्ट है।^{१२} अजरठत्व (अकठोरता) को वामन ने 'सौकुमार्य' कहा है।^{१३} स्पष्ट है कि 'कठोरता' इसका विपर्यय है। 'विकटत्व' को उन्होंने 'उदारता' कहा है,^{१४} जिसके अभाव को उदाहृत किया है।^{१५} 'विकटत्व' का पर्याय वामन ने 'लीलायमानत्व' दिया है,^{१६} जिसका अर्थ है वर्णों का नृत्य करते हुए प्रतीत

१. 'मायादिकल्पितार्थमप्रयुक्तम्।' —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।२।२१।
२. 'अत्र स्तोकमुदाहरणम्।' —वही, पृ० १०७।
३. 'शिथिलत्वं प्रसादः। अयम् ओजो विपर्ययात्मा दोषः।' —वही, पृ० १२०।
४. देखिए, इसी अध्याय का 'दण्डी' शीर्षक प्रकरण।
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० १२०।
६. 'गुणः सम्प्लवात्।' —वही, पृ० ३।१।७।
- 'गुणः प्रसादः। ओजसा सह सम्प्लवात्।' —वही, पृ० १२१।
७. 'शुद्धस्तु दोष एव।' —वही, पृ० १२१।
८. 'मसृणत्वं श्लेषः।' —वही, पृ० ३।१।११।
९. वही, पृ० १२३।
१०. वही, पृ० १२४, उदाहरण-संख्या १२, तृतीय अधिकरण का प्र० अध्याय।
११. 'पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।' —वही, ३।१।२१।
१२. वही, उदाहरण-संख्या २१, पृ० १३१।
१३. 'अजरठत्वं सौकुमार्यम्।' —वही, ३।१।२२।
१४. 'विकटत्वम् उदारता।' —वही, ३।१।२३।
१५. वही, उदाहरण-संख्या २३, पृ० १३३।
१६. 'लीलायमानत्वमित्यर्थः।' —वही, पृ० १३३।

होना।' स्पष्ट है कि 'अलीलायमानत्व' विकटत्व का विपर्यय होगा। अर्थ की स्पष्ट एवं शीघ्र प्रतीति 'अर्थव्यक्ति' है,^१ जिसके विपर्यय में कई दोषों की सत्ता होगी। पर वामन ने उनकी चर्चा नहीं की है। 'उज्ज्वलता' को वामन ने 'कान्ति' गुण माना है,^२ जिसका विपर्यय उनकी दृष्टि में 'पुराणच्छाया' (पुराने आचार्यों की नकल) है।^३ वामन के अर्थगुणों के नाम वे ही हैं, जो उनके उपर्युक्त बन्धगुणों के।^४ लक्षण में अन्तर स्वाभाविक है। अर्थगुणों के विपर्यय को भी वामन ने संकेतित किया है, जो प्रायः उनके बन्धगुणों के विपर्यय से साम्य रखते हैं।^५ फर्क है केवल 'उदारता' में, जिसका विपर्यय उनके अनुसार 'ग्राम्यत्व' होगा, चूँकि उन्होंने 'अग्राम्यत्व' को उदारता कहा है।^६

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वामन ने गुणविपर्यय-स्वरूप नौ दोषों की ओर प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः संकेत किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. सैथिल्य, २. असंयुतत्व, ३. वैषम्य, ४. समासबाहुल्य, ५. जरठत्व, ६. अविकटत्व या अलीलायमानत्व, ७. अर्थप्रत्ययविलम्ब, ८. पुराणच्छाया तथा ९. ग्राम्यत्व। इनमें प्रथम, तृतीय, पंचम (श्रुति-कण्ठत्व के रूप में), सप्तम तथा नवम पुराने हैं, शेष नवीन हैं। इस तरह गुणविपर्यय-स्वरूप सूक्ष्म दोषों के क्षेत्र में भी वामन का योगदान स्पष्ट है।

जहाँ वामन ने सात उपमा-दोषों का कथन किया है, वहाँ वामन ने छह का ही। वामन 'विपर्यय' को अलग उपमादोष मानने की आवश्यकता नहीं समझते, 'अधिक' और 'न्यून' के अन्तर्गत ही उसका अन्तर्भाव करते हैं।^७ दूसरी विशेषता यह है कि वामन ने 'हीनता' और 'अधिकता' के आधारों—जाति, प्रमाण और धर्म—का संकेत किया है।^८

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि वामन के समय में दोष-निरूपण विकासोन्मुख था। इस क्षेत्र में नवीन कल्पनाएँ हो रही थीं। वामन ने वर्गीकरण द्वारा दोष-निरूपण में व्यवस्था और नियमन का प्रथम प्रयास किया। फिर भी वे अपने प्रयास में पूर्णतः सफल न हो

१. 'यस्मिन्सति नृत्यन्तीव पदानि जनस्य वर्णभावनं भवति तद्विकटत्वम्।'।

—वही, पृ० १३३।

२. 'अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः।'।

—वही, ३।१।२४।

३. 'उज्ज्वल्यं कान्तिः।'।

—वही, ३।१।२५।

४. 'यदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते।'।

—वही, पृ० १३४।

५. वही, पृ० १४०-१५९।

६. उपरिदत्।

७. 'अग्राम्यत्वमुदारता।'।

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।१३

८. 'अनयोर्वैषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्।

अत एवात्माकं सते षड्दोषा इति।'।

—वही, पृ० २०९।

९. 'जातिप्रमाणधर्मन्यूनतोपमानस्य हीनत्वम्।'।

—वही, पृ० २०९।

सके। कारण उनके दोषों में एक-दूसरे में संक्रमित होने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। वे प्रायः समान दोषों के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने में पूर्णतः सफल न हो सके।^१

रुद्रट

रुद्रट ने भी दोषों को वामन की तरह वर्गीकृत करके उपस्थित किया है। पर उनका वर्गीकरण वामन के वर्गीकरण से थोड़ा भिन्न है। वे पहले दोषों को शब्ददोष और अर्थदोष में बाँटते हैं, फिर शब्द-दोषों को पददोषों एवं वाक्यदोषों के रूप में विभाजित करते हैं। उनके द्वारा निरूपित छह पददोषों के नाम इस प्रकार हैं—१. असमर्थ, २. अप्रतीत, ३. विसन्धि, ४. विपरीतकल्पना, ५. ग्राम्य तथा ६. देश्य।^२

उपर्युक्त दोषों में प्रथम दोष 'असमर्थ' नामतः नवीन है, पर लक्षण की दृष्टि से प्राचीन ही। जो पद अपने वाचक अर्थ को व्यक्त करने में असमर्थ हो, वह तिरोहितसामर्थ्य होने के कारण 'असमर्थ' कहा गया है।^३ रुद्रट ने इसके चार प्रकार बताये हैं। कोई-कोई धातु प्रादि उपसर्गों से युक्त होकर अपना पुराना अर्थ छोड़कर अर्थान्तर में प्रयुक्त होती है। यदि उसका पुराने अर्थ में प्रयोग किया जाय, तो वह उस अर्थ के लिए 'असमर्थ' प्रयोग होगा।^४ यह रुद्रट के 'असमर्थ' का प्रथम प्रकार है। यह वामन के 'अन्यार्थ' से अभिन्न है।^५ 'असमर्थ' का दूसरा प्रकार वह है, जिसमें बांटापाठ में किसी धातु के किसी अर्थ का संकेत रहने पर भी प्रयोग में उस अर्थ का उससे साहचर्य नहीं रहता है, जैसे 'हन्' का 'गति' अर्थ में प्रयोग।^६ रुद्रट का यह भेद भी नवीन नहीं है। भामह के 'अप्रयुक्त' और वामन के 'गूढार्थ' के रूप में उसका संकेत पहले हो चुका है। 'असमर्थ' का तीसरा प्रकार वहाँ माना गया है, जहाँ शब्दों के योगरूढ़ अर्थ रहने पर भी यौगिक अर्थ में उनका प्रयोग किया

१. उदाहरणार्थ, वामन के 'नेयार्थ' और 'क्लिष्ट' के उदाहरण प्रायः समान हैं। वे यह स्पष्ट नहीं कर सके कि प्रथम लक्षणा के क्षेत्र में और द्वितीय अमिघा के क्षेत्र में होता है।

२. "असमर्थमप्रतीतं विसन्धिविपरीतकल्पनं ग्राम्यम्।

अव्युत्पत्ति च देश्यं पदमिति सम्यग्भवेद्दुष्टम्॥"—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।२।

३. "पदमिदमसमर्थं स्याद्वाचकमर्थस्य तस्य न च वक्तुम्।

तं शक्नोति तिरोहितसामर्थ्यं निमित्तेन॥"—वही, ६।३।

४. "धातुविशेषोऽर्थान्तरमुपसर्गविशेषयोगतो गतवान्।

असमर्थः स स्वार्थे भवति यथा प्रस्थितः स्थास्तौ॥"—वही, ६।४।

५. देखिए इसी अध्याय के 'वामन' शीर्षक प्रकरण का तीसरा अनुच्छेद।

६. "इदमपरमसामर्थ्यं धातोर्यत्पठ्यते तदर्थोऽसौ।

न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति॥"—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।५।

जाता है।^१ वामन ने 'अन्यार्थ' में इसी रूढिच्युति का संकेत किया है। 'असमर्थ' का चौथा प्रकार वह है, जहाँ पद का अर्थ अनिश्चित रहता है, उसके निश्चय के लिए प्रकरण की अपेक्षा रहती है।^२ 'नाट्यशास्त्र' के 'अर्थहीन' के लक्षण के उत्तरार्द्ध की अभिनवगुप्त द्वारा की गई व्याख्या ऐसी ही है।

रुद्रट का 'अप्रतीत' नामतः और लक्षणतः प्राचीन है, पर नाम और लक्षण का सम्बन्ध नवीन है। वामन के 'अप्रतीत' के लक्षण से रुद्रट के 'अप्रतीत' का लक्षण भिन्न है। अरूढ और कल्पितार्थ-प्रयोग में रुद्रट ने 'अप्रतीत' की सत्ता मानी है और इसके दो प्रकार—संशयवत् और असंशयवत् निर्दिष्ट किये हैं।^३ प्रथम वहाँ होता है, जहाँ किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो किसी विशिष्ट वस्तु का रूढवाचक तो नहीं है, पर गुणक्रियायुक्ति से उसका अर्थ होता है। जैसे 'हिमहा' का कोई रूढ अर्थ नहीं है, सूर्य या अग्नि में से किसी को भी वह संकेतित कर सकता है; इसलिए यह पद संशयवत् अप्रतीत का उदाहरण है।^४ भामह के 'अवाचक' का उदाहरण प्रायः ऐसा ही है।^५ पर वहाँ 'व्योम' शब्द के प्रयोग के कारण 'हिमापहामित्रधर' का अर्थ सन्दिग्ध नहीं रहता है। वस्तुतः, रुद्रट का यह दोष-प्रकार भामह के 'अवाचक' और 'संशय' का सम्मिलित रूप लिये हुए है। 'असमर्थ' के अरूढत्व से 'अप्रतीत' का अन्तर यह है कि उसमें पद का रूढ अर्थ तो होता है, पर पद का प्रयोग रूढ अर्थ से भिन्न अर्थ में किया जाता है। 'अप्रतीत' में रूढ अर्थ होता ही नहीं। 'असमर्थ' के चौथे प्रकार के संशय से 'अप्रतीत' का संशय भिन्न है। कारण, उसमें विशेषपद में संशय रहता है, इसमें संज्ञापद में। 'असंशय अप्रतीत' वहाँ होता है जहाँ यौगिक अर्थ देनेवाले, पर रूढ अर्थ में प्रयुक्त संज्ञापदों का पर्याय से कल्पित अभिधान द्वारा प्रयोग हो।^६ 'नाट्यशास्त्र' के गूढार्थ की अभिनवगुप्तकृत व्याख्या से इस

१. "शब्दप्रवृत्तिहेतो सत्यप्यसमर्थमेव रूढिवलात् ।
यौगिकमर्थविशेषं पदं यथा वारिधौ जलभृत् ॥"—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।६।
२. "निश्चीयते न यस्मिन्वस्तु विशिष्टं पदे सभानेन ।
असमर्थं तच्च यथा मेघच्छविमारोहाश्वम् ॥"—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।७।
३. "युक्त्या वक्ति तमर्थं न च रूढं यत्र यदभिधानतया ।
द्वेषा तदप्रतीतं संशयवदसंशयं च पदम् ॥"—वही, ६।११।
४. "साधारणमपरेष्वपि गुणादिकृत्वा निमित्तमेकस्मिन् ।
यत्कृतमभिधानतयार्थे संशयवद्यथा हिमहा ॥"—वही, ६।१२।
५. "हिमापहामित्रधरं व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम् ।
—भामहकृत काव्यालंकार, १।४१।
६. "पदमपरमप्रतीतं यद्यौगिकरूढशब्दपर्यायः ।
कल्पितमर्थं तस्मिन्यथाश्वयोषिन्मुखाचिन्मान् ॥"—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।१३।

दोष-प्रकार का साम्य है। निष्कर्ष यह कि रुद्रट के 'अप्रतीत' के दोनों प्रकार प्राचीन आचार्यों द्वारा भिन्न दोष नामों से संकेतित हैं। 'अप्रतीत' नाम भी भामह-वामन द्वारा भिन्न लक्षण से युक्त होकर उल्लिखित है। रुद्रट ने इस दोष में नवीन सम्बन्ध-स्थापन के रूप में योगदान किया है।

रुद्रट का 'विसन्धि' नामक दोष वामन के इसी दोष से अंशतः साम्य रखता है। वामन ने जहाँ उसके तीन प्रकार माने हैं, वहाँ रुद्रट ने दो ही। रुद्रट 'सन्धियोभ्य स्थल में सन्धि नहीं करने पर या विरुद्धसन्धि करने पर यह दोष मानते हैं।' इनमें प्रथम स्थिति का वामन ने उल्लेख किया है। वामन के सन्धिवैरूप्य और कष्टसन्धि को रुद्रट ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उसकी जगह विरुद्धसन्धित्व का उल्लेख किया, जो भामह का विसन्धित्व है।^१ वामन ने इसे छोड़ दिया था। रुद्रट का 'विपरीतकल्पना' दोष नामतः नवीन है, पर तत्त्वतः पूर्णतः नवीन नहीं। उसे भामह के 'व्यर्थ' और वामन के 'सन्दिग्ध' का मिश्रण कहा जा सकता है। इसमें ऐसे पद का प्रयोग होता है, जिसके समासादि के कारण दो अर्थ सम्भव हैं तथा इनमें एक अर्थ प्रकरणविरुद्ध होता है।^२ यह संशय केवल सन्धि के कारण नहीं होता। जैसा वामन के सन्दिग्ध के उदाहरण में पाया जाता है।^३

'ग्राम्य' दोष की व्याख्या में रुद्रट ने कुछ नवीनता प्रदर्शित की है। उन्होंने अनुचित पद को ग्राम्य कहा है।^४ इस अनौचित्य के इन चार प्रकारों का रुद्रट ने उल्लेख किया है—१. वक्तृविषयक, २. वस्तुविषयक, ३. सम्यासम्यार्थवाचक का सम्यार्थ में प्रयोग तथा ४. पूर्वकवियों द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट वस्तुओं से सम्बद्ध ध्वन्यर्थव्यंजक शब्दों का उनसे भिन्न वस्तुओं के साथ सम्बद्ध करके प्रयोग करना।^५ प्रथम वहाँ होता है, जहाँ उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति में विभक्त वक्ता अपने स्वभाव से प्रतिकूल सम्बोधन का प्रयोग करे, जैसे कोई अधमपात्र किसी को 'तत्रभवान्' कहे, भले ही सम्बोध्य व्यक्ति उस सम्बोधन

१. "यस्यादिपदेन समं सन्धिर्न भवेद् भवेद्विरुद्धो वा।

तदिति विसन्धि स इत्थं मन्थरया भरत आहूतः॥"

—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।१४।

२. देखिए—भामहकृत काव्यालंकार, ४।२७।

३. "पूर्वार्थप्रतिपन्थी यस्यार्थः स्पष्ट एव सम्भवति।

विपरीतकल्पनं तद्भवति पदमकार्यन्निश्चितम्॥"

—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।१६।

४. 'स महात्मा भाग्यवशान्महापदमुपागतः।' —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० १०६।

५. 'यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।

—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।१७।

६. वही, ६।१७ ६।२१ तथा ६।२५-२६।

के उपयुक्त ही क्यों न हो।^१ दूसरा 'ग्राम्य' वहाँ होता है, जहाँ सम्बोध्य विषय की प्रकृति के प्रतिकूल सम्बोधन का वक्ता द्वारा प्रयोग, जैसे राजा के लिए 'तत्रभवान्' का प्रयोग।^२ तृतीय 'ग्राम्य' का उदाहरण 'गण्ड' शब्द का प्रयोग है, जो कपोल अर्थ में सम्यार्थवाचक होते हुए भी एक असम्य अर्थ का भी वाचक है।^३ चौथे ग्राम्य का उदाहरण वह है, जहाँ रणति, भणति, वाति, कणति जैसे पदों का नूपुर, पुरुष, वायु तथा पीड़ित के प्रसंग में प्रयोग न कर दूसरी वस्तुओं के प्रसंग में प्रयोग किया जाय, जैसे पुरुष के लिए 'वाति' का प्रयोग।^४ इन प्रकारों में से तीसरे का ही उल्लेख पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने 'ग्राम्य' के रूप में किया है। शेष उनके 'लोकविरुद्ध' के अन्तर्गत आयेंगे। रुद्रट ने अनीचित्य के चार प्रकारों का ही उल्लेख किया है, पर वह इतना व्यापक है कि उसमें बहुत-सारे दोषों का अन्तर्भाव हो जायगा। 'ग्राम्य' का यह व्यापक रूप रुद्रट की निजी कल्पना है।

किसी खास देशभाषा का पद देश्य कहलाता है। जिस देश्य पद की प्रकृति-प्रत्यय-मूलक व्युत्पत्ति न दी जा सके, उसके संस्कृत में प्रयुक्त होने पर रुद्रट का 'देश्य' दोष होता है। इसका उदाहरण रुद्रट ने 'मडह' दिया है।^५ यह रुद्रट का नवीन दोष है, जिसका पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने संकेत नहीं किया है।

रुद्रट-मान्य तीन वाक्यदोष हैं—संकीर्ण, गर्भित और गतार्थ।^६ 'अनलंकार' को वे दोष नहीं मानते, पर वैसे वाक्य को, जिसमें अलंकार न हों, 'मध्यम' अवश्य मानते हैं।^७ जिस वाक्य के पद वाक्यान्तर के साथ मिश्रित हों, उसे रुद्रट 'संकीर्ण' मानते हैं।^८ जो वाक्य दूसरे वाक्य के अन्दर प्रविष्ट रहे और इस प्रकार कष्ट-कल्पना से अपना अर्थबोध कराये, उसे वे 'गर्भित' मानते हैं।^९ जिस वाक्य का अर्थ अन्य अभिधेय वाक्य से गम्य हो, उसे

१. रुद्रटकृत काव्यालंकार ६।१९।

२. वही, ६।२०।

३. वही, ६।२२।

४. वही, ६।२५-२६।

५. "प्रकृतिप्रत्ययमूला व्युत्पत्तिर्नास्ति यस्य देश्यस्य।

तन्मडहादि कथञ्चन छडिरिति न संस्कृते रचयेत्॥"—वही, ६।२७।

६. 'वाक्यं भवति तु दुष्टं सङ्कीर्णं गर्भितं गतार्थं च।'—वही, ६।४०।

७. 'यत्पुनरनलङ्कारं निर्दोषं चेति तन्मध्यम्।'—वही, ६।४०।

८. 'वाक्येन यस्य साकं वाक्यस्य पदानि सन्ति मिश्राणि।

तत्सङ्कीर्णं गमयेदनर्थमर्थे न वा गमयेत्॥"—वही, ६।४१।

९. 'यस्य प्रविशेदन्तर्वाक्यं वाक्यस्य सङ्गतिर्यतया।

तद्गर्भितमिति गमयेन्निरुपमं कष्टकल्पनया॥"—वही, ६।४३।

उन्होंने 'गतार्थ' कहा है, जिसका उदाहरण न देकर प्रबन्धों में उपलब्ध बताया है।^१ रुद्रट के ये तीनों दोष नये हैं।

रुद्रट द्वारा प्रतिपादित नौ अर्थदोष इस प्रकार हैं—१. अपहेतु, २. अप्रतीत, ३. निरागम, ४. बाधयत्, ५. असम्बद्ध, ६. ग्राम्य, ७. विरस, ८. तद्वत् तथा ९. अतिमात्र।^२ इनमें द्वितीय का उल्लेख वामन द्वारा हो चुका है। पष्ठ और सप्तम गुणविपर्ययस्वरूप दोष के रूप में दण्डी द्वारा उल्लिखित हैं। फिर भी, ये दोष नामतः ही पूर्वपरिचित हैं। रुद्रट ने उनका भिन्न लक्षण प्रतिपादित किया है। रुद्रट का 'अप्रतीत' वामन के 'गूढार्थ' से समता रखता है।^३ उनका 'ग्राम्य' भी दण्डी का 'ग्राम्य' नहीं है। उन्होंने व्यवहार, आकार, वेष तथा वचन का देश, कुल, जाति, विद्या, वित्त, वय, स्थान तथा पात्र नामक आठ विषयों के अनौचित्य में 'ग्राम्य' दोष माना है।^४ रुद्रट का 'विरस' भी गुणविपर्यय न होकर रसदोष है। जिस रस का जो प्रसंग न हो उसमें उसकी सत्ता होने से 'विरस' दोष होगा। सावसर होने पर भी यदि किसी रस की अतिवृद्धि हो तब भी यह दोष होगा।^५

रुद्रट के शेष छह अर्थदोष नामतः नवीन हैं पर लक्षणतः सभी नये नहीं हैं। 'निरागम' भामह का 'आगमविरुद्ध' है।^६ 'बाधयत्' उन्हीं का 'व्यर्थ' है।^७ 'असम्बद्ध' का उदाहरण वैसा ही है, जैसा वामन के 'एकार्थ' का है।^८ 'अतिमात्र' भी नामतः ही नया है, दण्डी ने 'कान्ति' गुण के विपर्यय के रूप में 'अत्युक्ति' की चर्चा की है। रुद्रट का

१. "यस्यार्थः सामर्थ्यादित्यार्थैरेव गम्यते वाक्यैः।

तदिति प्रबन्धविषयं गतार्थमेतत्ततो विद्यात्॥"

—वही, ६।४५।

२. "अपहेतुरप्रतीतो निरागमो बाधयन्नसम्बद्धः।

ग्राम्यो विरसस्तद्वानतिमात्रश्चेति दुष्टोऽर्थः॥"

—वही, ११।२।

३. तुल० 'अर्थोऽयमप्रतीतो यः सन्नपि न प्रयुज्यते वृद्धैः।'

रुद्रटकृत काव्यालंकार, ११५ की अप्रसिद्धार्थप्रयुक्तं गूढार्थम्।'

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।१३ से।

४. "ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।

देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु॥"

—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ११।९।

५. "अन्यस्य यः प्रसङ्गो रसस्य निपतेदसः क्रमापेतः।

विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः॥"

—वही, ११।१२।

६. तुल० 'आगमगम्यस्तमृते य उच्यतेऽर्थो निरागमः स इति।'

—वही, ११।६ तथा भामहकृत काव्यालंकार, ४।४७ की।

७. तुल० रुद्रटकृत काव्यालंकार, ११।७ तथा भामहकृत काव्यालंकार ४।९ की।

८. तुल० रुद्रटकृत काव्यालंकार, ११।८ तथा काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ९९।

‘अतिमात्र’ ‘अत्युक्ति’ ही है।’ जो विशेषण जिसके साथ अव्यभिचारी भाव से लगा हुआ है (जैसे दावानल के साथ अतितीव्रता), उसका छन्द पूरण के लिए प्रयोग करना ‘तद्वत्’ दोष कहलाता है।’ इसकी समता रुद्रट के ‘असम्बद्ध’ से है।’ विशिष्टता इतनी है कि प्रयोजन (छन्दपूरण) की इसमें चर्चा कर दी गई है। वामन के ‘अनर्थक’ से भी ‘तद्वत्’ का अंशतः साम्य है।’ भामह ने ‘हेतुहाति’ नामक जिस दोष का उल्लेख किया है, उससे रुद्रट के ‘अपहेतु’ का दूरवर्त्ती सम्बन्ध है। दोनों को पूर्णतः समान नहीं कहा जा सकता। हेतु की अपकृष्टता से सम्बद्ध होकर भी ‘अपहेतु’ विशिष्ट स्थिति का उल्लेख करता है।’ निष्कर्ष यह कि रुद्रट के नौ अर्थदोषों में पूर्णतः नवीनता एक भी दोष में नहीं है, पर वे पूर्णतः प्राचीन भी नहीं हैं। कहीं नाम प्राचीन है, तो लक्षण नवीन और कहीं लक्षण परिचित है, तो नाम नवीन। इस प्रकार, रुद्रट ने अर्थदोषों के क्षेत्र में भी आंशिक योगदान किया है।

पंचम अध्याय में कहा जा चुका है कि रुद्रट ने कुछ दोषाभाव-स्वरूप गुणों का उल्लेख किया है। इस प्रकार संकेतित दोषों के नाम ये हैं—१. न्यूनपद, २. अधिकपद, ३. अवाचक, ४. अक्रम, ५. अपुष्टार्थ, ६. अशब्द तथा ७. अचारुपद।’ इनमें से ‘अक्रम’ भामह द्वारा ‘अपक्रम’ के रूप में, ‘अशब्द’ ‘शब्दहीन’ के रूप में तथा ‘अवाचक’ और ‘अपुष्टार्थ’ इन्हीं नामों से उल्लिखित हैं। इस प्रकार दो ही नये दोष वचते हैं—‘अधिकपद’ और ‘न्यूनपद’। इनका पूर्ववर्त्ती आचार्यों द्वारा उल्लेख नहीं हुआ है।

रुद्रट ने दण्डी की तरह उपमादोषों की संख्या चार ही मानी है, पर वे चार दोष वही नहीं हैं, जो दण्डी द्वारा माने गये हैं। रुद्रट के उपमादोषों के नाम हैं—१. सामान्य-

१. “अतिदूरमतिक्रांतो मात्रां लोकेऽतिमात्र इत्यर्थः।’

—रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।१७।

२. “यो यस्याभिचारी सगुणादिस्तद्वद् विशेषणं क्रियते।

परिपूरयितुं छन्दो यत्र स तद्वानिति ज्ञेयः॥

—वही ११।१५।

३. तुल० उपर्युक्त छन्द की इस छन्द के साथ :

“प्रकान्तानुपयोगो प्राप्तो यस्तत्क्रमावसम्बद्धः।

स इतिगता ते कीर्तिर्बहुफेनं जलधिमुल्लंघ्य॥”

—वही, ११।८।

४. तुल० उपर्युक्त टिप्पणी-संख्या २ की ‘पूरणार्थमनर्थकम्।’

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१९ से।

५. “अपहेतुरसौ यस्मिन्केनचिदंशेन हेतुतामर्थः।

याति तथात्वे मुक्त्या बलवत्या बाध्यते परया॥”

—रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।३।

६. “अन्यूनाधिकवाचकसुक्रमपुष्टार्थशब्दचारुपदम्।

क्षोदक्षममक्षूणं सुमतिर्विक्रियं प्रयुञ्जीत॥” —रुद्रट-कृत काव्यालंकार, २।८।

शब्दभेद, २. वैषम्य, ३. असम्भव तथा ४. अप्रसिद्ध।^१ प्रथम दोष वहाँ होता है, जहाँ उपमान और उपमेय का सामान्यवाची पद जबतक भग्न न हो, तबतक उपमान का वाचक नहीं हो पाता है।^२ वह सामान्यवाची पद लिंग, काल, कारक, विभक्ति तथा वचन के अन्यथा रहने से उपमा में भग्न हो जाता है।^३ अभिप्राय यह कि जहाँ उपमान और उपमेय के लिंग, काल, कारक, विभक्ति तथा वचन भिन्न रहते हैं, वहाँ उनके सामान्यवाची पद को भग्न किये बिना दोनों में अन्वित करना सम्भव नहीं होता है। जैसे 'चन्द्रकलेव सुगौरो' शब्द का इसलिए भग्न होना आवश्यक है कि उपमान पुल्लिङ्ग न होकर स्त्रीलिङ्ग है। अतः इसे 'यथा चन्द्रकला सुगौरी तथाऽयं सुगौरः' कहना पड़ेगा। दूसरा दोष 'वैषम्य' वहाँ होता है, जहाँ उपमेय और उपमान में कोई एक निर्विशेषण हो और दूसरा सविशेषण तथा इस प्रकार अकृत विशेषण का कृतविशेषण से साम्य दिखाया गया हो।^४ यह दोष, रुद्रट के अनुसार 'कल्पिता' और 'उत्पाद्या' उपमाओं में होता है।^५ रुद्रट का तीसरा उपमादोष 'असम्भव' पिछले आलंकारिकों के 'असम्भव' जैसा नहीं है।^६ उनका 'अप्रसिद्ध' पिछले आलंकारिकों के 'विपर्यय' को अन्तर्भूत किये हुए है।^७ किन्तु 'विपर्यय' से इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें अप्रसिद्धत्व आवश्यक माना गया है। केवल हीनता या उत्कृष्टता के रूप में जो विपर्यय कल्पित किया गया है, वह रुद्रट के अनुसार तभी दोष होगा, जब अप्रसिद्ध होगा, अन्यथा निन्दा-स्तुति में किये गये विपर्यय को भी हमें दोष-स्वरूप मानना होगा, जो उचित नहीं है। नमिसाधु ने इसी आधार पर 'अप्रसिद्ध' का समर्थन और विपर्यय का उसमें अन्तर्भाव किया है।^८ रुद्रट के उपमादोषों में तीन के नाम नये

१. "सामान्यशब्दभेदो वैषम्यमसम्भवो प्रसिद्धश्च।

इत्येते चत्वारो दोषा नास्म्यगुपमायाः॥" —रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।२४।

२. "सामान्यशब्दभेदः सोऽयं यत्रापरत्र शक्येत।

योजयितुं नाभग्नं तत्सामान्याभिधायिपदम्॥"

—वही, ११।२५।

३. "तल्लिङ्ग कालकारकविभक्तिवचनान्यभावंसद्भावात्।

उभयोः समानयोरिति तस्यां भिद्येत किञ्चित्॥"

—वही, १।२६।

४. 'अकृतविशेषणमेकं यत्स्यादुभयोस्तदन्यवैषम्यम्।'

—वही, ११।२९।

५. 'सम्भवति कल्पितायामुत्पाद्यां च नान्यत्र।'

—वही, ११।२९।

६. "उपमानं यत्र स्यादसम्भवतद्विशेषणं नियमात्।

सम्भूतमयद्यर्थं विज्ञेयोऽसम्भवः स इति।'

—वही, ११।३२।

७. "तथा योऽपि हीनताधिक्यविशिष्टो विपर्यय उक्तः सोऽपि न तावन्मात्रेण दोषहेतुः। अतिप्रसङ्गात्। अपित्वप्रसिद्धत एव।"

—वही, नमिसाधु-कृत टीका, पृ० १४६।

८. "तथा योऽपि हीनताधिक्य विशिष्टो विपर्यय उक्तः सोऽपि न तावन्मात्रेण दोषहेतुः।

हैं, जिनमें पिछले आलंकारिकों के 'असादृश्य' तथा 'असम्भव' के अतिरिक्त बाकी पाँचों उपमादोषों का अन्तर्भाव नमिसाधु ने दिखाया है।^१ 'असम्भव' को रुद्रट ने स्थान दिया ही है। 'असादृश्य' को सम्भवतः वे इस कारण छोड़ देते हैं कि उसके अभाव में उपमा अलंकार की सत्ता ही नहीं मानी जा सकती। नमिसाधु की टीका से यही संकेत मिलता है।^२

परकीया रति के उपदेश को रुद्रट ने वर्ज्य माना है। पर यदि कवि उसकी एषणा न करे और उसका उपदेश भी न दे, केवल वर्णन के रूप में उसे काव्य में स्थान दे, तो रुद्रट इसे दोषस्वरूप नहीं मानते।^३

रुद्रट-प्रतिपादित दोषों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने कई ऐसे दोषों का उल्लेख किया है, जिनका स्वरूप प्राचीन है, पर नाम नया है। कुछ प्राचीन दोषों में नवीन सम्बन्ध-स्थापन भी उन्होंने किया है। ऐसा लगता है कि रुद्रटानुमोदित दोष किसी ऐसे क्षेत्र के भावक-समुदाय में प्रचलित होंगे, जो पिछले आलंकारिकों से थोड़ी भिन्न परम्परा रखता हो। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि पिछले आलंकारिकों द्वारा मान्य कुछ दोष रुद्रट की दोष-सूची में स्थान नहीं पाते; उदाहरणार्थ, छन्दों के दोष, विद्याविरुद्ध, प्रतिज्ञाहानि, दृष्टान्तहानि आदि। रुद्रट के दोष-विवेचन का महत्त्व इस दृष्टि से ज्यादा है कि उन्होंने 'रस' और 'औचित्य' को दोष से सम्बद्ध किया। 'ग्राम्य' दोष का कारण उन्होंने कई प्रकार के अनौचित्यों को माना है, यह देखा जा चुका है। रसदोष के रूप में 'विरस' की भी चर्चा हो चुकी है। ऐसा लगता है, रुद्रट काव्यशास्त्र के उस काल का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें एक ओर अलंकार-रीति-गुण आदि का महत्त्व निःशेष नहीं हुआ था, तो दूसरी ओर रस-सम्प्रदाय सिर उठाने लगा था। रुद्रट के दोष-विवेचन में इस तथ्य का संकेत मिलता है।

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने विशिष्ट दोषों का लक्षण-निरूपण इसलिए नहीं किया कि उन्हें

अति प्रसङ्गात् । अपि त्वप्रसिद्धित एव । अन्यथा हि निन्दास्तुती यत्र चिकीर्षते
भवतस्तत्रापि यथाक्रमं निरूप्यत्युक्तस्य चोपमानस्य दुष्टत्वं स्यात् ।"

—वही, पृ० १४६।

१. वही, पृ० १४६।

२. 'को हि ज्ञातोपमालक्षणः सादृश्याभावे उपमां कुर्वीत ।'

—वही, पृ० १४६।

३. "नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः ।

कर्तव्यतयाऽन्येषां न च तदुपायोऽभिघातव्यः ।"

किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति ।

आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र ॥

—रुद्रट-कृत काव्यालंकार, १४।१२-१३।

इसके लिए उदाहरण देने पड़ते। सम्भव था, कुछ महाकवियों की रचनाएँ भी उदाहरण-स्वरूप आ जातीं। इधर आनन्दवर्धन का सिद्धान्त था कि महाकवियों का दोषोद्घाटन अपना ही दोष है। फिर भी, दोष-विकास के क्षेत्र में आनन्दवर्धन का महत्त्व युगप्रवर्तक आचार्य के रूप में है। इसका श्रेय उनकी उन उक्तियों को है, जिन्होंने दोष-धारणा के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की। दोषों के स्वरूप-चिन्तन की दिशा बदलनेवाली आनन्दवर्धन की मान्यताओं का विस्तार से पंचम अध्याय में निर्देश हो चुका है। रसध्वनि की दृष्टि से दोषों को दोषत्व मानना और अनौचित्य को रसभंग का अन्यतम कारण मानना आनन्दवर्धन की मौलिक घोषणाएँ थीं। यहाँ हमारा उद्देश्य आनन्दवर्धन की उक्त मान्यताओं पर आधृत उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विशिष्ट दोष-संकेतों का विवेचन प्रस्तुत करना है।

आनन्दवर्धन का स्पष्ट निर्देश है कि प्रबन्ध हो या मुक्तक, रसाभिव्यंजन की इच्छा रखनेवाले कवि को रसविरोधी पदार्थों का परिहार करना आवश्यक है।^१ वे इन रसविरोधों की सूची इस प्रकार देते हैं—१. विरुद्ध रस-सम्बन्धी विभावादि का वर्णन, २. प्रस्तुत रस से अन्वित रहने पर भी अत्यन्त विस्तार से अन्य इतिवृत्त का वर्णन, ३. अनवसर में रस का विच्छेद, ४. असमय में रस का प्रकाशन, ५. रसादि के परिपुष्ट होने के बाद भी उसका बार-बार उद्दीपन तथा ७. वृत्त्यनौचित्य।^२ इनकी आनन्दवर्धन द्वारा दी गई व्याख्या और उदाहरणों का परिचय पाना आवश्यक है।

प्रस्तुत रस के विरोधी रस के विभाव, भाव तथा अनुभाव के ग्रहण से रसविरोध हो जाता है, यह आनन्दवर्धन का मत है।^३ उदाहरणार्थ, शृंगाररस का शान्तरस विरोधी है, अतः यदि कोई शान्त के आलम्बन को शृंगार का विषय बनाये, तो यह रसविरोध का उदाहरण होगा। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में शिव को शृंगार का विषय बनाना ऐसा ही है। प्रिय के प्रणय-कलह में कुपिता नायिका के मनाने में वैराग्य की चर्चा करना विरुद्धरस-

- १ "प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥"

—ध्वन्यालोक, ३।१७।

२. "विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोज्ज्याय वर्णनम्॥
[अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम्॥
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च।

—वही, ३।१८-१९।

३. "प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भावनीयः।"

—वही, पृ० २९०।

भाव-परिग्रह का उदाहरण है।^१ रूठी हुई नायिका के प्रसन्न न होने पर ओंठ काटना, तर्जन आदि रौद्र के अनुभावों का वर्णन विरुद्धरसानुभाव-परिग्रह का उदाहरण है।^२

प्रकृत रस से सम्बद्ध रहने पर भी रसमित्र किसी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन करना भी आनन्दवर्धन के अनुसार रसविरोध का कारण है।^३ किसी नायक के विप्रलम्भ-शृंगार का वर्णन आरम्भ कर कवि का यमकादि अलंकार की रचना के अनुराग से अत्यन्त विस्तार से गिरि-कानन का वर्णन करने लग जाना इस प्रकार के रसविरोध का एक उदाहरण है।^४ किसी नायक का, जिसके साथ समागम उसको अमीष्ट है, ऐसी नायिका के साथ रति के पुष्ट हो जाने पर और उनके परस्पर अनुराग का पता लग जाने पर उनके समागम के उपाय के चिन्तन-योग्य व्यापार को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लगना अनवसर में रसविराम का एक उदाहरण है।^५ नाना वीरों के विनाशक कल्प-प्रलय के समान युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर विप्रलम्भ-शृंगार के प्रसंग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष के भी शृंगार-कथा में पड़ जाने का वर्णन अनवसर में रसप्रकाशन का एक उदाहरण है।^६ विभावादि का आलम्बन करते हुए रस की आस्वा-दात्मक परिपुष्टि हो जाने के बाद भी बार-बार उसका उद्दीपन करना भी रसविरोध का हेतु है।^७

१. "विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये।" —वही, पृ० २९०।
२. "विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविशेषस्य रौद्रानुभाववर्णने।" —वही, पृ० २९०।
३. "अथ चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिद्वन्वितस्यापि-विस्तरेण कथनम्।" —वही, पृ० २९१।
४. "यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कार-निबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने।" —वही, पृ० २९१।
५. "तत्रानवसरे विरामो यथा नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे, समागमो-पायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने।" —वही, पृ० २९२।
६. अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृद्धविविधवीरसंक्षये कल्पसंक्षयकल्पे सङ्ग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्त-मुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायायमवतारवर्णने।" —वही, पृ० २९२।
७. "पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनः-पुन्येन दीपनम्।" —वही, पृ० २९३।

इसके लिए उदाहरण देने पड़ते। सम्भव था, कुछ महाकवियों की रचनाएँ भी उदाहरण-स्वरूप आ जातीं। इधर आनन्दवर्धन का सिद्धान्त था कि महाकवियों का दोषोद्घाटन अपना ही दोष है। फिर भी, दोष-विकास के क्षेत्र में आनन्दवर्धन का महत्त्व युगप्रवर्तक आचार्य के रूप में है। इसका श्रेय उनकी उन उक्तियों को है, जिन्होंने दोष-धारणा के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की। दोषों के स्वरूप-चिन्तन की दिशा बदलनेवाली आनन्दवर्धन की मान्यताओं का विस्तार से पंचम अध्याय में निर्देश हो चुका है। रसध्वनि की दृष्टि से दोषों को दोषत्व मानना और अनौचित्य को रसभंग का अन्यतम कारण मानना आनन्दवर्धन की मौलिक घोषणाएँ थीं। यहाँ हमारा उद्देश्य आनन्दवर्धन की उक्त मान्यताओं पर आधृत उनके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विशिष्ट दोष-संकेतों का विवेचन प्रस्तुत करना है।

आनन्दवर्धन का स्पष्ट निर्देश है कि प्रबन्ध हो या मुक्तक, रसामिव्यंजन की इच्छा रखनेवाले कवि को रसविरोधी पदार्थों का परिहार करना आवश्यक है।^१ वे इन रसविरोधों की सूची इस प्रकार देते हैं—१. विरुद्ध रस-सम्बन्धी विभावादि का वर्णन, २. प्रस्तुत रस से अन्वित रहने पर भी अत्यन्त विस्तार से अन्य इतिवृत्त का वर्णन, ३. अनवसर में रस का विच्छेद, ४. असमय में रस का प्रकाशन, ५. रसादि के परिपुष्ट होने के बाद भी उसका बार-बार उद्दीपन तथा ७. वृत्त्यनौचित्य।^२ इनकी आनन्दवर्धन द्वारा दी गई व्याख्या और उदाहरणों का परिचय पाना आवश्यक है।

प्रस्तुत रस के विरोधी रस के विभाव, भाव तथा अनुभाव के ग्रहण से रसविरोध हो जाता है, यह आनन्दवर्धन का मत है।^३ उदाहरणार्थ, शृंगाररस का शान्तरस विरोधी है, अतः यदि कोई शान्त के आलम्बन को शृंगार का विषय बनाये, तो यह रसविरोध का उदाहरण होगा। कालिदास के 'कुमारसम्भव' में शिव को शृंगार का विषय बनाना ऐसा ही है। प्रिय के प्रणय-कलह में कुपिता नायिका के मनाने में वैराग्य की चर्चा करना विरुद्धरस-

१ "प्रबन्धे मुक्तके चापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।

यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥"

—ध्वन्यालोक, ३।१७।

२. "विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।

विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोज्ज्याय वर्णनम्॥

अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।

परिपोषं गतस्यापि पीनः पुन्येन दीपनम्॥

रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च।

—वही, ३।१८-१९।

३. "प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनं विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः सम्भावनीयः।"

—वही, पृ० २९०।

भाव-परिग्रह का उदाहरण है।^१ रूठी हुई नायिका के प्रसन्न न होने पर ओंठ काटना, तर्जन आदि रौद्र के अनुभावों का वर्णन विरुद्धरसानुभाव-परिग्रह का उदाहरण है।^२

प्रकृत रस से सम्बद्ध रहने पर भी रसमिन्न किसी अन्य वस्तु का विस्तार से वर्णन करना भी आनन्दवर्धन के अनुसार रसविरोध का कारण है।^३ किसी नायक के विप्रलम्भ-शृंगार का वर्णन आरम्भ कर कवि का यमकादि अलंकार की रचना के अनुराग से अत्यन्त विस्तार से गिरि-कानन का वर्णन करने लग जाना इस प्रकार के रसविरोध का एक उदाहरण है।^४ किसी नायक का, जिसके साथ समागम उसको अमीष्ट है, ऐसी नायिका के साथ रति के पुष्ट हो जाने पर और उनके परस्पर अनुराग का पता लग जाने पर उनके समागम के उपाय के चिन्तन-योग्य व्यापार को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लगना अनवसर में रसविराम का एक उदाहरण है।^५ नाना वीरों के विनाशक कल्प-प्रलय के समान युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर विप्रलम्भ-शृंगार के प्रसंग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष के भी शृंगार-कथा में पड़ जाने का वर्णन अनवसर में रसप्रकाशन का एक उदाहरण है।^६ विभावदि का आलम्बन करते हुए रस की आस्वा-दात्मक परिपुष्टि हो जाने के बाद भी बार-बार उसका उद्दीपन करना भी रसविरोध का हेतु है।^७

१. "विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्यकथाभिरनुनये।" —वही, पृ० २९०।
२. "विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने।" —वही, पृ० २९०।
३. "अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिद्वन्वितस्यापि-विस्तरेण कथनम्।" —वही, पृ० २९१।
४. "यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते कवेर्यमकाद्यलङ्कार-निबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने।" —वही, पृ० २९१।
५. "तत्रानवसरे विरामो यथा नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे विदिते च परस्परानुरागे, समागमो-पायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने।" —वही, पृ० २९२।
६. अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृद्धविविधवीरसंक्षये कल्पसंक्षयकल्पे सङ्ग्रामे रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्त-मुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायायमवतारवर्णने।" —वही, पृ० २९२।
७. "पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनः-पुन्येन दीपनम्।" —वही, पृ० २९३।

आनन्दवर्धन का कथन है कि अपनी सामग्री से परिपुष्ट और उपभुक्त रस बार-बार स्पर्श करने से मुरझाये हुए फूल के समान मलिन हो जाता है।^१

आनन्दवर्धन ने वृत्त्यनौचित्य की दो प्रकार से व्याख्या की है। वे वृत्ति का एक अर्थ व्यवहार लेते हैं।^२ नायिका की उचित शृंगारिक चेष्टाओं के अभाव में भी किसी कामान्ध नायक का सम्मोहेच्छा-प्रकाशन आनन्दवर्धन के अनुसार व्यवहारानौचित्य का एक उदाहरण है।^३ आनन्दवर्धन वृत्ति का दूसरा अभिप्राय भरतादि-अनुमोदित कैशिकी, सात्वती, भारती तथा आरमटी वृत्ति लेते हैं या अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपनागरिका, परुषा तथा कोमला वृत्ति मानते हैं। इन वृत्तियों का अविषय में निबन्धन भी वृत्त्यनौचित्य है।^४ इन वृत्तियों का भी अर्थ आनन्दवर्धन 'व्यवहार' लेते हैं। पर यह शब्दार्थ का रसानुकूल व्यवहार है। उनका कहना है कि व्यवहार को ही वृत्ति कहते हैं। उनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त जो वाच्य अर्थ का व्यवहार है, वह कैशिकी आदि वृत्तियाँ हैं और वाचक-आश्रित जो व्यवहार है, वह उपनागरिकादि वृत्तियाँ हैं।^५ इस प्रकार वे वृत्ति के दो प्रकार शाब्दी और आर्थी मानते हैं। शाब्दी में उपनागरिकादि की गणना करते हैं और आर्थी में कैशिकी आदि की। इस प्रकार वृत्त्यौचित्य का अर्थ हुआ शब्दार्थ का रसानुकूल व्यवहार। इससे यह संकेत मिला कि रस के प्रतिकूल शब्दार्थ की योजना उनकी दृष्टि में वृत्त्यनौचित्य है।

आनन्दवर्धन का यह भी संकेत है कि रसविरोध के प्रकार उतने ही नहीं हैं, जितने उन्होंने निर्दिष्ट किये हैं, अपितु अनेक हैं और हो सकते हैं, जिनका कवियों के द्वारा अपनी बुद्धि से समझकर परिहार किया जाना चाहिए।^६

१. "उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लान-कुसुमकल्पः कल्पते।" —वही, पृ० २९३।

२. 'तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुः।' —वही, पृ० २९३।

३. "यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिद्वृत्तितां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्मोगाभिलाषकथने।" —वही, पृ० २९३।

४. "यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धाना-मुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः।" —वही, पृ० २९४।

५. "व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कैशिकाद्याः वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः वृत्तयः।" —वही, पृ० ३३२।

६. "एवमेषां रसविरोधिनामन्येषां चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कवि-भिरवहितैर्भवितव्यम्।" —वही, पृ० २९५।

आनन्दवर्धन श्रुतिदुष्टादि दोषों को शृंगारध्वनि में ही हेय मानते हैं, अन्यत्र नहीं, यह पंचम अध्याय में निवेदित हो चुका है। इसी प्रसंग में आनन्दवर्धन ने अलंकारों के दोष-पूर्ण अभियोजन का उदाहरण उपस्थित किया है। उनका कहना है कि प्रधानभूत (अंगी) शृंगार के सभी भेदों में यत्नपूर्वक समान रूप से उपनिबद्ध अनुप्रास रसाभिव्यंजक नहीं होता।^१ अभिप्राय यह है कि अंगी शृंगार में यत्नपूर्वक अनुप्रास का बाहुल्य-प्रदर्शन दोष का उदाहरण है। आनन्दवर्धन का यह भी मत है कि ध्वन्यात्मक शृंगार में, विशेष रूप से विप्रलम्भ शृंगार में, कवि की शक्ति की सत्ता में भी यमकादि का निबन्धन प्रमाद का सूचक है।^२ उनका आशय यह है कि ध्वन्यात्मक प्रधानीभूत शृंगार व्यंजना-वृत्ति से व्यक्त होकर रमणीयता को प्राप्त होता है। उसको द्योतित करने के लिए यमक, श्लेष तथा दुष्कर शब्द के सूचक अलंकारों का उपयोग नहीं करना चाहिए। 'प्रमाद' शब्द से उन्होंने यह संकेत किया है कि काकतालीय न्याय से कदाचित् कहीं किसी एक यमकादि के निवेश को देखकर अन्य अलंकारों की तरह उनका प्रचुर प्रयोग नहीं करना चाहिए।^३ यानी यमकादि के एकाग्र प्रयोग को वेक्ष्म्य मानते हैं, अधिक प्रयोग को ही दोषाघायक मानते हैं। 'शक्ति रहते हुए भी' शब्दावली का प्रयोग उन्होंने इसलिए किया है कि अन्यत्र उन्होंने शक्ति को दोषाच्छादक माना है।^४ यहाँ वे यह बल देना चाहते हैं कि ध्वन्यात्मक प्रधान शृंगार में यमकादि का निबन्धन शक्ति की आच्छादकता को भी शक्तिहीन बना देता है। विप्रलम्भ को विशेष रूप से उल्लिखित करने का कारण उसकी अधिक सुकुमारता की ओर ध्यान आकृष्ट कराना है।^५ आनन्दवर्धन के उपर्युक्त मत का स्वाभाविक निष्कर्ष यह हुआ कि जहाँ यमकादि अंगी हों या जहाँ रसाभास हो, वहाँ यमकादि का निबन्धन दोषाघायक नहीं है।

१. "शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥" —ध्वन्यालोक, २।१४।
२. "ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥" —वही, २।१५।
३. "प्रमादित्वमित्यनेन एतद्दर्शयते काकतालीयेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमका-
देर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद् रसाङ्गत्वेन निबन्धनो न कर्तव्य इति ।"
—वही, द्वितीय उद्योत, पृ० १४३।
४. 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।'
—वही, तृतीय उद्योत, पृ० २४१।
५. 'विप्रलम्भे विशेषत इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते ।'
—वही, पृ० १४३।

अन्य अलंकारों के दुष्ट प्रयोग का भी अप्रत्यक्षतः संकेत आनन्दवर्धन द्वारा हुआ है। उनका कहना है कि रसनिष्पादन की तल्लीनता से ही अबुद्धिपूर्वक, बिना किसी पृथक् यत्न के ही आप-से-आप जो अलंकार निष्पन्न हों, वे ध्वनि में उपकारक ही माने जाते हैं, अपकारक नहीं।^१ यमक में तो पृथक् यत्न करना ही पड़ता है,^२ अतः उसके उपकारत्व का प्रश्न ही नहीं उठता, पर अन्य अलंकार अनायास उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे उपमारूपकादि अयलंकार। पर ये भी तभी उपकार हैं, जब १. इनकी विवक्षा रसपरत्वेन ही हो, २. अंगी (प्रधान) रूप में इनकी विवक्षा न हो, ३. उचित समय पर इनका ग्रहण हो, ४. उचित समय पर त्याग भी हो, ५. इनका अत्यन्त निर्वाह न हो और ६. निर्वाह हो जाने पर भी ये अंगरूप में ही रहें, अंगी रूप में नहीं।^३ इन शर्तों का पालन न होने पर ध्वनिकाव्य में अन्य अलंकारों की भी योजना दोषाधायक है, यह आनन्दवर्धन का अप्रत्यक्ष संकेत हुआ।

आनन्दवर्धन ने वर्णों की रसानुकूलता-प्रतिकूलता का भी प्रतिपादन किया है, जिसमें उनकी वर्णदोष-सम्बन्धी धारणा व्यक्त हुई है। रेफयुक्त शकार एवं षकार तथा ढकार को वे शृङ्गार, कर्षण और शान्त रस के विरोधी वर्ण मानते हैं, पर बीभत्स, रौद्र और वीररस के लिए उन्हें अनुकूल बताते हैं।^४ इस प्रकार अलंकारों की तरह वर्णों का दोषत्व भी आनन्दवर्धन की सम्मति में अनित्य ही है। इसी प्रकार उन्होंने संघटना के अनौचित्य का भी वर्णन किया है। वे वक्ता और वाच्य के औचित्य को ही संघटना का औचित्य मानते हैं।^५ 'वक्ता' से कवि या कविनिबद्धपात्र का अभिप्राय है, जो रसभावसमन्वित हो सकता या रस-

१. "रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मत्तः॥"

—वही, २।१६।

२. 'यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते।'

—वही, पृ० १४९।

३. "विवक्षतत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।

काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणंषिता॥

निर्व्यूढापि चाङ्गित्वे यत्ने प्रत्यवेक्षणम्।

रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्व साधनम्॥"

—वही, २।१८-१९।

४. "शष्ठी सरेफसंयोगी ढकारश्चापि भूयसा।

विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः॥

त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा।

तदा तं दीपयन्त्येव तेन वर्णा रसच्युतः॥"

—वही, ३।३-४।

५. "गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।

रसांस्तन्निधये हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः॥"

— वही, ३।६।

भावरहित।^१ वाच्य भी ध्वनिरूप रस का उपकारक, रसाभास का उपकारक, दृश्यकाव्य प्रतिपाद्य तथा श्रव्यकाव्य-प्रतिपाद्य के रूप में चार प्रकार का बताया गया है।^२ इन सबके औचित्य से ही संघटना का नियमन होना चाहिए। जब कवि या उसके द्वारा निबद्ध पात्र रसभाव-रहित हो, तो किसी भी संघटना का यथेष्ट प्रयोग हो सकता है।^३ पर जब वह रसभावयुक्त हो और रस भी ध्वनिरूप हो, न कि रसबदलंकार या रसाभाव-रूप हो, तब असमासात्मक या मध्यम समासात्मक संघटना का ही प्रयोग करना चाहिए, दीर्घ समासात्मक का कथंचित् ही।^४ करुण और विप्रलम्भ-शृंगार में अधिक कोमलता होती है, अतः वहाँ असमासात्मक संघटना ही उचित है।^५ आस्वादविलम्बक होने के कारण दीर्घ समासात्मक संघटना उनमें दोषस्वरूप है।^६ पर रौद्रादि भिन्न रसों में मध्यम समासात्मक संघटना अनुकूल होती है। यहाँ दीर्घ समासात्मक संघटना भी आत्यन्तिक रूप से परिहार्य नहीं है।^७ सभी संघटनाओं में प्रसाद-गुण का होना आनन्दवर्धन आवश्यक मानते हैं।^८

कहा जा चुका है कि वामन ने 'पुराणच्छाया' नामक दोष का उल्लेख गुणविपर्ययात्मक दोषों के प्रसंग में किया है। हरण-दोष का प्रथम संकेत वामन ने ही दिया है। आनन्दवर्धन का इस क्षेत्र में भी योगदान है। वे कवियों के संवाद (अन्यसादृश्य) को इन तीन कोटियों में

१. "वक्ता कविः कविनिबद्धो वा । कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा ॥"
—वही, पृ० २४३-२४४।

२. "वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा ।"
—वही, पृ० २४४।

३. "यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः ।
यदा हि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव ॥"
—वही, पृ० २४५।

४. "यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो रसश्च प्रवानाश्रितत्वाद्
ध्वन्यात्मभूतस्तदा नियमेनैव तत्रासमासमध्यसमासे एव संघटने ।"
—वही, पृ० २४५।

५. "करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोस्त्वसमासैव सङ्घटना ।" —वही, पृ० २४५।

६. "दीर्घसमासा सङ्घटना समासानामनेकप्रकार सम्भावनया कदाचिद् रसप्रतीतिं
व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते ।" —वही, पृ० २४५।

७. "रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यमसमासापि सङ्घटना कदाचिद् धीरोद्धत-
नायकसम्बन्धव्यापाराश्रयेण दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनाभाविरसोचित
वाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या ।"
— वही, पृ० २४५-२४६।

८. 'सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी ।' —वही, पृ० २४६।

वांटते हैं—१. प्रतिबिम्बवत्, २. चित्रवत् और ३. देहवत्।^१ प्रथम दो को उन्होंने त्याज्य और अन्तिम को क्षम्य माना है।^२

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्यक्षतः दोष-प्रतिपादन में प्रवृत्त न होकर भी आनन्दवर्धन ने यत्र-तत्र दोष से सम्बद्ध जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका दोष-विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्षतः दोष-विवेचन के क्रम में आनन्दवर्धन की उपरिवर्णित मान्यताओं का उपयोग किस प्रकार किया, यह हम यथास्थान प्रस्तुत करेंगे।

राजशेखर

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' को अट्ठारह अधिकरणों में लिखने की योजना की थी, जिनमें एक दोषाधिकरण भी होता।^३ पता नहीं, वे सभी अधिकरणों को लिख सके या नहीं। यदि वे सभी लिखे भी गये हों, तो उपलब्ध एक ही अधिकरण है। स्वभावतः राजशेखर के दोष-निरूपण की प्रत्यक्ष पद्धति से हम अनवगत हैं। फिर भी, प्राप्त अधिकरण में भी उनकी दोष-मान्यता की थोड़ी झलक मिलती है। असत्य, अनैतिकता एवं अश्लीलता का प्रचारक होने का काव्य पर आरोप करनेवालों को राजशेखर ने जवाब दिया है। वे काव्य के अर्थवाद को स्तुत्य मानते हैं।^४ उसे असत्य समझकर दुष्ट नहीं बताते। अनैतिकता के प्रति राजशेखर का दृष्टिकोण यह है कि उसका चित्रण कवि के द्वारा यदि विधिरूप में हो, तभी वह दोष है; निषेधरूप में वर्णित अनैतिकता दोष नहीं।^५ अश्लील या असभ्यार्थ राजशेखर की दृष्टि में परिस्थिति-विशेष में क्षम्य है; कारण, श्रुति एवं शास्त्र में भी उसका कथन हुआ है।^६ इस प्रकार काव्य पर लगाये गये आरोपों के खण्डन में

१. "संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिंवच्च शरीरिणाम्॥" —ध्वन्यालोक, ४।१२।

२. "तत्र पूर्वसनन्यात्मतुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः॥"

३. (क) "इतीयं प्रयोजकाङ्गवती सङ्क्षिप्त्य सर्वसमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।"
—राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा, पृ० ४।

(ख) ये अट्ठारह अधिकरण वे ही होंगे, जिन्हें विभिन्न दिव्य स्नातकों ने अलग-अलग रचा और जिनका दिग्दर्शन प्रथम अध्याय में दिया गया है। वहाँ एक दोषाधिकरण का भी उल्लेख है—'दोषाधिकरणं दिव्यः।'
—काव्य मीमांसा, पृ० ४।

४. 'नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः।'
—वही, षष्ठ अध्याय, पृ० ६२।

५. 'अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन।' —वही, षष्ठ अध्याय, पृ० ६६।

६. "प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः। इति यायावरीयः। तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।"
—वही, षष्ठ अध्याय, पृ० ६८।

प्रकारान्तर से राजशेखर ने यह बताया कि अर्थवाद, अनैतिकता तथा असम्यार्थ काव्य में स्थिति-विशेष में क्षम्य हैं, आत्यन्तिक रूप से दोषावह नहीं हैं।

राजशेखर ने हरण पर विस्तार से विचार किया है। शब्द और अर्थ के हरण के अनेक प्रकारों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कुछ को परित्याज्य माना है और कुछ को ग्राह्य। उनका कहना है कि आचार्य एक पद के हरण को दोष नहीं मानते, पर राजशेखर के अनुसार वह तभी अतुष्ट है, जब द्व्यर्थक हो और हरण करनेवाला कवि उसका अर्थान्तर में प्रयोग करे।^१ आचार्यों ने श्लेष-रहित तीन पद तक के हरण को दोष नहीं माना है, पर राजशेखर उनसे सहमत नहीं।^२ प्रसिद्ध पद (जिसमें कवि-प्रतिभा का प्रस्फुटन हुआ है) का तो हरण नहीं ही होना चाहिए, अप्रसिद्ध पद या पाद तक का हरण क्षम्य है।^३ आचार्यों का मत है कि पाद के अन्यथाकरण के लिए हरण दोष नहीं, अपितु स्वीकरण है; पर इसके विपरीत राजशेखर इसे भी 'स्वीकरण' नामान्तरवाची 'हरण' ही मानते हैं।^४ राजशेखर का कथन है कि कवि और व्यापारी के लिए चोर न होना अस्वाभाविक है, पर जो चोरी छिपा ले, वह प्रशंसनीय है।^५

राजशेखर ने अर्थ के ये तीन प्रकार माने—१. अन्ययोनि (दूसरे कवि द्वारा उत्पन्न), २. निह्नुतयोनि (जिसकी उत्पत्ति का पता न चले) तथा ३. अयोनि (स्वयं कवि द्वारा आविर्भूत)।^६ वामन ने भी इस प्रकार का वर्गीकरण किया है। वे दो ही प्रकार के अर्थों का निर्देश करते हैं—अयोनि तथा अन्यच्छायायोनि का।^७ राजशेखर 'अयोनि' के अतिरिक्त शेष दो प्रकार के अर्थों के पुनः दो-दो भेद करते हैं। 'अन्ययोनि' के प्रतिविम्बकल्प तथा आलेख्यप्रख्य एवं 'निह्नुतयोनि' के तुल्यदेहितुल्य तथा परपुरप्रवेशसदृश नामक भेद उन्होंने

१ "तत्रैकपदहरणं न दोषाय । इति आचार्याः । अन्यत्र द्व्यर्थपदात् । इति यायावरीयः ।"

—वही, अध्याय ११, पृ० १३६।

२ "त्रिभ्यः पदेभ्यः प्रभृतित्वदिल्लिष्टेभ्यो हरणम् । इति आचार्याः । 'न' इति यायावरीयः ।"

—वही, अध्याय ११, पृ० १४१।

३ "उल्लेखवान्पदसन्दर्भः परिहरणीयो नाप्रत्यभिज्ञायातः पादोऽपि ।"

—वही, अध्याय ११, पृ० १४१।

४. "पाद एवान्यथाकरणं कारणं न हरणम् अपितु स्वीकरणम् । इति आचार्याः ।... तदिदं स्वीकरणापरनामधेयं हरणमेव ।" —वही, अध्याय ११, पृ० १४३-४४।

५. "नास्त्यचौरः कवि जनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः ।"

स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥"—वही, अध्याय ११, पृ० १५१।

६. 'किन्तु त्रिपथमर्थमध्यगोष्महि यदुत्तान्ययोनिर्निह्नुतयोनिरयोनिश्च ।'

—वही, अध्याय ११, पृ० १५४।

७. 'अर्थो द्विविधोऽयोनिरन्यच्छायायोनिश्च ।'

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।७।

किये हैं।^१ इन चार में प्रथम को ही उन्होंने त्याज्य माना है, अन्य को नहीं।^२ जिस काव्य में समस्त भाव दूसरे कवि के हों, केवल वाक्य-विन्यास में नवीनता हो, उसे उन्होंने 'प्रतिबिम्बकल्प' कहा है।^३ इस त्याज्य प्रतिबिम्बकल्प नामक अर्थहरण के आठ प्रकारों का निरूपण राजशेखर ने किया है। ये इस प्रकार हैं—१. व्यस्तक—अर्थ का पौर्वापर्यविपर्यय;^४ २. खण्ड—अन्य कवि के विशाल अर्थ को खण्डित करके निर्मित करना;^५ ३. तैलबिन्दु—दूसरे काव्य के संक्षिप्त अर्थ को विस्तृत करके वर्णन करना;^६ ४. नटनेपथ्य—अन्य भाषा के भाव को दूसरी भाषा में कहना;^७ ५. छन्दोविनिमय—अर्थ समान रहना, केवल छन्द-परिवर्तन कर देना;^८ ६. हेतुव्यत्यय—हेत्वन्तर से अन्य कवि के अर्थ का ग्रहण;^९ ७. संक्रान्तक—कहीं देखी गई वस्तु का कहीं संक्रमण करना^{१०} और ८. सम्पुट—दो विभिन्न रचनाओं के भाव को एकत्र करना।^{११} इस भेद-प्रस्तार से स्पष्ट है कि राजशेखर ने हरण-सम्बन्धी विचारधारा को आगे बढ़ाने में अपनी सूक्ष्मेक्षिका की सहायता ली है।

कुन्तक

पंचम अध्याय में दोष के प्रति कुन्तक की धारणा के उल्लेख के क्रम में कहा जा चुका है कि काव्य में प्रयुक्त शब्दार्थ का उन्होंने विशिष्ट लक्षण दिया है और उसके उपयुक्त होने पर नेयाथार्थि दोषों की सत्ता का आप-से-आप खण्डन हो जाना कहा है। इसी

१. 'तत्रान्ययोनिद्विधा प्रतिबिम्बकल्प, आलेख्यप्रत्ययश्च। निह्नुतयोनिरपिद्विधा-
तुल्यदेही तुल्यपरपुरप्रवेशश्च।' —वही, अध्याय १२, पृ० १५४।
२. 'सोऽयं कवेरकवित्वदायी सर्वथा प्रतिबिम्बकल्पः परिहरणीयः।' —वही, अध्याय १२, पृ० १६७।
३. "अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तर विरचनापरं यत्र।
तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्॥" —वही अध्याय १२, पृ० १५४।
४. 'स एवार्थः पौर्वापर्यविपर्यासाद् व्यस्तकः।' —वही, अध्याय १२, पृ० १६०।
५. 'बृहतोऽर्थस्यार्द्धप्रणयने खण्डम्।' —वही, अध्याय १२, पृ० १६१।
६. 'संक्षिप्तार्थविस्तरेण तैलबिन्दुः।' —वही, पृ० १६२।
७. 'अन्यतमभाषानिबद्धं भाषान्तरेण परिवर्त्यत इति नटनेपथ्यम्।' —वही, पृ० १६३।
८. 'छन्दसा परिवृत्तिश्छन्दोविनिमयः।' —वही, पृ० १६३।
९. 'कारणपरा वृत्त्या हेतुव्यत्ययः।' —वही, पृ० १६४।
१०. 'दृष्टस्य वस्तुनोऽन्यत्र सङ्क्रमितः सङ्क्रान्तकम्।' —वही, पृ० १६५।
११. 'उभयवाक्यार्थोपादानं सम्पुटः।' —वही, पृ० १६६।

कारण दोषों के अलग प्रतिपादन से कुन्तक विरत रहे। किन्तु शब्दार्थ के जैसे प्रयोग को वे अपेक्षित मानते हैं, उससे भिन्न प्रयोग के कुछ उदाहरणों को उद्धृत करने की प्रक्रिया में उनकी दोषधारणा का स्वरूप प्रकट हुआ है और उसका परिचय पंचम अध्याय में दिया जा चुका है। जिस अनौचित्य को उन्होंने काव्य की 'शोभाहानि' या 'तद्विदाह्लादकारित्व-विघात' का कारण बताया है, उसके कई उदाहरण दिये हैं। उनमें से एक के अतिरिक्त शेष का विवरण पंचम अध्याय में दिया जा चुका है। जो उदाहरण वहाँ वर्णित न हो सका, उसे ही यहाँ उपस्थित कर हम कुन्तक के दोष-निरूपण को समाप्त करते हैं।

कुन्तक का कथन है कि रघुवंश में दिलीप के द्वारा सिंह को दिये गये प्रत्युत्तर में यह कहना कि अन्य गौओं के देने से वशिष्ठ का क्रोध दूर नहीं होगा, चूँकि नन्दिनी काम-धेनु की पुत्री है, सूचित करता है कि यदि नन्दिनी के बदले अन्य गौएँ वशिष्ठ को दी जा सकतीं, तो दिलीप नन्दिनी की रक्षा की उपेक्षा भी कर सकते थे।^१ अतः यह कथन दिलीप की मर्यादा के प्रतिकूल होने के कारण 'अनौचित्य' का उदाहरण है।

अभिनवगुप्त

'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्रीय दस दोषों की व्याख्या दी है और उनके उदाहरण भी दिये हैं। उन्होंने केवल टीकाएँ ही लिखी हैं, जिनमें किसी नवीन दोष की उद्भावना का अवसर न था। किन्तु आधार-ग्रन्थ के दोषों की जैसी व्याख्या उन्होंने की है, वह उस ग्रन्थ की धारणा के अनुरूप ही है, ऐसा हम नहीं मानते। कारण, 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित दोषों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं और लक्षण भी पर्याप्त विस्तृत नहीं हैं। अतः उसमें प्रतिपादित दोषों की व्याख्या के क्रम में अपने युग में प्रचलित उन दोषों की धारणा का उपयोग अभिनवगुप्त द्वारा स्वाभाविक था। 'नाट्यशास्त्र' के दोष-विवेचन के क्रम में हम देख चुके हैं कि उसके 'एकार्थ' की अभिनवकृत व्याख्या 'नाट्यशास्त्र' के काल की नहीं है, वह भामह-दण्डी के काल से भी परवर्ती काल की है। अतः यहाँ अभिनवगुप्त द्वारा 'नाट्यशास्त्र' के दोषों की दी गई व्याख्याओं की परीक्षा अपेक्षित है।

'गूढार्थ' की अभिनवगुप्त ने जो व्याख्या दी है, वह 'नाट्यशास्त्र' के प्रकरण में उद्धृत हो चुकी है और 'नाट्यशास्त्र' के लक्षण से मेल खाती है। भामह के 'गूढशब्दामिधान' से भी उसका साम्य है। अभिनवगुप्त ने 'अर्थान्तर' का जैसा उदाहरण दिया है,^२ वही

१. 'इत्यन्यासां गवां तत्प्रतिवस्तुप्रदानयोग्यता यदि कदाचित् सम्भवति ततस्तस्य मुनेर्ममचोभयोरप्येतज्जीवितपरिरक्षणनैरपेक्ष्यमुपपन्नमिति तात्पर्यपर्यवसानाद-
त्यन्तमनौचित्ययुक्तेयमुक्तिः।
—वक्रोक्तिजीवित, पृ० १६५।

२. 'चिन्तामोहमनङ्गमङ्गतनु ते विप्रेक्षितं सुभ्रुवः।'

—नाट्यशास्त्रः अभिनवभारतीः गायकवाड़-संस्करण, खण्ड २, पृ० ३३१।

वामन के द्वारा 'एकार्थ' के उदाहरण' के रूप में उद्धृत हो चुका है।^१ किन्तु 'अर्थान्तर' के लक्षण में जिस 'अवर्ण्यवर्णन' का उल्लेख है, उसकी संगति उक्त उदाहरण से भी हो जाती है। 'अर्थहीन' की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने लक्षण के प्रथम अंश के 'असम्बद्धत्व' को भामह-वामन के 'व्यर्थ' के रूप में व्याख्यात किया है^२ और द्वितीय अंश को वामन के 'सन्दिग्ध' के रूप में।^३ 'नाट्यशास्त्र' की निश्चित धारणा के अभाव में यह नहीं कहा जा सकता कि इस व्याख्या में उससे कुछ भिन्नता है या नहीं। 'नाट्यशास्त्र' में 'मित्रार्थ' के दो ही प्रकार हैं, पर अभिनवगुप्त ने एक तीसरा 'दूरसम्बन्ध-व्यवधान' भी जोड़ दिया है,^४ जो वामन के 'क्लिष्ट' (व्यवहित अर्थ-प्रत्यय) के समीप है।^५ 'अभिप्लुतार्थ' की अभिनवगुप्त-कृत व्याख्या^६ नाट्यशास्त्रीय भी हो सकती है या उससे परवर्ती भी। 'नाट्यशास्त्र' में जहाँ प्रमाण-वर्जित कथन को 'न्यायादपेत' कहा गया है,^७ वहाँ अभिनवगुप्त इसे देशकालकलाशास्त्र-विरुद्ध के रूप में ग्रहण करते हैं।^८ 'एकार्थ' की व्याख्या की नवीनता की चर्चा हो चुकी है। विषम, शब्दहीन और विसन्धि की व्याख्या में कोई उल्लेखनीय बात नहीं है। इस विवेचन से सिद्ध है कि अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्रीय दोषों की व्याख्या में पर्याप्त संशोधन-परिवर्द्धन किया है। इसमें वे वामन का बहुत कुछ अनुसरण करते प्रतीत होते हैं।

धनंजय

धनंजय-कृत 'दशरूपक' में रूपक एवं उसके विविध भेदों तथा तत्त्वों का विवेचन हुआ है। उसमें काव्यदोषों के स्वतन्त्र प्रतिपादन को स्थान नहीं मिला है। किन्तु नाट्य-

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २२, पृ० ९९।

२. 'अत्र पूर्वापरव्याघातादसम्बन्धता।'—अभिनवभारती, गायकवाड़-संस्करण, खण्ड २, पृ० ३३२ की तुलना कीजिए 'पूर्वापरपदार्थ व्याघाताद्विपर्ययकरं यथा।'—भामह-कृत काव्यालंकार, ४।९ तथा 'व्याहतपूर्वोत्तरार्थं व्यर्थम्।'—काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति, २।२।१० से।

३. तुल० 'अत्र हि सावशेषः प्रकरणापेक्षोवस्तुनिश्चयः।'—अभिनवभारती, गायकवाड़-संस्करण, खण्ड २, पृ० ३३२ की 'संशयकृत् सन्दिग्धम्'—काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति, २।२।२० से।

४. 'तत्र मूष्यो दूरसम्बन्धव्यवधाने सति।'—अभिनवभारती, गायकवाड़-संस्करण, खण्ड २, पृ० ३३२।

५. 'व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम्।'—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।२।२०

६. द्रष्टव्य नाट्यशास्त्र, अभिनवगुप्त-टीका, पृ० ३३२।

७. वही, ३८।

८. 'न्यायादपेतं देशकालविरुद्धं कलाशास्त्रविरुद्धं च।'—अभिनवभारती, नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, खण्ड २, पृ० ३३३।

शिल्प के कई निषेधों के उल्लेख के रूप में इस कव्यरूप से सम्बद्ध दोषों का संकेत तो इसमें हुआ ही है, जिनका परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

वस्तु-संघटन के प्रसंग में धनंजय ने इसका संकेत किया है कि प्राचीन वस्तु में नायक का कोई अनचित आचरण हो या कोई रसविरुद्ध प्रसंग हो, तो उसे नाटककार अपने नाटक में परित्यक्त कर दे या उसकी अन्यथा कल्पना प्रस्तुत करे।^१ उदाहरणार्थ, राम के द्वारा छद्म से बालिवध की कथा मायुराज के द्वारा 'उदात्तराघव' में छोड़ दी गई है।^२ 'वीरचरित' में बालिवध का अन्यथारूप प्रदर्शित है।^३ वहाँ रावण से मैत्री रखने के कारण बाली जब राम के वध के लिए आता है, तब राम उसका वध करते हैं। वस्तु-संघटन के सम्बन्ध में धनंजय का दूसरा निषेध यह है कि न तो अतिरसता से वस्तु को दूर तक विच्छिन्न रखना चाहिए और न वस्तु तथा अलंकार-लक्षण से रस का तिरोधान करना चाहिए।^४ इस प्रकार धनंजय रस एवं वस्तु के सन्तुलित संयोजन के पक्ष में हैं। इसके अलावा धनंजय ने नाटक के लिए कुछ वर्ज्य दृश्यों का भी उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—१. दूराध्वा, (दूरयात्रा) २. वध, ३. युद्ध, ४. राज्यविप्लव, ५. देशविप्लव, ६. संरोध, ७. भोजन ८. स्नान, ९. सुरत, १०. अनुलेपन तथा ११. अम्बरग्रहण। स्पष्ट है कि शिष्टता, सुरुचि तथा प्रेक्षक के अनुद्वेग को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त दृश्यों का वर्जन किया गया है।

महिमभट्ट

पंचम अध्याय में कहा जा चुका है कि महिमभट्ट ने अनीचित्य को ही दोष मानते हुए उसके अन्तरंग और बहिरंग नामक दो भेद किये। अन्तरंग अनीचित्य का वर्णन वे

१. "यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।

विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्॥"

—दशरूपक, ३।२४।

२. 'यथा छद्मना बालिवधो नायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्तः।'

—वही, पृ० १०९।

३. 'वीरचरिते तु रावणसौहृदेन बाली रामवधार्थभागतो रामेण हत इत्यन्यथा।'

—वही, पृ० १०९।

४. "न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।

रसं वापि तिरोदध्या द्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः।

—वही, ३।३२-३३।

५. "दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।

संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्॥

अम्बरादिग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्॥"

—वही, ३।३४-३५।

इसलिए नहीं करते कि अन्यो ने उसका विस्तार से प्रतिपादन किया है।^१ बहिरंग अनीचित्य को उन्होंने शब्दानौचित्य कहा है, और वे उसके पाँच प्रकार निरूपित करते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. विधेयाविमर्श, २. प्रक्रमभेद, ३. क्रमभेद, ४. पुनरुक्ति तथा ५. वचन्यावचन।^२ इन पाँचों के अलावा दुःश्रवत्त्व आदि दोषों को भी महिममट्ट शब्दगत अनीचित्य ही मानते हैं, पर उक्त पाँच भेदों के साथ उन्हें इसलिए नहीं रखते कि दुःश्रवत्त्वादि विधेयाविमर्शादि की तरह केवल वाचकाश्रित ही नहीं, अपितु रसाश्रित भी हैं, यानी रसात्मकता के बाधक हैं, अतः उन्हें वे छोड़ देते हैं।^३

जिस अर्थ को प्रधानता के साथ प्रतिपादित करने का उद्देश्य हो, पर उसका अप्रधानता के साथ निर्देश हो जाय, तो वहाँ महिममट्ट का 'विधेयाविमर्श' दोष होगा।^४ यह दोष पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा लक्षित नहीं किया गया। संस्कृत-काव्यशास्त्र में इसके प्रथम प्रतिपादन का श्रेय महिममट्ट को है। 'प्रक्रमभेद' वहाँ होता है, जहाँ किसी वस्तु का जिस प्रकार प्रारम्भ किया गया, उसके क्रम का उस प्रकार पालन न करके बीच में ही उसका अन्यथाकरण हो जाय।^५ क्रम या परिपाटी के भंग करने को 'क्रमभेद' कहा गया है। जिस पद के बाद जो पद उपयुक्त हो, उसको उस जगह नहीं रखकर अन्यत्र रखना 'क्रमभेद' होगा।^६ ये दोनों दोष प्राचीन 'अपक्रम' के विस्तार हैं। महिममट्ट की विशेषता यह रही कि उन्होंने प्राचीनों की तरह क्रम-सम्बन्धी दोष को स्थूल रूप से संकेतित नहीं किया, अपितु उसके सूक्ष्म स्वरूपों का विश्लेषण करके दो प्रकार के क्रमभंग का उदाहरण दिया। अतः इस दोष में भी उनकी मौलिकता की छाप है। 'पुनरुक्त' दोष यद्यपि 'एकार्थ' के रूप में भामहदण्डी द्वारा पूर्वप्रतिपादित है, पर यहाँ भी महिममट्ट की मौलिक सूझ द्रष्टव्य है। उन्होंने

१. "तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते।"

—व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श, पृ० १४९।

२. "अपरं पुनर्बहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति। तद्यथा—विधेयाविमर्शः प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यं, वाच्यावचनं चेति।"—वही, द्वि० विमर्श, पृ० १५०-५१।

३. "दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव, तस्याप्यनुप्रासादेरिव रसानुगुण्येन प्रवृत्तेरिष्टत्वात्। केवलं वाचकत्वाश्रयमेतन्न भवतीति न तत्तुल्यकक्षयतयोपात्तम्।"

—वही, द्वितीय विमर्श, पृ० १५२।

४. "विधेयः प्राधान्येन प्रतिपादयिषितो योऽर्थस्तस्य अविमर्शोऽननुसन्धानम् उपसर्जनीकरणात्।"

—व्यक्तिविवेक, सय्यककृत टीका, पृ० १५०।

५. 'प्रक्रमः कस्यचित् वस्तुनो निर्वाहायारम्भस्तस्य भेदो मध्येऽन्यथाकरणम्।'

—वही, पृ० १५०।

६. 'क्रमस्य परिपाटया भेद उल्लङ्घनं व्युत्क्रम इति यावत्।'—वही, पृ० १५०।

भामह आदि की तरह शब्दपुनरुक्त और अर्थपुनरुक्त के रूप में पुनरुक्त के विभाजन को स्वीकार नहीं किया। उनका मत है कि शब्दपुनरुक्त तो अर्थपुनरुक्त में ही गतार्थ है। क्योंकि, यदि शब्द की पुनरुक्ति हुई हो और अर्थ में भिन्नता हो, तो यह दोष का उदाहरण न होकर अलंकार का उदाहरण होगा।^१ महिममट्ट का पाँचवाँ दोष 'वाच्यवचन' वहाँ माना गया है, जहाँ आवश्यक रूप से वक्तव्य का कथन नहीं दिया जाय।^२ यह दोष भी महिममट्ट के द्वारा ही संस्कृत-काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम उल्लिखित हुआ है। इस प्रकार महिममट्ट का दोष-प्रतिपादन संक्षिप्त होते हुए भी उनकी मौलिकता और विशिष्टता का परिचायक है। इन दोषों के उदाहरणों के विश्लेषण में महिममट्ट ने दिवत्ता का परिचय दिया है।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' में मुख्यतः शृंगार की चर्चा है, दोषों का विस्तृत प्रतिपादन अनुपलब्ध है। केवल कुछ रसदोषों का उल्लेख रुद्रभट्ट ने किया है। ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में उन्होंने विरुद्ध रसों के सम्पर्क का दिवर्जन किया है।^३ इसके अतिरिक्त विरस, प्रत्यनीक, दुःसन्धान, नीरस तथा पात्रदुष्ट नामक पाँच रसदोषों का भी रुद्रभट्ट ने उल्लेख किया है।^४ संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रत्यनीक, दुःसन्धान, पात्रदुष्ट जैसे दोषों का पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उल्लेख नहीं हुआ है, अतः ये नवीन दोष हैं। विरुद्धरस के सम्पर्क का दिवर्जन सूक्ष्मता और विस्तार के साथ आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित हुआ है। 'विरस' रुद्रट्ट द्वारा उल्लिखित है। 'नीरस' का दोष मानना विवादास्पद है।

भोजराज

भोज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में सोलह पद-दोष, सोलह वाक्य-दोष एवं सोलह वाक्यार्थ-दोष प्रतिपादित किये हैं।^५ उनके सोलह-पददोष इस प्रकार हैं—१. असाधु,

१. 'पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः।'

—भामह-कृत काव्यालंकार, ४।१२।

२. "पौनरुक्तार्थभेदमेवाभ्युपगन्तुं युक्तं न शब्दं तस्यार्थभेदे सत्यदुष्टत्वाद्।
.....न ह्यर्थभेदे शब्दसाम्येऽपि कश्चिद्दोषः। अन्यत्र तात्पर्यभेदात् तच्च भूषणमेव न दूषणम्।"—व्यक्तिविवेक, पृ० २८८।

३. वाच्यस्य वक्तव्यस्य अवचनमनुवृत्तिः।'

—वही, पृ० १५०।

४. देखिए रुद्रभट्ट-कृत शृङ्गारतिलक, ३।२०।

५. "विरसं प्रत्यनीकं च दुःसन्धानरसं तथा।

नीरसं पात्रदुष्टं च काव्यं सविमर्शं शस्यते॥"

६. 'दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडशः।'—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३।

२. अप्रयुक्त, ३. कष्ट, ४. अनर्थक, ५. अन्यार्थक, ६. अपुष्टार्थ, ७. असमर्थ, ८. अप्रतीत, ९. क्लिष्ट, १०. गूढ, ११. नेयार्थ, १२. सन्दिग्ध, १३. विरुद्ध, १४. अप्रयोजक, १५. देश्य तथा १६. ग्राम्य।^१ ये सभी दोष प्राचीन आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट हैं। भोज इनके संकलनकर्त्ता-मात्र हैं। असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्रतीत एवं अनर्थक वामन के द्वारा पद-दोषों के रूप में निरूपित हैं। अन्यार्थक, नेयार्थ, गूढ तथा क्लिष्ट भी वामन के द्वारा पदार्थ-दोषों के रूप में उपस्थित किये गये हैं। इस प्रकार भोज के नौ पददोष वामन से गृहीत हैं। भोज के इन दोष-लक्षणों में भी कुछ वैशिष्ट्य नहीं हैं। अपुष्टार्थ, असमर्थ तथा देश्य नामक दोष रुद्रट से गृहीत हैं। 'अप्रयोजक' का रुद्रट के 'तद्वत्' से साम्य है।^२ भामह के अप्रयुक्त से भोज का 'अप्रयुक्त' मिलता है। 'सन्दिग्ध' और 'विरुद्ध' क्रमशः वामन के 'सन्दिग्ध' और 'व्यर्थ' से समता रखते हैं। इस प्रकार भोज के सभी पददोष भामह, वामन तथा रुद्रट से गृहीत हैं।

भोजसम्मत सोलह वाक्यदोषों के नाम ये हैं—१. शब्दहीन, २. क्रमभ्रष्ट, ३. विसन्धि, ४. पुनरुक्तिमत्, ५. व्याकीर्ण, ६. संकीर्ण, ७. अपद, ८. वाक्यगमित, ९. मिश्रलिङ्ग, १०. मिश्रवचन, ११. न्यूनापम, १२. अधिकोपम, १३. भग्नच्छन्द, १४. भग्न-यति, १५. अशरीर तथा १६. अरीतिमत्।^३ इन दोषों में मिश्रलिङ्ग, मिश्रवचन, न्यूनापम तथा अधिकोपम नामक दोष पिछले आलंकारिकों के उपमा-दोष हैं। 'विसन्धि' और 'शब्दहीन' 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्य हैं। 'भग्नच्छन्द' और 'भग्नयति' भामह के 'मिश्रवृत्त' और 'यतिभ्रष्ट' के नामान्तर हैं। पुनरुक्तिमत् भामह का 'एकार्थ' है। 'संकीर्ण' और 'गमित' रुद्रट से लिये गये हैं। 'क्रमभ्रष्ट' भामह द्वारा 'अपक्रम' के रूप में निरूपित है। इस प्रकार भोज ने केवल चार नये वाक्यदोष दिये हैं, जिनके नाम हैं—१. व्याकीर्ण, २. अपद,

१. "असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत्।

अन्यार्थकमदुष्टार्थमसमर्थं तथैव च॥

अप्रतीतमथ क्लिष्टं गूढं नेयार्थमेव च।

सन्दिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम्॥

—वही, पृ० ३।

देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टाः दोषाः स्युः पदसंश्रयाः।"

—वही, पृ० ३।

२. दे० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।१५।

३. "शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसन्धिं पुनरुक्तिमत्।

व्याकीर्णं वाक्यसङ्कीर्णमपदं वाक्यगमितम्॥

द्वे मिश्रे लिङ्गवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे।

भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत्॥

वाक्यस्यंते महादोषाः षोडशैव प्रकीर्तिताः॥

—सरस्वतीकण्ठामरण, पृ० १७।

३. अशरीर तथा ४. अरीतिमत् । विभक्तियों की असंगति को उन्होंने 'व्याकीर्ण' कहा है।^१ प्रकृतिस्थादि पदों की अयुक्तता को वे 'अपद' कहते हैं।^२ भोज ने जिन छह प्रकार के पदों का उल्लेख किया है, उनके नाम हैं—१. प्रकृतिस्थ, २. कोमल, ३. कठोर, ४. ग्राम्य, ५. नागर तथा ६. उपनागर।^३ इनकी अयुक्तता भोज का 'अपद' है। इसे पदगत अनौचित्य कह सकते हैं। क्रियापद से हीन वाक्य को भोज ने 'अशरीर' कहा है।^४ श्लेषादि गुणों के विपर्यय को भोज 'अरीतिमत्' की संज्ञा देते हैं।^५ यह एक दोष न होकर कई गुण-विपर्ययात्मक दोषों के समूह का नाम है। इसके परिचय के लिए भोज के गुण-विपर्ययों की चर्चा आवश्यक है।

भोज ने 'समाधि' के अतिरिक्त शेष सभी गुणों के विपर्ययों का उल्लेख किया है। 'प्रसाद' का विपर्यय 'अप्रसन्न' है,^६ जिसकी भोज अनतिप्रसिद्धार्थता के रूप में व्याख्या करते हैं।^७ दण्डी ने प्रसाद का विपर्यय 'अनतिरूढ' माना है, जिसका भोज के 'अप्रसन्न' से साम्य है। श्लेष, समता, सुकुमारता तथा अर्थव्यक्ति नामक गुणों का विपर्यय दण्डी का अनुगमन करते हुए क्रमशः 'शैथिल्य', 'वैषम्य', 'कठोरता' तथा 'नेयत्व' बताया गया है।^८ इन पाँच के अतिरिक्त शेष चार गुण-विपर्ययों में भोज ने दण्डी का अनुकरण नहीं किया है। 'कान्ति' का विपर्यय 'ग्राम्यत्व' भोज द्वारा माना गया है^९ जबकि दण्डी उसका विपर्यय

१. 'व्याकीर्णं तन्मियो यस्मिन् विभक्तीनामसङ्गतिः।'—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २०।

२. 'विभिन्नप्रकृतिस्थादि पद्यपुस्त्यपदं विदुः।' —वही, पृ० २१।

३. "तदेतत् प्रकृतिस्थकोमलकठोराणां नागरोपनागराणां ग्राम्याणां वा पदानाम-युक्तेरपदम्।" —वही, पृ० २२।

४. 'क्रियापदविहीनं यदशरीरं तदुच्यते।' —वही, पृ० २६।

५. "गुणानां दृश्यते यत्र श्लेषादीनां विपर्ययः। अरीतिमदिति प्राहुस्तत् त्रिष्वैव प्रचक्षते॥" —वही, पृ० २७।

६. 'अप्रसन्नं भवेद्वाक्यं प्रसादस्य विपर्ययात्।' —वही, पृ० २९।

७. 'अत्र शब्दानामनतिप्रसिद्धार्थत्वादप्रसन्नत्वमिति।' —वही, पृ० ३०।

८. (क) 'विपर्ययेण श्लेषस्य सन्दर्भः शिथिलो भवेत्।' —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २७।

(ख) 'भवेत् स एव विषयः समताया विपर्ययात्।' —वही, पृ० २८।

(ग) 'सौकुमार्यविपर्ययात् कठोर उपजायते।' —वही, पृ० २८।

(घ) 'वाक्यं भवति नेयार्थमर्थव्यक्तेविपर्ययात्।' —वही, पृ० ३०।

इसके अतिरिक्त देखिए इसी अध्याय का दण्डी-प्रकरण।

९. 'कान्तेविपर्ययाद्वाक्यं ग्राम्यमित्यपदिश्यते।'—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३१।

‘अत्युक्ति’ मानते हैं।^१ ‘माधुर्य’ का विपर्यय भोज ‘अनिर्व्यूढत्व’ मानते हैं, जो रीति के खण्डन से आता है।^२ दण्डी ने ‘माधुर्य’ का विपर्यय ‘वैरस्य’ माना है, यह कहा जा चुका है।^३ ‘उदारता’ का विपर्यय भोज ने ‘अनलंकार’ बताया^४ और ‘भोज’ का ‘असमस्तत्व’।^५ ‘उदारता’ के विपर्यय का दण्डी ने उल्लेख नहीं किया है। वामन ने उसका विपर्यय ‘अविकटत्व’ माना है।^६ इस प्रकार भोज गुणविपर्ययों के निर्देश में थोड़ी स्वतन्त्रता प्रदर्शित करते हैं। भोज की दूसरी विशेषता यहाँ यह है कि इन्होंने उक्त नौ गुण-विपर्ययों को तीन कोटियों में बाँटा है—१. शब्दप्रधान—शैथिल्य, विषमता तथा कठोरता; २. अर्थप्रधान—अप्रसन्न, नेयत्व तथा ग्राम्यत्व और ३. उभयप्रधान—असमस्तत्व अनिर्व्यूढत्व तथा अनलंकार।^७

भोज के सोलह वाक्यार्थ-दोष ये हैं—१. अपार्थ, २. व्यर्थ, ३. एकार्थ, ४. ससंशय, ५. अपक्रम, ६. खिन्न, ७. अतिमात्र, ८. परुष, ९. विरस, १०. हीनोपम, ११. अधि-कोपम, १२. असदृशोपम, १३. अप्रसिद्धोपम, १४. निरलंकार, १५. अश्लील तथा १६. विरुद्ध।^८ इनमें प्रथम पाँच तो भामह द्वारा निरूपित दोष हैं। दसवें से तेरहवें तक के दोष पुराने आचार्यों के उपमा-दोष हैं। ‘अश्लील’ वामन द्वारा निरूपित है। ‘अतिमात्र’ तथा ‘विरस’ रुद्रट से गृहीत है। ‘अनलंकार’ के दोषत्व का रुद्रट द्वारा खण्डन^९ यह सिद्ध

१. काव्यादर्श, १।९३।

२. “माधुर्यव्यत्ययो यस्तु जायते रीतिखण्डनात्।

तदनिर्व्यूढत्वमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः॥”

—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३२।

३. दण्डी कृत काव्यादर्श, १।६३।

४. “यस्तु रीतेरनिर्वाहादौदार्यस्य विपर्ययः।

वाक्यं तदनलंकारमलङ्कार विदो विदुः।” —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३३।

५. “वाक्ये यः खण्डयन् रीतिं भवत्योजोविपर्ययः।

असमस्तमिति प्राहुर्दोषं तमिह तद्विदः॥”

—वही, पृ० ३१।

६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।२३।

७. (क) ‘शब्दार्थोभययोगस्य प्राधान्यात्प्रथमं त्रिषा।’

—वही, पृ० २७।

(ख) सभी गुणों को इन तीन कोटियों में बाँटा जाना।—वही, पृ० २७, २९, ३१।

८. “अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।

खिन्नं चेवातिमात्रं च परुषं विरसं तथा॥

हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेव च।

असदृशोपमं चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा॥

निरलङ्कारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश।” —वही, पृ० ३४।

९. रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।४०

करता है कि यह भी उस समय दोष-स्वरूप मान्य था। इस प्रकार तीन दोष बच जाते हैं—‘विरुद्ध’, ‘परुष’ और ‘खिन्न’। भोज ने तीन प्रकार का ‘विरुद्ध’ माना है—१. प्रत्यक्ष-विरोध, २. अनुमान-विरोध तथा ३. आगम-विरोध।^१ प्रथम के फिर देश-विरोध, काल-विरोध तथा लोक-विरोध नामक तीन प्रकार^२ बताये। ये तीनों भामह से गृहीत हैं। ‘अनुमान-विरोध’ के युक्तिविरुद्ध, औचित्यविरुद्ध तथा प्रतिज्ञाविरुद्ध नाम तीन प्रकारों^३ में औचित्यविरुद्ध के अतिरिक्त शेष क्रमशः भामह के हेतुहानि तथा प्रतिज्ञाहानि नामक दोष हैं। औचित्यविरुद्ध को अनुमानविरुद्ध के अन्तर्गत रखना बेतुका लगता है। भोज द्वारा निर्दिष्ट ‘आगमविरुद्ध’ के तीन प्रकार—धर्मशास्त्रविरोधी, अर्थशास्त्रविरोधी तथा काम-शास्त्रविरोधी^४—वामन द्वारा निरूपित हो चुके हैं।^५ इस प्रकार ‘विरुद्ध’ के इस विस्तृत प्रपंच में भोज की मौलिकता नाममात्र की है। सही अर्थ में नवीन दोष उनके ‘परुष’ और ‘खिन्न’ ही हैं। जात्यादि वाक्यार्थ में अनिव्यूढत्व को खिन्न माना गया है।^६ जाति आदि वाक्यार्थ दो प्रकार के बताये गये हैं—स्वतः सम्भवी और कविप्रौढोक्तिनिर्मित।^७ जिस रूप में इन अर्थों का ग्रहण किया जाय, उस रूप में आद्यन्त निर्वाह न कर पाना ‘खिन्न’ है। ‘क्रूरार्थ’ को भोज ने ‘परुष’ माना है,^८ जैसे कोई माता अपने बच्चे के द्वारा स्तन में दाँत गड़ाये जाने पर यह कहे कि विष खाओ, तो यह ‘क्रूरार्थ’ का उदाहरण माना जायगा।

अपने ‘शृंगारप्रकाश’ में भी भोज ने उन्हीं अड़तालीस दोषों को दुहराया है, जो उनके ‘सरस्वतीकण्ठाभरण’ में पाये जाते हैं।^९ अन्तर यह है कि ‘सरस्वतीकण्ठाभरण’ में जहाँ

१. “विरुद्धं नाम तद् यत्र विरोधस्त्रिविधो भवेत् ।
प्रत्यक्षेणानुमानेन तद्वदगमवर्त्मनः ॥” —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ४४।
२. “यो देशकाललोकादिप्रतीपः कोऽपि दृश्यते ।
तन्नामनन्ति प्रत्यक्षविरोधं शुद्धबुद्धयः ॥” —वही, पृ० ४४।
३. “युक्त्यौचित्यप्रतिज्ञाविकृतो यस्त्विह कश्चन ।
अनुमानविरोधः स कविमुख्यैर्निगद्यते ॥” —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ४५।
४. “धर्मार्थकामशास्त्रादिविरोधः कोऽपि यो भवेत् ।
तन्नामविरोधाख्यं दोषमाचक्षते बुधाः ॥” —वही, पृ० ४७।
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।२।२४।
६. “जात्याद्युक्तावनिव्यूढं खिन्नमाहुर्महाविधयः ।” —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३८।
७. “जातीत्यादिवाक्यार्थो द्विविधः । स्वतः सम्भवी कविप्रौढोक्तिनिर्मितश्च ॥”
—वही, रानेश्वर-कृत टीका, पृ० ३८।
८. ‘यत्तु क्रूरार्थमत्यर्थं परुषन्तु तदुच्यते ॥’ —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३९।
९. देखिए शृंगारप्रकाश, नवम प्रकाश ।

छन्द में लक्षण एवं उदाहरण दिये गये हैं तथा वृत्ति भी स्पष्टता के लिए दी गई है, वहाँ 'शृंगारप्रकाश' में केवल गद्य में दोष-लक्षणों के सार संकलित हैं। एक दोष के नाम में थोड़ा अन्तर है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' का 'अरीतिमत्' शृंगारप्रकाश में 'श्लेषादि-गुणविपर्यय' नाम से कथित है। 'अपद' की धारणा में भी थोड़ा संशोधन 'शृंगारप्रकाश' में दिखाई देता है। वहाँ 'भिन्नभाषाप्रकृत्यादिकमपदम्' के रूप में 'अपद' लक्षित है।^१

भोज का महत्त्व दोषों के विकास में समाहार की दृष्टि से है, किन्तु इस समाहार में भोज ने सामासिकता की जगह व्यास का परिचय दिया है। पद, वाक्य एवं वाक्यार्थ-दोषों की सोलह संख्या की एकरूपता का निर्वाह करने के लिए उन्होंने अनावश्यक विस्तार को प्रश्रय दिया है। तथापि भोज का इस दृष्टि से महत्त्व रहेगा ही कि उन्होंने पुराने आचार्यों के दोष-निरूपण को एकत्र समेट लेने की दिशा में प्रयत्न किया। इस दृष्टि से वे मम्मट के अग्रगामी कहे जा सकते हैं।

क्षेमेन्द्र

अपने 'कविकण्ठाभरण' में क्षेमेन्द्र ने दोषों का संक्षिप्त एवं स्थूल संकेत किया है। वे अपने शब्द-वैमल्य, अर्थ-वैमल्य तथा रस-वैमल्य नामक गुणों के प्रतिलोभ शब्द-कालुष्य, अर्थकालुष्य तथा रसकालुष्य नामक तीन दोष प्रतिपादित करते हैं।^१ इनका लक्षण न देकर उन्होंने उदाहरण-मात्र दिया है।^२ इन्हें विशिष्ट दोष न मानकर दोषों का वर्ग मानना चाहिए।

मम्मट

दोष-विकास का चरम उत्कर्ष मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में प्राप्त हुआ है। भोज ने तो दोषों की संख्या अड़तालीस ही मानी थी, 'काव्य-प्रकाश' में यह संख्या सत्तर तक आ पहुँची। मम्मट ने अपने समय तक प्रचलित सभी उल्लेख्य दोषों का संचयन तो किया ही, मौलिक योगदान भी किया। इन्होंने बहुत-सारे पुराने दोषों के नये नाम दिये और बहुत-से सर्वथा नवीन दोष प्रतिपादित किये। मम्मट को दोष-विकास के क्षेत्र में व्यवस्था की दृष्टि से अप्रतिम आचार्य माना जा सकता है। परवर्ती आचार्यों ने प्रायः उन्हीं का अनुकरण किया है, यह यथास्थान दिखाया जायगा। मम्मट का दूसरा महत्त्व यह है कि उन्होंने

१. देखिए, शृंगारप्रकाश, नवम प्रकाश।

२. वही।

३. 'शब्दकालुष्यमर्थकालुष्यं रसकालुष्यमिति काव्यदोषाः।'

—क्षेमेन्द्र-कृत कविकण्ठाभरण, पृ० १३१।

४. वही, पृ० १३२-१३३।

साहसपूर्वक श्रेष्ठ महाकवियों की रचनाओं से चुन-चुनकर दोषों के उदाहरण प्रस्तुत किये और इस प्रकार अपनी सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया।

मम्मट ने सोलह पददोष (जिनमें तेरह वाक्य-दोष तथा सात पदांश-दोष के रूप में भी प्रदर्शित हैं), इक्कीस वाक्य-मात्रगत दोष, तेईस अर्थदोष तथा दस रसदोष निरूपित किये हैं। उनके सोलह पददोष इस प्रकार हैं—१. श्रुतिकटु, २. च्युतसंस्कृति, ३. अप्रयुक्त, ४. असमर्थ, ५. निहतार्थ, ६. अनुचितार्थ, ७. निरर्थक, ८. अवाचक, ९. अश्लील, १०. सन्दिग्ध, ११. अप्रतीत, १२. ग्राम्य, १३. नेयार्थ, १४. क्लिष्ट, १५. अविमृष्ट-विधेयांश तथा १६. विरुद्धमतिकृत।^१ 'श्रुतिकटु' पुरुष वर्ण के प्रयोग का नाम है, जैसे 'कात्तार्थ्य' शब्द का प्रयोग।^२ यह भामह का 'श्रुतिकटु' है।^३ 'च्युतसंस्कृति' व्याकरण-लक्षणहीनता को कहते हैं।^४ यह भामह के 'शब्दहीन' तथा वामन के 'असाधु' का नया नाम है। 'अप्रयुक्त' भोज के 'अप्रयुक्त' से भिन्न नहीं है।^५ 'असमर्थ' रुद्रट के 'असमर्थ' का प्रकार-विशेष है।^६ इसका उदाहरण भामह के 'अप्रयुक्त' का और रुद्रट के भी असमर्थ के उक्त प्रकार का उदाहरण है।^७ मम्मट का 'निहतार्थ' नामतः तो नवीन है, पर उसका लक्षण वामन के 'गूढार्थ' के समान है।^८ 'अनुचितार्थ' मम्मट की मौलिक कल्पना है। जहाँ कोई पद विवक्षित अर्थ देकर भी किसी प्रकार का अनुचित अर्थ व्यंजित करे, वहाँ यह दोष होगा। मम्मट के उदाहरण 'वीरों ने रणयज्ञ में पशुता प्राप्त की' (वलिदान हों

१. "दुष्टं पदं श्रुतिकटुच्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम्॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमय भवेत्क्लिष्टम्।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृतसमासगतमेव॥"

—मम्मट-कृत काव्यप्रकाश, ७।५०-५१।

२. 'श्रुतिकटुपुरुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—अत्र कात्तार्थ्यमिति।'—वही, पृ० १८२।
३. भामह-कृत काव्यालंकार, १।५३।
४. 'च्युतिसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्।'—काव्यप्रकाश, पृ० १८२।
५. तुल० 'अप्रयुक्तन्तथाऽस्मात्तमपि कविभिर्निवृत्तम्।'—काव्यप्रकाश, पृ० १८२
तथा 'कविभिर्न प्रयुक्तं यद् अप्रयुक्तं तदुच्यते।'—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ४।
६. तुल० 'असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः।'—काव्यप्रकाश, पृ० १८३।
तथा "इवमपरसामर्थ्यं धातोर्न्यपठ्यते तवर्थोऽसौ।
न च शक्नोति तमर्थं वक्तुं गमनं यथा हन्ति॥—रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।५।
७. देखिये भामह-कृत काव्यालंकार, ६।२४ तथा रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।५।
८. तुलना कीजिए—'निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तम्।'—
—काव्यप्रकाश, पृष्ठ संख्या १८४ तथा भामह-कृत काव्यालंकार, २।१।१३।

गये) में 'पशुता' पद से कातरता भी व्यंजित हो जाती है, जो वीरों के लिए अनुचित है।^१ मम्मट का 'निरर्थक' दामन का 'अनर्थक' है।^२ 'अवाचक' यद्यपि भामह द्वारा कथित है, तथापि मम्मट का 'अवाचक' उससे भिन्न है। जहाँ कोई पद अपनी दिशिष्ट वाचकता से रहित हो, वहाँ मम्मट का 'अवाचक' होगा। मम्मट के इस दोषोदाहरण में 'जन्तु' पद व्यक्ति का वाचक होकर भी दान देनेवाले व्यक्ति का वाचक नहीं है, जो यहाँ विवक्षित अर्थ है।^३ मम्मट का 'अश्लील' और उसके तीन प्रकार दामन से यथादत्त गृहीत हैं।^४ उनमें 'सन्दिग्धः', 'ग्राम्य' और 'अप्रतीत' भी दामन के इन्हीं दोषों के समान हैं।^५ 'नियार्थ' भी दामन द्वारा उल्लिखित है।^६ पर मम्मट का लक्षण अधिक स्पष्ट है। उन्होंने निषिद्ध लक्षणा को 'नियार्थ' माना और 'चपेटापातन' जैसे प्रयोग को इसका उदाहरण बताया।^७ मम्मट के 'क्लिष्ट' का लक्षण यद्यपि दामन के 'क्लिष्ट' के समान है,^८ तथापि मम्मट के उदाहरण से सूचित होता है कि उन्होंने इसे समास से सम्बद्ध किया है यानी लम्बे समस्त पद से अर्थप्रतीति में जो दिलम्ब आये, वह मम्मट के 'क्लिष्ट' का उदाहरण

१. 'अत्र पशुपदं कातरतामभिव्यनक्षतीत्यनुचितार्थम्' —काव्यप्रकाश, पृ० १८४।

२. तुल० 'निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम्।' —काव्यप्रकाश, पृष्ठ १८४ तथा 'पूरणार्थमनर्थकम्।' —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।९।

३. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या १४८, पृ० १८५।

४. 'त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वाद्—।' —काव्यप्रकाश, पृ० १८६ तथा देखिए इसी अध्याय का दामन-प्रकरण।

५. तुलना कीजिए :

(क) 'अत्र वन्यां किं हठहृतमहिलायां किंवा नमस्यामिति सन्देहः।' —काव्यप्रकाश, पृ० १८७ तथा इसी पुस्तक के पृ० ११५ की पाद-टिप्पणी-संख्या ९।

(ख) 'अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्।' —काव्यप्रकाश, पृ० १८७ तथा 'शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम्।' —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।८।

(ग) 'ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्।' —काव्यप्रकाश, पृ० १८८ तथा लोकप्रयुक्त-मात्रग्राम्यम्।' —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।७।

६. 'अन्यार्थनेयगूढार्थश्लीलक्लिष्टानि च।' —वही, २।१।१०।

७. 'इति यत्रिषिद्धं लाक्षणिकम्।... अत्र चपेटापातनेन निजितत्वं लक्ष्यते।' —काव्यप्रकाश, पृ० १८८-१८९।

८. तुल० 'क्लिष्टं यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता।' —वही, पृ० १८७ तथा

'व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम्।' —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।२०।

९. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या १५८।

होगा। मम्मट का 'अविमृष्टविधेयांश' महिममट्ट का 'विधेयाविमर्श' है। 'विरुद्ध-मतिकृत्' का भी मम्मट ने समास से सर्वप्रथम सम्बन्ध-स्थापन किया है। ऐसा समस्त पद, जिससे विवक्षित अर्थ का विरुद्ध अर्थ सूचित हो जाय, 'विरुद्धमतिकृत्' का उदाहरण होगा; जैसे 'आलिंगन' की विवक्षा में 'गलग्रह' का या निःस्वार्थ प्रेमी के लिए 'अकार्यमित्र' का प्रयोग।^१ यह दोष रुद्रट की 'विररीतकल्पना' से अभिन्न है।^१

पददोषों के सम्बन्ध में मम्मट की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने इनके समासगत तथा असमासगत विभाग किये हैं। 'क्लिष्ट', 'अविमृष्टविधेयांश' तथा 'विरुद्धमतिकृत्' को उन्होंने समासगत ही माना।^१ बाकी तेरह दोषों हो सकते हैं।

उपर्युक्त सोलह पददोषों में मम्मट के अनुसार, 'च्युतसंस्कृति', 'असमर्थ' तथा 'निरर्थक' को छोड़कर बाकी तेरह पददोष वाक्यदोष भी हैं।^१ मम्मट ने उक्त सोलह पददोषों में से कुछ को पदांशगत भी माना है।^१ उन्होंने श्रुतिकटु, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, सन्दिग्ध तथा नेयार्थ दोषों के पदांशगत रूप के उदाहरण भी दिये हैं।^१

मम्मट के वाक्यमात्रगत इक्कीस दोष इस तरह हैं—१. प्रतिकूलवर्णनत्व, २. उग्रहृत-विसर्गत्व, ३. लुप्तविसर्गत्व, ४. विसन्धित्व, ५. हतवृत्तता, ६. न्यूनपदता, ७. अधिकपदता, ८. कथितपदता, ९. पतत्प्रकर्षता, १०. समाप्तपुनरात्तता, ११. अर्धान्तरैकवाचकत्व, १२. अमवन्मतयोग, १३. अनभिहितवाच्यत्व, १४. अदस्थपदता, १५. अदस्थसमासता, १६. संकीर्णत्व, १७. गर्भितत्व, १८. प्रसिद्धिहतत्व, १९. भग्नप्रक्रमत्व, २०. अक्रमत्व तथा २१. अमतपरार्थत्व।^१ इनमें कुछ दोष तो यथावत् प्राचीनों से लिये गये हैं, जैसे विसन्धि, न्यून

१. तुल० 'अविमृष्टः प्राधान्येनानिदिष्टो विधेयांशो यत्र।'

—काव्यप्रकाश, पृ० १८९ तथा इसी अव्याय की पाद-टिप्पणी संख्या ३६१।

२. 'अत्र कार्यविना मित्रमिति विवक्षितम्। अकार्यमित्रमिति तु प्रतीतिः।'

—काव्यप्रकाश, पृ० १९२।

३. रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।१६।

४. 'भवेत्क्लिष्टम्। अविमृष्टविधेयांशविरुद्धमतिकृतमासगतमेव।'

—काव्यप्रकाश, पृ० १८१।

५. "अप्राप्त्य च्युतसंस्कारमसमर्थनिरर्थकम्।

वाक्येषु दोषाः सन्त्येते पदस्यांशोऽपि केचन॥"

—वही, ७।५२।

६. वही।

७. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० संख्या २०५—२०९।

८. "प्रतिकूलवर्णनपुनरुत्पत्तिवितर्ग विसन्धिहतवृत्तम्।

न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम्॥

अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मयोगमनभिहितवाच्यम्।

पदता, अधिकपदता, संकीर्णत्व एवं गमितत्व नामक दोष। प्रथम वामन से गृहीत है^१ और अन्तिम चार रुद्रट से।^२ मम्मट के कुछ वाक्यदोष प्राचीन दोषों के नये नाम हैं, जैसे 'अनमि-हितवाच्यत्व' महिमभट्ट का 'वाच्यावचन' है तथा 'भग्नप्रक्रम' और 'अक्रम' उन्हींके 'प्रक्रमभेद' तथा 'क्रमभेद' के नये नाम हैं। यद्यपि छन्ददोष विविध नामों से प्राचीनों द्वारा संकेतित हैं, तथापि मम्मट के छन्ददोष 'हतवृत्तत्व' के लक्षण में कुछ विशेषताएँ हैं। उन्होंने लक्षण के अनुकूल छन्द-विधान को भी सद्गुण माना है, यदि वह अश्रव्य हो, यानी कानों में खटके या अप्राप्तगुरु-भावान्तलघु हो, यानी जिसके पादान्त में ऐस' लघु हो, जो गुरुत्व प्राप्त नहीं कर रहा हो या रसानुगुण यानी प्रकृतरस के प्रतिकूल हो।^३ मम्मट का 'प्रसिद्धिहत' नामक दोष तो नवीन है, पर रुद्रट के 'ग्राम्य' के एक भेद के रूप में वही कहा गया है, जो मम्मट ने इस दोष के प्रसंग में कहा है।^४ उसे 'ग्राम्य' का भेद इसलिए रुद्रट ने माना है कि अनौचित्य को वे 'ग्राम्य' का कारण मानते हैं।^५ मम्मट का 'कथितपद' नामक दोष भामह-दण्डी के द्वारा शब्द-पुनरुक्त के रूप में संकेतित हुआ है।^६ आनन्दवर्धन ने वर्णों की रसानुकूलता पर विस्तार से विचार किया है।^७ वहीं से प्रेरणा लेकर मम्मट ने अपना 'प्रतिकूलवर्ण' दोष बनाया है, जो वर्णों की रसानुगुण-योजना में होता है।^८

उपर्युक्त वाक्यदोषों के अतिरिक्त शेष को मम्मट का योगदान माना जा सकता है। मम्मट ने विसर्ग का 'उ' या 'ओ' के रूप में उद्घात होने में 'उपहतविसर्ग' और विसर्ग के लोप में 'लुप्तविसर्ग' नामक दोष माना है।^९ कथन के समाप्त हो जाने पर किसी ऐसे वाक्य के जोड़ने में, जिसकी विवक्षा न हो, मम्मट का 'समाप्तपुनरात्त' दोष होता है।^{१०} किसी वाक्य में

अपदस्थपदसमासं संकीर्णं गमितं प्रसिद्धिहतम् ॥

भग्नप्रक्रममक्रमममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ॥ —वही, ७।५३—५५।

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।२।८।

२. दे० इसी अध्याय का रुद्रट-प्रकरण।

३. "हतं लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु, रसानुगुणं च वृत्तं यत्र तत् हतवृत्तम्।" —काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० २१४।

४. तुल० 'काव्यप्रकाश', पृ० सं० २२७ तथा रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।२६।

५. 'यदनुचितं यत्र पदं ततत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।' —रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।१७।

६. भामह-कृत काव्यालंकार, ४।१२ तथा दण्डिकृत काव्यादर्श, ३।१३५।

७. ध्वन्यालोक, ३।३-४।

८. 'रसानुगुणत्वं वर्णानां वक्ष्यते तद्विपरीतं प्रतिकूलवर्णम्।' —काव्यप्रकाश, पृ० २११।

९. 'उपहत उत्वं प्राप्तो लुप्तो वा विसर्गो यत्र तत्।' —वही, पृ० २१२।

१०. वही, उदाहरण-संख्या २२५, पृ० २१८।

अलंकार-सम्बन्धी या बन्ध-विन्यास-सम्बन्धी प्रकर्ष का क्रमशः उत्तरोत्तर शिथिल होता जाना मम्मट का 'पतत्प्रकर्ष' दोष है।^१ मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में सूकर, हाथी तथा सिंह के वर्णन में बन्ध-दाढ्य का क्रमशः विकास न होकर शैथिल्य दृष्टिगोचर होता है। किसी वाक्य में पदार्थों का परस्पर अभीष्ट सम्बन्ध अविद्यमान रहे तो 'अभवन्मत योग' दोष माना गया है।^२ किसी वाक्य का प्रथमाद्ध ऐसा हो, जो द्वितीयाद्धगत किसी पद के द्वारा पूर्ण हो, तो उसे 'अर्द्धान्त-रैकवाचक' दोष कहा गया है।^३ कोई पद अपने उचित स्थान पर प्रयुक्त न होकर अन्यत्र प्रयुक्त हो, तो उसे मम्मट ने 'अस्थानस्थपद' दोष कहा है।^४ इसी प्रकार सभास का अनुचित स्थान पर होना उनका 'अस्थानस्थसभास' दोष है।^५ वाक्य में द्वितीयार्थ के प्रकृतविरुद्ध होने को 'अमतपरार्थ' कहा गया है।^६

मम्मट-मान्य तेईस अर्थ-दोष इस प्रकार हैं—१. अपुष्ट, २. कष्ट, ३. व्याहत, ४. पुनरुक्त, ५. दुष्क्रम, ६. ग्राम्य, ७. सन्दिग्ध, ८. निर्हेतु, ९. प्रसिद्धिविरुद्ध, १०. विद्या-विरुद्ध, ११. अनवीकृत, १२. सनियमपरिवृत्त, १३. अनियमपरिवृत्त, १४. विशेषपरिवृत्त, १५. अविशेषपरिवृत्त, १६. साकांक्ष, १७. अपदयुक्त, १८. सहचरमित्र, १९. प्रकाशित-विरुद्ध, २०. विध्ययुक्त, २१. अनुवादायुक्त, २२. त्यक्तपुनः स्वीकृत तथा २३. अश्लील।^७

उपर्युक्त दोषों में 'पुनरुक्त', 'ग्राम्य', 'सन्दिग्ध', 'विद्याविरुद्ध' तथा 'अश्लील' वामन और भोज द्वारा उसी रूप में निर्दिष्ट हैं, जिस रूप में मम्मट द्वारा।^८ 'अपुष्ट' रुद्रट द्वारा कथित है।^९ 'निहेतु' भामह के 'हेतुहीन' का परिष्कृत रूप है। बिना हेतु के किसी विवक्षित अर्थ के उपादान में यह दोष होता है। अनुचित अर्थक्रम में मम्मट ने 'दुष्क्रम' दोष माना है। यह भोज के वाक्यार्थदोष 'अपक्रम' से सादृश्य रखता है।^{१०} अर्थप्रतीति की दुरुहता को मम्मट ने 'कष्ट'

१. वही, उदाहरण-संख्या २२४, पृ० २१७-१८।

२. 'अभवन्मत इष्टो योगः सम्बन्धो यत्र तत्।' —वही, पृ० २१९।

३. 'द्वितीयार्धगतैकवाचकशेषप्रथमार्ध।' —वही, पृ० २१८।

४. वही, पृ० २२३।

५. वही, पृ० २२४।

६. 'अमतः प्रकृतविरुद्धः परार्थो यत्र।' —वही, पृ० २३३।

७. वही, ७।५५—५७।

८. तुल० काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २५८, २६१, २६२, २६७ तथा २६७ की क्रमशः काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।७, २।२।२०, २।२।२४, २।१।१९ से एवं सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १७ से।

९. रुद्रट-कृत काव्यालंकार, २।८।

१०. तुल० सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० सं० ३८ के (क) उदाहरण से काव्यप्रकाश की उदाहरण-संख्या २६० की।

माना है।^१ यह प्राचीन आचार्यों के 'क्लिष्ट' का अर्थगत रूप है। 'व्याहृत' भी रुद्रट के 'बाधयन्' का नवीन नाम है।^२

उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त मम्मट के शेष अर्थदोष नवीन हैं। 'लोकप्रसिद्धिविरुद्ध' या 'कविप्रसिद्धिविरुद्ध' को मम्मट ने 'प्रसिद्धिविरुद्ध' दोष माना है।^३ पिछले आचार्यों ने 'लोक-विरुद्ध' के रूप में उसे विरोध की ओर संकेत किया है, जो स्थावर या जंगम के व्यवहार के विरुद्ध वर्णन में होता है।^४ मम्मट ने लोक में प्रसिद्ध बातों के विरुद्ध वर्णन में अपना उक्त दोष माना है। लोकप्रसिद्धिविरुद्ध का उदाहरण उन्होंने कामदेव के हाथ में चक्र बताना माना है, चूंकि लोक में कामदेव का चक्र-धारण अप्रसिद्ध है।^५ इस प्रकार मम्मट का यह दोष भी नवीन है। पिष्ट-पेषण या अनेक अर्थों के एक ही प्रकार के उपनिबन्ध में उन्होंने 'अनवीकृत' दोष माना है।^६ सनियमत्व रूप से वर्णन योग्य अर्थ के अनियमत्व रूप से उपनिबन्धन में 'सनियमपरिवृत्त' दोष कहा गया है।^७ इसका विलोम है 'अनियमपरिवृत्त', जिसमें अनियमत्वपूर्वक वर्णनीय अर्थ का सनियमत्वपूर्वक निर्धारण होता है।^८ जहाँ विशेष रूप से किसी अर्थ के अभिधान के बदले सामान्य रूप से उसका कथन होता हो, वहाँ 'विशेषपरिवृत्त' दोष माना गया है।^९ इसी का विलोम है 'सामान्यपरिवृत्त', जिसमें सामान्य रूप से किसी अर्थ के अभिधान की जगह विशेष रूप से उसका अभिधान होता है।^{१०} 'साकांक्ष' वहाँ होता है, जहाँ किसी पद की आकांक्षा बनी रहती है।^{११} प्रकृत अर्थ के विरुद्ध अर्थ रखनेवाले पद से युक्त कथन में 'अपदयुक्तत्व' होता है।^{१२} 'सहचरमिन्न' वहाँ होता है, जहाँ सजातीय अर्थ से भिन्न अर्थ का कथन हो।^{१३} 'बुद्धि शास्त्र से भूषित होती है' के साथ 'मूर्खता व्यसन से भूषित होती है' कहना इसका

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २५६।

२. तुल० काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २५७ की रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।७ से।

३. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २६४, २६५।

४. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ४५।

५. 'अत्र कामस्य चक्रं लोकेऽप्रसिद्धम्।'

—काव्यप्रकाश, पृ० २३८।

६. वही, उदाहरण-संख्या २७१, पृ० २४१।

७. वही, उ० सं० २७३, पृ० २४२।

८. वही, उ० सं० २७४, पृ० २४३।

९. वही, उ० सं० २७५, पृ० २४३।

१०. वही, उ० सं० २७६, पृ० २४३।

११. वही, उ० सं० २७७, पृ० २४४।

१२. वही, उ० सं० २७८, पृ० २४४।

१३. वही, उ० सं० २७९, पृ० २४५।

उदाहरण है। 'प्रकाशितविरुद्ध' मम्मट के ही 'विरुद्धभक्तिकृत्' दोष का अर्थगत उदाहरण है।^१ अविधेय अर्थ का विधेय अर्थ के रूप में व्युत्क्रमपूर्वक अभिधान 'विध्ययुक्त' कहा गया है।^२ इसके उदाहरण में दुर्योधन के विषय में विधेय अर्थ है, 'तुम निःशंक' रूप से नींद लेते हुए बैतालियों के स्तुतिपाठ से जागोगे' पर कहा गया है, 'तुम स्तुतिपाठकों द्वारा जगाये गये सोते रहोगे।' विधेय के प्रतिकूल अनुवाद के कथन में 'अनुवादायुक्त' दोष होता है।^३ मम्मट के इस दोषो-दाहरण में विरही अपनी मोहशान्ति के लिए नीलोत्पल से अपनी प्रिया का पता देने की प्रार्थना के क्रम में उसे 'विरहिप्राणसन्त्रासक' के रूप में सम्बोधित करता है। 'त्यक्तपुनः स्वीकृत दोष' 'समाप्तपुनरात्त' का अर्थगत रूप है।^४

मम्मट के रसदोष इस प्रकार हैं—(१) व्यभिचारी भाव, रस तथा स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता, २. अनुभाव एवं विभाव की अभिव्यक्ति में क्लिष्ट-कल्पना, ३. प्रकृतरस-विरुद्धविभावानुभावव्यभिचारिवर्णन, ४. अंगभूत रस की पुनः-पुनः दीप्ति, ५. अनवसर में रस-वर्णन, ६. अनवसर में रस-विच्छेद, ७. अंग अथवा अप्रधान का विस्तृत वर्णन, ८. अंगी या प्रधान का अननुसन्धान, ९. प्रकृतिगत औचित्य के प्रतिकूल वर्णन तथा १०. अंग का अभिधान।^५

मम्मट के उपर्युक्त रसदोषों में से अधिकांश का आधार आनन्दवर्धन का 'ध्वन्यालोक' है। उसके प्रथम उद्योत में कहा गया है कि रस व्यंग्य होता है, शब्दतः कथित नहीं होता।^६ इसी कथन से प्रेरणा लेकर मम्मट ने व्यभिचारी भाव, रस एवं स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता का दोषत्व निरूपित किया है। मम्मट के तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे तथा सातवें रसदोष का उल्लेख 'ध्वन्यालोक' में रसविरोध के रूप में हुआ है।^७ प्रकृतिगत औचित्य के प्रतिकूल वर्णन में मम्मट ने जो रसदोष माना है, उसकी प्रेरणा भी उन्हें आनन्दवर्धन से मिली है। 'ध्वन्यालोक' के तृतीय उद्योत में रसव्यंजन के निमित्तों का उल्लेख करते हुए भावौचित्य के

१. अत्र श्रुतादिभिरुक्तैः सहचरितैर्व्यसनमूलज्योनिःकृष्टयोर्भिन्नत्वम्।

—वही, पृ० २४५।

२. वही, उदाहरण-संख्या २८०, पृ० २४५।

३. वही, उदाहरण-संख्या २८१, पृ० २४५।

४. वही, उ० सं० २८३, पृ० २४६।

५. वही, उ० सं० २८४, पृ० २४७।

६. वही, ७।६०-६२।

७. "तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्य सामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्द-व्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव।"

—ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ० २६।

८. आलोक ३, कारिका १८-१९।

विषय में कहा गया है कि यह प्रकृति के औचित्य से होता है।^१ इस औचित्य-विरह को रसदोष के रूप में स्वीकार करना मम्मट के द्वारा स्वाभाविक था। शेष दोष मम्मट की अपनी सूझ के परिणाम हैं। अंगी या प्रधान के अपरामर्श का उदाहरण 'रत्नावली' के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य के आगमन से सागरिका की विस्मृति है।^२ अनंग, यानी रस के अनुपकारक के वर्णन का उदाहरण मम्मट ने 'कर्पूरमंजरी' में राजा द्वारा नायिका के वसन्त-वर्णन की उपेक्षा करके चारण-वर्णित वसन्त-वर्णन की प्रशंसा को माना है।^३ यद्यपि मम्मट ने दस रसदोषों का ही उल्लेख किया, तथापि 'ईदृशाः' पद के द्वारा उनके अन्य प्रकारों की सम्भावना की ओर संकेत किया; जैसे नायिका के पाद-प्रहार करने और नायक के कोप-वर्णन में उन्होंने इसका एक प्रकार सूचित किया है।^४

मम्मट ने अलंकार-दोषों की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की। अपने शब्दार्थ दोषों में ही उन्होंने उनका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया। अनुप्रास के तीन दोष प्रसिद्धि-अभाव, वैफल्य तथा वृत्ति-विरोध मम्मट के अनुसार क्रमशः 'प्रसिद्धिविरुद्ध', 'अपुष्टार्थ' तथा 'प्रतिकूलवर्णत्व' में अन्तर्भुक्त हैं।^५ इसी प्रकार यमक का तीन चरणों में निबन्ध-रूप दोष उन्होंने 'अप्रयुक्त' में अन्तर्भुक्त माना है।^६ उपमा के 'न्यूनोपमान' तथा 'अधिकोपमान' दोषों को मम्मट 'अनुचितार्थ' में गतार्थ मानते हैं^७ तथा 'न्यूनधर्मत्व' तथा 'अधिकधर्मत्व' को क्रमशः 'न्यूनपद' तथा 'अधिकपद' से भिन्न नहीं मानते।^८ उपमा के 'भिन्नलिङ्गत्व' और 'भिन्नवचनत्व' को वे 'भग्नप्रक्रम' के अन्तर्गत रखते हैं।^९ 'कालभेद', 'पुरुषभेद' तथा 'विधि-भेद' नामक उपमा-दोषों को भी वे उसी में रखते हैं।^{१०} 'असादृश्य' और 'असम्भव' नामक उपमा-दोषों को वे 'अनुचितार्थ' के अन्तर्भुक्त मानते हैं।^{११} 'उत्प्रेक्षा' में 'यथा' शब्द के प्रयोग में जो 'अशक्तशब्दत्व' रूप, दोष बताया गया है, उसे मम्मट अवाचक में अन्तर्भुक्त मानते हैं चूँकि 'यथा' उत्प्रेक्षण का 'अवाचक' है।^{१२} इसी

१. 'भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात्।'—ध्वन्यालोक, पृ० २५८।

२. काव्यप्रकाश, पृ० २६७।

३. वही, पृ० २७०।

४. 'ईदृशा इति। नायकादिपादप्रहारादिना नायककोपादिवर्णनम्।'—वही, पृ० २७०।

५. वही, पृ० ४५४।

६. वही, पृ० ४५५।

७. वही, पृ० ४५६।

८. वही, पृ० ४५६।

९. वही, पृ० ४५७।

१०. वही, पृ० ४५९।

११. वही, पृ० ४६०।

१२. वही, पृ० ४६१।

प्रकार मम्मट के अनुसार 'उत्प्रेक्षा' का 'निर्विषयत्व' दोष, जिसका अभिप्राय वास्तविकता से सर्वथा परे और इसीलिए मिथ्यारूप किसी सम्भावित अर्थ के समर्थन अथवा उदादान के लिए, शून्य में चित्र खींचने की भाँति, किसी 'अर्थान्तरन्यास' का असमीचीन उपनिबन्धन है, वस्तुतः अनुचितार्थ से भिन्न नहीं है।^१ 'समासोक्ति' का 'अनुपादेयत्व' भी मम्मट के अनुसार 'अपुष्टार्थ' नामक दोष है^२ और 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का 'अनुपादेयत्व' भी 'अपुष्टार्थ' या 'पुनरुक्ति' में अन्तर्भुक्त है।^३ इन विशिष्ट अलंकार-दोषों की चर्चा के बाद मम्मट कहते हैं कि इसी प्रकार अन्य अलंकार-दोषों को भी सामान्य दोषों में अन्तर्भुक्त समझना चाहिए।^४

अग्निपुराण

अग्निपुराण में 'असाधु' और 'अप्रयुक्त' नामक दो पददोष तथा 'छान्दसत्व', 'अविस्पष्टत्व', 'कष्टत्व', 'असामयिकत्व' और 'ग्राम्यत्व' नामक पाँच वाक्य-दोष निरूपित हैं।^५ उक्त दोनों पददोष वामन से गृहीत हैं। वाक्य-दोषों में 'छान्दसत्व' का भामह ने उल्लेख किया है।^६ शब्दार्थ के अवोध को 'अविस्पष्टत्व' कहा गया है,^७ जिसके 'गूढार्थ', 'विपर्यस्तार्थ' तथा 'संशयितार्थ' नामक तीन भेद किये गये हैं।^८ इन तीनों में प्रथम दो क्रमशः वामन के 'क्लिष्ट' तथा 'सन्दिग्ध' नामक दोष हैं।^९ तीसरा नामतः नवीन होकर भी लक्षणतः भामह के 'व्यर्थ' से अभिन्न है।^{१०} 'कष्टत्व' भी वामन द्वारा संकेतित है।^{११} 'असामयिकत्व' कविपरम्पराविरुद्ध

१. काव्यप्रकाश, पृ० ४६२।

२. वही, पृ० ४६२।

३. वही, पृ० ४६४।

४. "तदेतेऽलङ्कारदोषाः यथासम्भविनोऽप्येवंजातीयकाः पूर्वोक्तयेव दोषजात्या-
न्तर्भाविताः न पृथक् प्रतिपादनमर्हन्तीति।" —वही, पृ० ४६४।

५. 'असाधुत्वाप्रयुक्तत्वे द्वावेव पदनिग्रही।'।

—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, ११।४।

६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।४ तथा २।२।९।

७. भामह-कृत काव्यालंकार, ६।२७।

८. देखिए, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० ८७।

९. वही, ११।७।

१०. तुल० वही, ११।८९ की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति २।१।२०, २।२।२० से।

११. तुल० अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग ११।८ की भामहकृत काव्यालंकार, ४।९ से।

१२. तुल० अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग ११।१० की काव्यालंकारसूत्र, २।१।६ से।

कथन में माना गया है।^१ मम्मट ने 'प्रसिद्धिविहङ्ग' के रूप में इसे स्थान दिया है।^२ जुगुप्सित अर्थ में अग्निपुराण का 'ग्राम्य' होता है।^३ यह पिछले आलंकारिकों के त्रिविध 'अश्लील' में से एक है।^४ अग्निपुराण में अर्थदोष दो प्रकार का कहा गया है—साधारण और प्रतिष्ठित।^५ प्रथम के पाँच भेद इस प्रकार हैं—क्रियाभ्रंश, कारकभ्रंश, विसन्धि, पुनरुक्त तथा सम्बन्धिता।^६ प्रथम का निर्देश भोज ने 'अशरीर' के रूप में किया है।^७ 'कारकभ्रंश' को व्याकरणविहङ्ग दोष में गतार्थ माना जा सकता है। विसन्धि और पुनरुक्त प्राचीनों द्वारा कथित हैं ही।^८ 'व्यस्तसम्बन्धिता' मम्मट का 'अभवन्मतयोग' है।^९ इस प्रकार अग्निपुराण में नवीन दोष एक भी नहीं है।

हेमचन्द्र

हेमचन्द्र-कृत 'काव्यानुशासन' में वर्णित दस रसदोष 'काव्यप्रकाश' से गृहीत हैं।^{१०} 'निरर्थक' एवं 'असाधु' नामक दो पददोष क्रमशः वामन के 'अनर्थक' और 'असाधु' हैं।^{११} 'काव्य-प्रकाश' के इक्कीस वाक्यदोषों में से ही 'काव्यानुशासन' के बारह वाक्यदोष लिये गये हैं।^{१२} उनमें केवल एक 'अनन्वित' नामतः नया है।^{१३} 'काव्यप्रकाश' में इसे 'अभवन्मतयोग' कहा गया है। 'काव्यानुशासन' के आठ पदवाक्य-दोषों में एक ही नामतः नया है 'विहङ्गबुद्धिकत्व', जो 'काव्यप्रकाश' का 'विहङ्गमतिकृत' है।^{१४} शेष सात तो यथावत् 'काव्यप्रकाश' में उपलब्ध

१. देखिए, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, ११।१०-११।
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २६४, २६५।
३. देखिए, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, ११।११।
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।१९।
५. देखिए, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, ११।१३।
६. वही, ११।१४।
७. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २६।
८. काव्यप्रकाश, ७।५३, ५५।
९. तुल० अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग ११।१९ तथा पृ० ११३ की पाद-टिप्पणी-संख्या ४६०।
१०. तुल० हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन, ३।१, ३।३ की काव्यप्रकाश, ७।६०-६२ से।
११. तुल० काव्यानुशासन, ३।४ की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।५, ९ से।
१२. तुल० काव्यानुशासन, ३।५ की ७।५३—५५ से।
१३. तुल० 'पदार्थानां परस्परमसम्बन्धोज्ज्वलितम्'।
—काव्यानुशासन, पृ० २२२ की काव्यप्रकाश, पृ० २१९ से।
१४. तुल० काव्यानुशासन, पृ० २६० के उक्त दोष-लक्षण से काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या १६५ की।

हैं।^१ इसी प्रकार 'काव्यानुशासन' के बीस अर्थदोष भी 'काव्यप्रकाश' से ही लिये गये हैं।^२ एक 'विरुद्धव्यंगत्व' नामतः नया है। यह लक्षणतः 'काव्यप्रकाश' का 'प्रकाशितविरुद्ध' ही है।^३ इस प्रकार हेमचन्द्र का नवीन दोष एक भी नहीं है, कुछ नाम नये हैं।

वाग्भट (प्रथम)

वाग्भट ने अपने 'वाग्भटालंकार' में दोषों का संक्षिप्त प्रतिपादन किया है। उनके द्वारा आठ पददोष एवं आठ वाक्यदोष निरूपित हैं, जिनमें कुछ दोषों के नाम में ही नवीनता है, विषय में नहीं। उनके पद-दोषों में 'अनर्थक', 'श्रुतिकटु', 'व्याहत' तथा 'ग्राम्य' तो यथावत् प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित हैं,^४ 'अलक्षण' भामह का 'शब्दहीन' है^५ और 'अप्रसिद्ध' उन्हीं का अप्रयुक्त^६। 'स्वरसंकेतप्रकल्पार्थ', 'नेयार्थ' का दूसरा नाम है।^७ और 'असंमत' रुद्रट के 'असमर्थ' के एक भेद से समता रखता है।^८ वाग्भट के वाक्य-दोषों में से 'अपक्रम', 'छन्दोभ्रष्ट' तथा 'यतिभ्रष्ट' भामह से गृहीत हैं^९ और 'व्यस्तसम्बन्ध' अग्निपुराण से है।^{१०} 'खण्डित' रुद्रट के गर्भित का ही दूसरा नाम है।^{११} 'रीतिभ्रष्ट' 'अरीतिमत्' के रूप में भोज-प्रतिपादित है।^{१२} 'असत्क्रिय' अग्निपुराण का 'क्रियाभ्रंश' है।^{१३} 'असंमित' शब्दार्थ-सन्तुलन के अभाव में माना गया है।^{१४} इसके उदाहरण का सादृश्य वामन के 'क्लिष्ट' के उदाहरण से है।^{१५}

१. तुल० काव्यानुशासन, ३।६ की काव्यप्रकाश ७।५०-५१ से।
२. तुल० काव्यानुशासन, ३।७ की काव्यप्रकाश, ७।५५-५६ से।
३. तुल० काव्यानुशासन, पृ० २६७ पर उक्त दोष-लक्षण की काव्यप्रकाश, उदाहरण संख्या २८० से।
४. देखिए, काव्यालंकारसूत्र, २।१९, ६, ७ तथा काव्यप्रकाश, ७।५५।
५. तुल० वाग्भटालंकार, २।११ की भामह-कृत काव्यालंकार, ४।२२ से।
६. तुल० वाग्भटालंकार, २।१३ की भामह-कृत काव्यालंकार, ६।२४ से।
७. तुल० वाग्भटालंकार, २।१२ की भामह-कृत काव्यालंकार, १।३८ से।
८. तुल० वाग्भटालंकार, २।१४ की रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।६ से।
९. दे० भामह-कृत काव्यालंकार, ४।१।
१०. दे० अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, ११।१४।
११. तुल० वाग्भटालंकार, २।१८ की रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।४३ से।
१२. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २७।
१३. तुल० वाग्भटालंकार, २।२६ की अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग, ११।१४ से।
१४. "शब्दार्थी यत्र न तुलाविषृताविव संमितौ।
तदसंमितमित्याहुर्वच्यं वाक्यविदो यथा।"—वाग्भटालंकार, २।२।
१५. तुल० वाग्भटालंकार, २।२१ की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ८४ पर उपस्थित 'क्लिष्ट' के उदाहरण से।

इस प्रकार कुछ दोषों के नामों की नवीनता के अतिरिक्त वाग्भट का कुछ भी योगदान नहीं है।

जयदेव

जयदेव ने अपने 'चन्द्रालोक' में सैंतीस शब्ददोष और बारह अर्थ-दोष प्रतिपादित किये हैं। इनके सैंतीस शब्ददोषों में मम्मट-मान्य सोलह पद-दोष तथा उन्हीं के वाक्यदोषों में से 'अनभिहितवाच्य', 'अस्थानस्थपद', 'गमित' तथा 'प्रसिद्धिहृत' को छोड़कर शेष सत्रह वाक्य-दोष गृहीत हैं।^१ इन सत्रह वाक्यदोषों में दो के नाम में जयदेव ने थोड़ी भिन्नता रखी है। मम्मट का 'कथितपद' यहाँ 'पुनरुक्त'^२ है और उनका 'अर्धान्तरैकवाचकत्व' 'अर्धान्तरपदाक्षेपि'।^३ जयदेव के शेष चार शब्ददोष हैं—१. शिथिल, २. कुसन्धि, ३. अन्यसंगत तथा ४. विकृत।^४ इनमें 'कुसन्धि' दोष सन्धि की अश्लीलता में माना गया है। मम्मट ने 'विसन्धि' के एक भेद के रूप में इसे स्थान दिया है, अतः यह भी नया दोष नहीं है। 'विकृत' का जयदेव ने जो उदाहरण दिया है, उससे पता चलता है कि किसी शब्द के निर्माण में धातु-प्रत्ययों के अधिक परिवर्तन से मूल धातु के अत्यन्त विकृत हो जाने में यह दोष माना गया है।^५ इसे अर्थप्रत्यय-विलम्बरूप दोष मान सकते हैं। 'अन्यसंगत' के उदाहरण में जहाँ जो पद रहना चाहिए, वहाँ उसका प्रयोग न होकर दूसरे के साथ प्रयोग है।^६ यह मम्मट के अस्थानस्थपद से सादृश्य रखता है। 'शिथिल' के उदाहरण से स्पष्ट है कि यह रचनागत शैथिल्य का नाम है।^७ दण्डी ने श्लेष-विपर्यय के रूप में 'शिथिल' का उल्लेख किया है, पर जहाँ उनका यह दोष अल्पप्राण वर्णों की अधिक संख्या में होता है, वहाँ जयदेव का 'शिथिल' रचनागत विलक्षणता में माना गया है।^८ इस प्रकार ये दो नये दोष हैं।

जयदेव के बारह अर्थदोषों में आठ 'काव्यप्रकाश' में वर्णित हैं,^९ नवाँ 'सहचराचार'

१. चन्द्रालोक, द्वितीय मयूख, पृ० १२ से २१ तक।

२. 'कथितं पुनरुक्ता वाक्'—वही, २।१९।

३. वही, २।२२।

४. वही, २।१०, २।१६, २।१४ तथा २।१९।

५. 'विकृतं दूरविकृतेरयः कुञ्जराः पुरम्।'—वही, २।१९।

६. 'अन्यतद्गतमुत्तुङ्गहारशोभिपयोधरौ।'—वही, २।१४।

७. 'शिथिलं शयने लिल्ये मन्चिते ते शशिभ्रियि।'—वही, २।१०।

८. दण्डी-कृत काव्यादर्श, ३।१२५-१२६।

९. 'तथा च विलक्षणरचनकत्वमेव शिथिलत्वम्।'—चन्द्रालोक की पायगुण्डेवैद्यनाथ-कृत रमाख्या टीका, पृ० १५।

१०. तुल० चन्द्रालोक, पृ० २२-२४ की काव्यप्रकाश, ७।५५—५७ से।

भी उसी का 'सहचरमिन्नत्व' है। दसवाँ 'विरुद्ध' भी मम्मट के 'प्रसिद्धिविद्याविरुद्ध' का संयुक्त रूप है।^१ ग्यारहवाँ 'अनीचित्व' मम्मट के 'प्रसिद्धिहृत' से अभिन्न है।^२ बारहवाँ दोष 'विरुद्धा-न्योन्यसंगति' उन्हीं के 'प्रकाशितविरुद्ध' से साम्य रखता है।^३

वाग्भट (द्वितीय)

वाग्भट के 'काव्यानुशासन' में सोलह शब्ददोषों, तेरह वाक्यदोषों तथा चौदह अर्थ-दोषों का प्रतिपादन किया गया है।^४ इनमें से एक भी नवीन दोष नहीं है, जिसका उल्लेख यहाँ आवश्यक हो। लगता है, वाग्भट के सामने वाग्भटालंकार और हेमचन्द्रकृत 'काव्यानु-शासन' नामक ग्रन्थ थे। कारण, मम्मट के जिन दोषों के किंचित् परिवर्तित नाम हेमचन्द्र ने प्रस्तुत किये थे, उन्हें वाग्भट ने भी स्थान दिया है। ये दोष हैं अनन्वित, विरुद्धव्यंगत्व और विरुद्धबुद्धिकृत्। 'वाग्भटालंकार' का 'अलक्षण' यहाँ 'निर्लक्षण' के रूप में विराजमान है। रसदोषों का प्रतिपादन वाग्भट ने नहीं किया है।

विद्यानाथ

विद्यानाथ-कृत 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में सत्रह पददोष, चौबीस वाक्यदोष तथा अठारह अर्थदोष प्रतिपादित हैं।^५ रसदोषों में एक रस और भाव के स्वशब्दवाच्यत्व का उल्लेख है।^६ विद्यानाथ के उपजीव्य मम्मट और भोज दोनों हैं। उनके सत्रह पददोषों में 'अपुष्टार्थ', 'अप्रयोजक', 'गूढार्थ' तथा 'अन्यार्थ' भोज से गृहीत हैं; चूँकि ये मम्मट की पददोष-सूची में नहीं हैं। इसी प्रकार निरर्थक, अविमृष्टविधेयांश, विरुद्धमतिकृत् तथा अश्लील नामक दोष, जो भोज की सूची में नहीं हैं, मम्मट से लिये गये हैं। 'परुष' मम्मट का 'श्रुतिकटु' है। शेष आठ दोष भोज और मम्मट—दोनों की पददोष-सूची में प्राप्य हैं।

विद्यानाथ के चौबीस वाक्यदोषों में 'लुप्तविसर्ग', 'अस्थानस्थसमास', 'समाप्तपुनरात्', 'पतत्प्रकर्ष', 'अधिकपद' और 'भग्नप्रक्रम' नामक दोष मम्मट से गृहीत हैं। 'विसन्धि', 'संकीर्ण' तथा 'गमित' दोष तो भोज और मम्मट दोनों द्वारा निर्दिष्ट हैं। 'वाच्यवर्जित' और 'सम्बन्ध-वर्जित' क्रमशः मम्मट के 'अनभिहितवाच्य' तथा 'अमवन्मतयोग' हैं। क्रियान्वय की सम्पूर्णता के अभाव में 'अपूर्ण' बताया गया है, जो नया दोष है।^७ शेष बारह दोष भोज से गृहीत हैं।

१. तुल० चन्द्रालोक, २।३४ की काव्यप्रकाश, की उदाहरण-संख्या २६४-६५ से।

२. तुल० चन्द्रालोक, ३।३४ की काव्यप्रकाश, उदा०—सं० १४२ से।

३. तुल० चन्द्रालोक, २।३७ की काव्यप्रकाश, उदा०—सं० २८० से।

४. देखिए, वाग्भट-कृत 'काव्यानुशासन', द्वितीय अध्याय।

५. देखिए, प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० २९६, ३०२ तथा ३१३।

६. 'रसभावादीनां स्वशब्दवाच्यता बुष्टैव।'—वही, पृ० ३२१।

७. 'अपूर्णं तद्भवेद्यत्र न सम्पूर्णं क्रियान्वयः।'—वही, पृ० ३०६

विद्यानाथ के अट्ठारह अर्थदोषों में पन्द्रह भोज से गृहीत हैं। 'हेतुशून्य' और 'सहचर-च्युत' क्रमशः मम्मट के 'निर्हेतु' और 'सहचरमित्र' हैं। सम्बन्धवर्जित को 'मित्र' कहा गया है।^१ इसे विद्यानाथ का नवीन दोष कह सकते हैं।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने मम्मट के सभी पददोषों, वाक्यदोषों और अर्थदोषों को स्वीकार किया है।^२ उनके लक्षण भी मम्मट के दोष-लक्षणों के समान ही हैं। दो दोषों के नाम विश्वनाथ ने बदल दिये हैं। उन्होंने मम्मट के 'श्रुतिकटु' को 'दुःश्रवत्व'^३ और उनके 'त्यक्तपुनःस्वीकृत' को 'निर्मुक्त पुनरुक्तत्व'^४ कहा है। मम्मट-मान्य दस रसदोषों के प्रतिपादन के पश्चात् विश्वनाथ ने 'अन्यदनौचित्य' के उदाहरण के रूप में देशकालादि के अन्यथा वर्णन को प्रस्तुत किया है।^५ यह भामहादि से गृहीत है। इस प्रकार विश्वनाथ ने एक भी नवीन दोष प्रस्तुत नहीं किया। अलंकार-दोषों को उन्होंने मम्मट की तरह शब्दार्थ-दोषों में ही अन्तर्भुक्त माना।^६

गोविन्द ठक्कुर

'काव्यप्रकाश' के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने कोई स्वतन्त्र दोष संकेतित न करके भी मम्मट के दोषस्पष्टीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यह योगदान है मम्मट के द्वारा प्रस्तुत दोषों के दूषकता-बीज के संकेत के रूप में। दोष के स्थूल लक्षण से जो बात स्पष्ट नहीं होती, दूषकता-बीज से हो जाती है। काव्यास्वाद-प्रक्रिया में विशिष्ट दोषों की उद्देश्य-प्रतीति-विधातकता में उनका सूक्ष्म रूप क्या है, इसे ही गोविन्द ठक्कुर ने दूषकता-बीज के रूप में निर्दिष्ट किया है। यह विश्लेषण बड़ा ही मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म है। नीचे उनके विवेचन का सार प्रस्तुत है।

स्वायत्त शब्द-प्रयोग में कर्णोपतापक शब्द-प्रयोग से श्रोता का उद्वेग रसापकर्षक होता है, यही 'श्रुतिकटु' का दोषबीज है।^७ इसी कारण इसका 'प्रतिकूलवर्णत्व' से अन्तर है; चूँकि उसमें कर्णोपतापकहेतु का अभाव रहता है।^८ अर्थ की अप्रतीति 'च्युतसंस्कृति' का, मुख्यार्थ-

१. 'सम्बन्धवर्जितं यत् स्यात् तदिभन्नं परिकीर्त्यते।'—वही, पृ० ३१५।

२. साहित्य-दर्पण, परिच्छेद ७।

३. वही, पृ० २२८।

४. वही, पृ० २४८।

५. 'अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्।'—वही, पृ० २५०।

६. 'एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव सम्भवः।'—वही, पृ० २५०।

७. काव्यप्रदीप, पृ० १७२।

८. वही, पृ० १७२।

विच्छित्ति 'अप्रयुक्त' का एवं अर्थानुपस्थिति 'असमर्थ' का बीज है।^१ विवक्षित की विलम्बो-पस्थिति 'निहतार्थ' का, विवक्षित तिरस्कार-कार्योपस्थिति 'अनुचितार्थ' का, सहृदयवैमुख्य 'निरर्थक' का एवं विवक्षित अर्थ की अनुपस्थिति 'अवाचक' का बीज है।^२ रसात्मक काव्य में 'अश्लील' का बीज है रसापकर्षक अर्थोपस्थिति और नीरस में चमत्कारापकर्षक अर्थोपस्थिति^३ अथवा इनके समान अर्थोपस्थिति द्वारा श्रोता की विमुखता भी इसका बीज है।^४ उद्देश्य-निश्चय का अभाव 'सन्दिग्ध' का, सम्बद्ध शास्त्र के अनभिज्ञ के लिए अर्थ की अनुपस्थिति 'अप्रतीति' का और लोकानभिज्ञ के लिए अर्थानुपस्थिति 'ग्राम्य' का दोषबीज है।^५ वृत्ति के अभाव से अर्थानुपस्थिति 'नैयार्थ' का, प्रतीतिविलम्ब 'क्लिष्ट' का, विवक्षित अर्थ का अप्रत्यय 'अविमृष्टविधेयांश' का एवं विवक्षितार्थ-तिरस्कार-कार्योपस्थिति 'विरुद्धमतिकृत्' का बीज है।^६

वाक्यदोषों का दूषकता-बीज गोविन्द ठक्कुर ने इस प्रकार बताया है : रसविरोधित्व 'प्रतिकूलवर्णत्व' का, वन्धपारुष्य से सहृदयोद्वेग 'उपहतलुप्तविसर्ग' का, सहृदयोद्वेजिनी अश्रव्यता तथा प्रतिकूलवर्णत्व 'हतवृत्त' का, विवक्षित की अप्रतिपत्ति 'न्यूनपद' का, निष्प्रयोजन शब्दश्रवण से श्रोता की विमुखता 'अधिकपद' का, कवि के अशक्ति-उन्नय से श्रोता का वैमुख्य 'कथितपद' का, उसी के कारण श्रोता का वैरस्य 'पतत्प्रकर्ष' का, निराकांक्षत्व 'समाप्तपुनरात्त' तथा 'अर्धान्तरैकवाचकत्व' का, इष्टप्रतीतिविरह 'अभवन्मतयोग' का, अनभिमतप्रतीति या विरुद्धप्रतीति 'अनभिहितवाच्य' का, सहृदयवैमुख्य 'अस्थानस्थसमास' का, प्रतीतिविलम्ब 'संकीर्ण' का, प्रतीतिविच्छेद 'गर्भित' का, प्रतीति का स्थान या उपघात 'भग्नप्रक्रम' का, उद्देश्यप्रतीतिविरह 'अक्रम' का तथा तादृश अर्थोपस्थिति से रसापकर्षकता 'अमतपरार्थ' का दुष्टि-बीज है।^७ 'विसन्धि' का दोषबीज पददोषों में निर्दिष्ट होने के कारण फिर से नहीं कहा गया है।^८ 'अपदस्थपद' तथा 'प्रसिद्धिहत' के बीज क्रमशः अस्पष्ट^९ एवं अनिर्दिष्ट हैं।

अर्थदोषों का दोषबीज इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर ने संकेतित किया है : अशक्ति-उन्नय से श्रोता का वैमुख्य 'अपुष्ट' का, सम्यक् प्रतीतिविरह 'कष्ट' का, वाक्यार्थ की अप्रतीति 'व्याहत' का, निष्प्रयोजन अभिधान से श्रोता का वैमुख्य 'पुनरुक्त' का, सहृदयोद्वेग 'दुष्क्रम' का,

१. काव्यप्रदीप, पृ० १७३-७४।

२. वही, पृ० १७४-७७।

३. वही, पृ० १७७-७८।

४. वही, पृ० १७८।

५. वही, पृ० १७८-१८०।

६. वही, पृ० १८०-१८६।

७. वही, पृ० २०४-२३२।

८. वही, पृ० २०७-२०८।

९. वही, पृ० २२३।

उद्देश्यनिश्चयविरह 'सन्दिग्ध' का, उद्देश्यप्रतीतिविरह 'निर्हेतु' का, विरोध से अर्थप्रतीति 'प्रसिद्धिविरुद्ध' का, अभिमतप्रतीतिविरह 'विद्याविरुद्ध' का, पारुष्य या अशक्तिप्रकाश से सहृदयोद्वेजकत्व 'अनवीकृत' का, अव्युत्पत्ति-उन्नय से वैमुख्याधायकत्व 'सनियमपरिवृत्त' एवं 'अनियमपरिवृत्त' का, आकांक्षाविरह 'विशेषपरिवृत्त' का, विवक्षित का अनिर्वाह 'सामान्यपरिवृत्त' का, अभिधानपर्यवसान 'साकांक्ष' का, विरुद्धप्रतीति 'अपदयुक्त' का, दोनों के उपादेयत्व या अनुपादेयत्व का प्रतिपादन 'सहचरभिन्न' का, विवक्षित का अनिर्वाह 'विध्ययुक्त' का तथा अप्रयोजकत्व या सहृदयवैरस्याभिधान 'त्यक्तपुनः स्वीकृत' का दोषबीज है।^१ 'प्रकाशित विरुद्ध' तथा 'अनुवादायुक्त' का दोषबीज उनके नाम-लक्षण में ही उन्होंने निर्दिष्ट बताया है।^२ 'अश्लील' का अलग से दोषबीज सम्भवतः इसलिए संकेतित नहीं किया गया है कि पददोष के रूप में उसके बीज का निर्देश हो चुका था।

केशवमिश्र

केशवमिश्र का दोष-निरूपण संक्षिप्त है। उन्होंने आठ ही पद-दोष निरूपित किये हैं, जिनके नाम हैं—कष्ट, अप्रयुक्त, सन्दिग्ध, व्यर्थ, अश्लील, अप्रतीत, असाधु तथा अवाचक।^३ इनमें से 'अश्लील' मम्मट से गृहीत है और 'व्यर्थ' के अतिरिक्त शेष छह भोज से। 'व्यर्थ' वामन के 'अनर्थक' से समता रखता है।^४ केशवमिश्र के वाक्यदोषों में से 'समाप्तपुनरात्', 'भग्नप्रक्रम'; मम्मट के वाक्यदोषों से 'अविमृष्टविधेयांश' तथा 'विरुद्धमतिकृत्' उन्हीं के पद-दोषों से। और 'विसन्धि', 'व्याकीर्ण', 'भग्नच्छन्द', 'वाक्यगर्भ' तथा 'अरीतिमत्' भोज से गृहीत हैं। उनका 'न्यून' अन्वयबोधप्रयोजक पद के अभाव में होता है।^५ यह विशिष्ट प्रकार की न्यूनपदता है, जिसे 'अभवन्मतयोग' का कारण मान सकते हैं। केशवमिश्र का 'समुदायार्थ-विवर्जित' भोज का 'अपार्थ' है।^६ उनके आठ अर्थदोषों में से 'व्याहृत' और 'ग्राम्य' मम्मट से तथा 'विरस', 'खिन्न', 'हीनोपम', 'अधिकोपम', 'असदृशोपम' तथा देशादिविरोधी भोज से गृहीत हैं। उनके रसदोष भी मम्मट से लिये गये हैं। एक 'अनौचित्य' नामक भेद भी उन्होंने बताया है, जिसका उदाहरण स्तन की उपमा नभ से देना या शंकरादि देवों या

१. काव्यप्रदीप, पृ० २३३-२४८।

२. वही, पृ० २४६ तथा २४८।

३. "कष्टाप्रयुक्तसन्दिग्धव्यर्थश्लीलाप्रतीतकाः।

असाध्ववाचकौ दोषाः पदेऽष्टावेव भाषिताः॥"—अलंकारशेखर, पृ० १४।

४. तुल० 'च हिवै खलु तु शब्दाः।'—अलंकारशेखर, पृ० १५ की काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति २।१।९ से।

५. 'तत्र न्यूनम् अन्वयबोधप्रयोजकपदशून्यम्।'—अलंकारशेखर, पृ० १६।

६. मामह-कृत काव्यालंकार, ४।८।

माता-पिता का केलि-वर्णन माना है।^१ आनन्दवर्धन ने 'कुमारसम्भव' के ऐसे प्रकारण को दुष्ट बताकर इसका निर्देश किया है।^२ रसों की एक प्रतिकूलवर्णयोजना 'गृहीतमुक्तक' का उन्होंने निरूपण किया है।^३ इसके अतिरिक्त कोई नया दोष केशवमिश्र नहीं दे सके।

अमृतानन्दयोगी

अपने 'अलंकार-संग्रह' के पष्ठ परिच्छेद में अमृतानन्दयोगी ने सत्तर दोषों का निरूपण किया है, जो इस प्रकार है : 'निहृतार्थ' के अतिरिक्त मम्मट के शेष पन्द्रह पद-दोष; उनके इक्कीस वाक्यदोषों के अतिरिक्त 'रसच्युत' और 'अप्रस्तुतार्थ' नामक दो और वाक्यदोष; 'अनवीकृत' और 'अपदयुक्त' के अतिरिक्त मम्मट के सभी अर्थदोष और एक 'व्यर्थीकृत' नामक अर्थदोष तथा मम्मट के दस रसदोषों के अतिरिक्त रसाभास, भावाभास नामक रसदोष।^४ इनमें 'अप्रस्तुतार्थ' और 'व्यर्थीकृत' नये दोष हैं। प्रस्तुत विषय के लिए अनुपयोगी विषय के वर्णन को प्रथम^५ तथा श्लाघ्य वस्तुओं के व्यर्थत्वनिरूपण को द्वितीय दोष माना गया है।^६

पण्डितराज जगन्नाथ

'रसगंगाधर' में 'रसदोषों' तथा वर्णरचना-सम्बन्धी दोषों का प्रतिपादन तो पण्डितराज ने किया है, पर अन्य शब्दार्थ-दोषों का नहीं। उनके नये रसदोषों का ही उल्लेख किया जाता है। जहाँ किसी प्रबन्ध का प्रकृत रस प्रसंगान्तर से विच्छिन्न होकर पुनः दीप्त किया जाय, तो वहाँ पण्डितराज ने 'विच्छिन्न-दीपन' नामक रसदोष माना है।^७ नायक के चरित एवं सम्पदा की अपेक्षा प्रतिनायक के चरित एवं सम्पदा की अधिकता का वर्णन भी वे दोष-स्वरूप मानते हैं।^८ विरोधी रसों के समबल या प्रबल अंगों का वर्णन भी उन्होंने दोषावह बताया है।^९ विश्वनाथ के 'अन्यदनीचित्य' के उदाहरणस्वरूप देशादिविरोधी की तरह उन्होंने देश, काल, आश्रम, अवस्था एवं स्थिति का विरोध भी दोषस्वरूप प्रतिपादित किया है।^{१०}

१. "भवानी शङ्करादीनां पित्रोर्वा केलिवर्णनम्।

अत्युक्तिर्वा नभः साम्यं स्तनादावित्यनौचिती॥"—अलंकारशेखर, पृ० ८८।

२. ध्वन्यालोक, पृ० २४१।

३. 'गृहीतमुक्तो नेष्टो हि रचनायां विशेषतः।'—अलंकारशेखर, पृ० ९१।

४. अलंकार-संग्रह, पृ० ६२-९३।

५. 'अप्रस्तुतार्थमेतद् यत्राप्रस्तुतनुक्तिं करोति।'—वही, पृ० ७७।

६. 'व्यर्थीकृतो यच्छ्लाघ्यानां व्यर्थत्वापादनं यथा।'—वही, पृ० ८१।

७. रसगंगाधर, पृ० ५०।

८. वही, पृ० ५०।

९. वही, पृ० ५०।

१०. वही, पृ० ५१।

रचना के सामान्य दोष पण्डितराज ने इस प्रकार बताये हैं—१. एक अक्षर का साथ ही फिर से प्रयोग; २. वर्ग के प्रथम अक्षर के साथ दूसरे अक्षर का तथा तीसरे के साथ चौथे का प्रयोग; ३. तीन या अधिक अक्षरों का संयोग, ४. पूर्वपद के अन्त में दीर्घ रहने पर आगे किसी संयुक्त वर्ण का प्रयोग तथा ५. सन्धि का अपने इच्छानुसार एक बार भी अप्रयोग।^१ पण्डितराज के मधुर रस के विशेष दोष इस प्रकार हैं—१. लम्बा समस्तपद, २. विसर्ग-प्राचुर्य, ३. जिह्वामूलीय का प्राचुर्य, ४. उपध्मानीयों का आधिक्य, ५. टवर्ग और वर्गों के प्रथम चार वर्णों की प्रचुरता, ६. रेफों के द्वारा बने संयोगों का बार-बार प्रयोग, ७. वर्ग के प्रथम चार वर्णों में से किन्हीं दो के संयोग का बार-बार प्रयोग, ८. वर्ग के प्रथम चार वर्णों में से किन्हीं दो के सवर्णों के संयोग का एक बार प्रयोग तथा ९. महाप्राणों के द्वारा बने संयोग का प्रयोग।^२ पण्डितराज ने उपमा, उपमेयोपमा, स्मरण, रूपक, परिणाम, तुल्ययोगिता तथा दीपक अलंकारों के दोषों का पृथक् प्रतिपादन किया है।^३ उनके उपमा-दोषों में कोई भी नवीन नहीं है। 'उपमेयोपमा' में 'उपमा' के सभी दोषों के अतिरिक्त दो उपमाओं की विलक्षणता नामक एक और दोष उन्होंने माना है।^४ इसी प्रकार 'स्मरण' में 'उपमा' के सभी दोषों के अतिरिक्त एक दोष उन्होंने सादृश्य का शब्दतः प्रतिपादन माना है।^५ 'रूपक' और 'परिणाम' में उपमेयोपमान का लिंगभेद दोषस्वरूप उन्होंने माना है। 'तुल्य-योगिता' तथा 'दीपक' के निम्नांकित भेद उन्होंने निर्दिष्ट किये हैं—१. क्रियाधिक धर्मों का धर्मियों में एक रूप से अन्वित न होना; २. ऐसे प्रातिपदार्थ-रूपी धर्म के, जिसका विशेष्य के अनुसार लिंग बदल सके, एक बार ग्रहण करने पर लिंगभेद होना; ३. पुरुष की एकरूपता न होना तथा ४. कालभेद।^६

पण्डितराज के बाद संस्कृत-काव्यशास्त्र में किसी आचार्य ने दोषों के क्षेत्र में कोई मौलिक योगदान न किया। अतः संस्कृत-काव्यशास्त्रीय दोषों के विकास में पण्डितराज को अन्तिम कड़ी माना जाना चाहिए।

(ख) प्राकृत-अपभ्रंश में दोष-विवेचन

प्राकृत-अपभ्रंश में काव्यशास्त्रीय पुस्तकें अत्यन्त अल्प परिमाण में उपलब्ध हैं। छन्द-

१. रसगंगाधर, पृ० ६९।

२. वही, पृ० ६९।

३. वही, पृ० २०३-३२९।

४. वही, पृ० २०३।

५. वही, पृ० २२२।

६. वही, पृ० २४७।

७. वही, पृ० ३२८-३२९।

शास्त्र से सम्बद्ध कुछ पुस्तकें मिली हैं^१ तथा कुछ अन्य पुस्तकों में काव्यशास्त्रीय विषयों की छिट-फुट चर्चा मिलती है।^२ दोषों का प्रतिपादन करनेवाला कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। जैनाचार्यों द्वारा धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे गये सूत्रग्रन्थों में से एक 'अनुयोग-द्वारसुत' ऐसी पुस्तक है, जिसमें बत्तीस सूत्रदोषों का उल्लेख किया गया है। उनमें से कुछ दोष काव्यशास्त्रीय भी हैं। अतः उक्त पुस्तक की दोष-चर्चा यहाँ प्रासंगिक है।

अनुयोगद्वारसुत

अनुयोगद्वारसुत में सूत्र-लक्षण के प्रसंग में इस बात की चर्चा आई है कि सूत्र को बत्तीस दोषों से विरहित तथा अट्ठारह गुणों से युक्त होना चाहिए।^३ बाद में इन बत्तीस सूत्र-दोषों की सूची इस प्रकार दी गई है—१. अलीक, २. उपघातजनक, ३. निरर्थक, ४. अपार्थक्य, ५. छल, ६. द्रुहिल, ७. निस्सार, ८. अधिक, ९. ऊन, १०. पुनरुक्त, ११. व्याहृत, १२. अयुक्त, १३. क्रमभिन्न, १४. वचनभिन्न, १५. विभक्तिभिन्न, १६. लिंगभिन्न, १७. अनभिहित, १८. अपद, १९. स्वभावहीन, २०. व्यवहित, २१. कालदोष, २२. यतिदोष, २३. छविदोष, २४. समयविरुद्ध, २५. निर्वृत्त, २६. अर्थापत्ति-दोष, २७. असमास-दोष, २८. उपमा-दोष, २९. रूपक-दोष, ३०. निर्देश-दोष, ३१. पदार्थ-दोष तथा ३२. सन्धि-दोष।^४

उपर्युक्त दोषों के लक्षण-उदाहरण भी 'अनुयोगद्वारसुत' में प्राप्त हैं। झूठ कहने को 'अलीक' कहा गया है।^५ प्राणिहंसोपदेश को 'उपघातजनक', अर्थहीन वर्णक्रम को 'निरर्थक',

१. उदाहरणार्थ, सिद्ध शान्तिप्राकृत 'छन्दोरत्नाकर', जिसकी चर्चा राहुल सांकृत्यायन-कृत 'हिन्दी-काव्यधारा', अवतरणिका, पृ० ३ पर है।

२. उदाहरणार्थ, नयनन्दकृत 'सुदर्शन-चरित्र' में नायिका-भेद, नख-शिख आदि की चर्चा है।—देखिए, डॉ० भगीरथ मिश्र-कृत 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० ४९।

३. "अप्पगंथमहत्थं बत्तीसादोषविरहियं जं च।

लक्खनजुत्तं सुत्तं अट्ठहिय गुणेहि उववेयं॥"

—अनुयोगद्वारसुत, पत्र-संख्या २४१, पृ० सं० २।

४. "अलियमुवघायजणयं निरत्थं यमवत्थयं छलं द्रुहिलं। निस्सारमहियमूणं पुणरुत्तं बाह्यमजुत्तं। कमभिन्नवयणभिन्नं विभक्तिभिन्नं च लिंगभिन्नं च। अणभिहियमपयमेव य सहावहीणं ववहियं च। कालजत्तिच्छविदोसो समय-विरुद्धं च वयणमित्तं च। अत्थावत्तीदोषोनेओ असमास दोसो य। उवमारु-वगदोसो निह्सेसपयत्यसन्धिदोसो।"—वही, पत्र २४२, पृ० १

५. वही, पत्र २४२, पृ० १।

असम्बद्धार्थ को 'अपार्थक', अनभीप्सित अर्थ के कारण विवक्षित अर्थ के उपघात को 'छल', जन्तुओं के अहितोपदेश के द्वारा पाप-व्यापार-प्रापण को 'द्रुहिल', युक्ति-रहित कथन को 'निस्सार', अक्षरों या पदों की अधिकता को 'अधिक' तथा उनकी न्यूनता को 'ऊन' कहा गया है।^१ 'पुनरुक्त' के दो भेद शब्द-पुनरुक्त और अर्थ-पुनरुक्त किये गये हैं।^२ पूर्वापर-विरोध को 'व्याहृत', उपपत्ति में अक्षम को 'अयुक्त', स्वीकृत क्रम के अनिर्वाह को 'क्रमभिन्न', वचन, विभक्ति तथा लिंग के व्यत्यय को क्रमशः 'वचनभिन्न', 'विभक्तिभिन्न' तथा 'लिंगभिन्न', अपने सिद्धान्त (मार्ग) में अस्वीकृत या अकथित प्रतिपादन को 'अनभिहित', अन्य छन्द के अधिकार में अन्य छन्द के प्रयोग को 'अपद', वस्तुओं के स्वभाव के प्रतिकूल वर्णन को 'स्वभाव-भिन्न', प्रकृत में अप्रकृत का समावेश कर फिर प्रकृत पर आने को 'व्यवहित' तथा व्याकरण के काल से सम्बद्ध दोष को कालदोष माना गया है।^३ अस्थान में विरति या सर्वथा अविरति को 'यतिदोष', अलंकारशून्यता को 'छविदोष', स्वसिद्धान्त-विरोधी कथन को 'समयविरुद्ध', तर्कहीन को 'निर्हेतुक', अर्थापत्ति द्वारा हिसोपदेश को 'अर्थापत्ति-दोष' तथा अपेक्षित रहने पर समास नहीं करने पर या विपरीत या भ्रान्त समास करने को 'असमास-दोष' माना गया है।^४ 'हीनोपमा', अधिकोपमा तथा अनुपमा 'उपमा' के दोष हैं।^५ अन्य वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं प्रतिपादित करने को 'रूपक-दोष', निर्दिष्ट पदों की एकवाक्यता नहीं करने में 'निर्देश-दोष', वस्तुओं के पर्याय रहने पर भी पदार्थान्तरत्वेन उनकी कल्पना करने में पदार्थ-दोष तथा सन्धि की अपेक्षा रहने पर भी सन्धि नहीं करने में या दुष्ट सन्धि करने में 'सन्धिदोष' कहा गया है।^६

उपर्युक्त दोषों में 'अलीक', उपघातजनक, 'द्रुहिल' तथा अर्थापत्ति-दोष नैतिक-धार्मिक वृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। 'निरर्थक', 'अपार्थक', 'छल', 'निस्सार', 'अधिक', 'ऊन', 'पुनरुक्त', 'व्याहृत', 'अयुक्त', 'क्रमभिन्न', 'अनभिहित', 'स्वभावहीन', 'व्यवहित', 'समयविरुद्ध', 'निर्हेतुक', 'रूपकदोष', 'निर्देश-दोष' तथा 'पदार्थदोष' तर्क या न्याय से सम्बद्ध दोष हैं, जिनमें अधिकांश काव्यदोषों के रूप में प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः स्वीकृत हुए हैं। उदाहरणार्थ, निरर्थक, अपार्थक, अधिक, ऊन, पुनरुक्त, व्याहृत, अयुक्त, क्रमभिन्न तथा निर्हेतुक दोषों की काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में स्पष्ट चर्चा है।^७ वचनभिन्न, विभक्ति-भिन्न, लिंगभिन्न, कालदोष तथा असमास व्याकरण-

१. अनुयोगद्वारमुप्त, पत्र २४२, पृ० २।

२. वही, पत्र २४२, पृ० २।

३. वही।

४. वही, पत्र २४२, पृ० २ से २४३, पृ० १ तक।

५. वही, पत्र २४३, पृ० १।

६. वही, पत्र २४३, पृ० १ से २ तक।

७. काव्यप्रकाश, ७।५०, ५३, ५५, ५६, भामह-कृत का व्यालंकार, ४।८, ३६।

सम्बन्धी दोष हैं, जिन्हें 'असाधु' के अन्तर्गत रख सकते हैं। 'सन्धिदोष' विसन्धि के रूप में काव्यशास्त्र में उल्लिखित है।^१ 'अपद' एवं 'यतिदोष' छन्दोदोष हैं, जिन्हें क्रमशः 'भिन्न-वृत्त' तथा 'यतिभ्रष्ट' के रूप में काव्यशास्त्र में स्थान प्राप्त है।^२ उपमा-दोष की चर्चा तो हुई ही है।^३ 'छविदोष' सामान्यतः अलंकार-दोष है, जिसके विविध भेद काव्यशास्त्र में उपलब्ध हैं। इस प्रकार 'अनुयोगद्वारमुक्त' के नौ दोषों के अतिरिक्त शेष काव्यशास्त्रीय दोषों के रूप में स्वीकृत हुए हैं।

(ग) हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में दोष-निरूपण

केशवदास

आचार्य केशवदास से पूर्व रचित उपलब्ध हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में से किसी में दोष-निरूपण उपलब्ध नहीं है। केशव ने 'रसिकप्रिया' में रसदोषों का और 'कविप्रिया' में अन्य दोषों का प्रतिपादन किया है। रसदोषों को उन्होंने 'अनरस' कहा है^४ और उनके 'प्रत्यनीक', 'नीरस', 'विरस', 'दुःसन्धान' तथा 'पातरदुष्टः' नामक पाँच प्रकारों का उल्लेख किया है।^५ ये सभी दोष रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' से गृहीत हैं।^६ केशव ने परस्परविरुद्ध रसों के एक साथ वर्णन में 'प्रत्यनीक',^७ कपटपूर्ण प्रेम-व्यापार को 'नीरस',^८ शोक के प्रकरण में भोग के वर्णन को 'विरस',^९

१. काव्यप्रकाश, ४।२८।

२. वही, ४।२४-२६।

३. वही, २।३९।

४. अथ अनरस-वर्णन। रसिकप्रिया, केशवग्रन्थावली, पृ० ९१।

५. (क) "प्रत्यनीक नीरस विरस 'केसव' दुःसन्धान।

पात्रादुष्ट कवित्त बहु करहि न सुकवि बलान ॥"—वही, १६१, पृ० ९१

(ख) नवलकिशोर प्रेस की प्रति में 'पातरदुष्ट' पाठ है, जो समीचीन है।

६. शृंगारतिलक, ३।२०।

७. "जहँ सिंगार बीभत्स भय, बीरहि बरन कोइ।

रौद्रसु करुना मिलत ही प्रत्यनीक रस होइ।"

—रसिकप्रिया, १६।२, केशवग्रन्थावली, पृ० ९२

८. "जहाँ दम्पती मुंह मिलै सदा रहै यह रीति।

कपट करै लपटाय तन नीरस रस की प्रीति ॥"—वही, १६।४, पृ० ९२।

९. "जहाँ सोक मर्हि भोग को बरनतु है कवि कोइ।

केसवदास हुलास सों तहाँ विरस रस होइ ॥"—वही, १६।६, पृ० ९२

नायक-नायिका में से किसी के प्रतिकूल रहने पर 'दुःसन्धान' तथा जहाँ जिस प्रकार की बात न समझी जाय, उसी प्रकार की बात के पोषण में 'पातरदुष्ट' नामक दोष बताया है।

'कविप्रिया' में पहले पाँच प्रकार के सदोष कवित्त का वर्णन है। इनके नाम हैं: अन्ध, बधिर, पंगु, नग्न तथा मृतक।^१ कविमार्ग के विरोधी वर्णन को अन्ध कहा गया है।^२ इसे मम्मट का 'प्रसिद्धिविरुद्ध' कह सकते हैं।^३ शब्दविरोधी को 'बधिर' कहा गया है।^४ इसे भामह-दण्डी का 'शब्दहीन' समझना चाहिए। छन्दविरोधी को 'पंगु', अलंकार-विहीन को 'नग्न' तथा अर्थहीन को 'मृतक' कहा गया है।^५ प्रथम को 'भिन्नवृत्त' तथा 'यतिभ्रष्ट' के रूप में भामह-दण्डी ने तथा द्वितीय को 'निरलंकार' के रूप में भोज ने उल्लिखित किया है।^६ केशव के 'मृतक' का उदाहरण 'अपार्थ' के उदाहरण के समान है।^७ इस प्रकार उक्त दोषों में से कोई भी नवीन दोष नहीं है। केवल दोष-नाम में नवीनता है।

सदोष कवित्त के उक्त प्रकारों के निर्देश के पश्चात् केशव ने जिन तेरह दूषणों का वर्णन किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—अगण, हीनरस, यतिभंग, व्यर्थ, अपार्थ, हीनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देशविरोधी, कालविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी तथा आगम-विरोधी।^८

१. "एक होइ अनुकूल जहँ द्वजो है प्रतिकूल।

केसव दुःसन्धान रस सोभित तहाँ समूल॥"—वही, १६।८।

२. "जैसे जहाँ न बूझिये, तैसे करिये पुष्ट।

बिनु बिचार जो बरनिये सो रस पातरदुष्ट॥"—वही, १६।१०, पृ० ९३

३. 'अन्ध बधिर अरु पंगु तजि नग्न मृतक मति सुद्ध।' —कविप्रिया, ३।६, केशव-ग्रन्थावली, पृ० १०१

४. 'अन्धविरोधी पन्थ को।'—वही।

५. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २६५, पृ० २३९।

६. 'बधिर तिसबदविरुद्ध।'—कविप्रिया, ३।६, केशवग्रन्थावली, पृ० १०१

७. 'छन्दविरोधी पंगु गनि नग्न जु भूषन हीन।'—वही।

८. काव्यालंकार, ४।२४—२६ तथा सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३४।

९. तुल० कविप्रिया, ३।१३ तथा भामह-कृत काव्यालंकार, ४।८

१०. "अगन न कीजे हीनरस, अरु केसव जतिभंग।

व्यर्थ अपारथ हीनक्रम, कबिकुल तजहु प्रसंग॥

बर्न प्रयोग न कर्णकटु सुनहु सकल कविराज।

सबै अर्थ पुनरुक्ति के छाड़हु सिंगरे साज।

देसविरोध न बरनिये, कालविरोध निहारि।

लोकन्याय आगमन के, तजौ विरोध बिचारि॥"

—कविप्रिया, ३।१४-१६, केशव-ग्रन्थावली, पृ० १०३

ये सभी दोष संस्कृत के आलंकारिकों द्वारा निर्दिष्ट हैं। केशव ने इन्हें भामह के 'काव्यालंकार' या दण्डी के 'काव्यादर्श' में से लिया है। 'हीनक्रम' 'अपक्रम' के रूप में, 'पुनरुक्त' एकार्थ के रूप में, 'यतिभंग', 'यतिभ्रष्ट' के रूप में तथा 'कर्णकटु' 'श्रुतिकष्ट' के रूप में भामह-निरूपित है।^१ 'अगण' भी छन्दोदोष का एक भेद है। 'हीनरस' वहाँ माना गया है, जहाँ रस का वर्णन विरस हो जाय।^२ इसका उदाहरण वही है, जो 'रसिकप्रिया' में 'दुःसन्धान' का है।^३ शेष दोष यथावत् भामह-दण्डी के ग्रन्थों में प्राप्य हैं।^४ इस प्रकार इस सूची में भी कोई नवीन दोष नहीं है।

तोष

तोष के 'सुधानिधि' में उन्हीं पाँच रसदोषों का वर्णन है, जो केशव द्वारा रसिकप्रिया में निर्दिष्ट हैं^५ और 'शृंगारतिलक' से केशव द्वारा लिये गये हैं। इनके लक्षण भी केशव के उक्त दोषों के लक्षण से समता रखते हैं। केवल रस, मुख्यतः शृंगाररस, का विवेचन रहने के कारण 'सुधानिधि' में अन्य दोषों के निरूपण का अवकाश न था।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने अपने 'कविकुलकल्पतरु' के चतुर्थ प्रकरण में चौरानवे छन्दों में विस्तार से दोषों का प्रतिपादन किया है। किन्तु, उन्होंने दोष-निरूपण में केशव का अनुकरण नहीं करके 'काव्यप्रकाश' का आधार ग्रहण किया है। 'काव्यप्रकाश' के सोलह पद-दोषों में 'अविमृष्टविधेयांश' को छोड़कर बाकी पन्द्रह दोष चिन्तामणि ने प्रतिपादित किये हैं।^६ 'उपहत-विसर्ग', 'लुप्तविसर्ग', 'विसन्धि' तथा अस्थानस्थसमास के अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' के शेष वाक्यदोष भी चिन्तामणि ने वर्णित किये हैं। अन्तिम की सूची में गणना नहीं है, पर लक्षण-उदाहरण के प्रसंग में उल्लेख है।^७ 'काव्यप्रकाश' के 'अर्धान्तरैकवाचकत्व' की जगह 'चरान्तरपद' और उसके 'अनभिहितवाच्य' के स्थान पर 'अकथितवाच्य' चिन्तामणि ने अभिहित किया है।^८ चिन्तामणि के अर्थ-दोषों की सूची में 'काव्यप्रकाश' के 'दुष्क्रम',

१. काव्यालंकार, १।५३।
२. कविप्रिया, ३।३७, केशवग्रन्थावली, पृ० १०५।
३. तुल० कविप्रिया, ३।३८ और रसिकप्रिया १६।९।
४. काव्यालंकार, ४।१ तथा काव्यादर्श, ३।१२५।
५. सुधानिधि, पृ० १७८।
६. कविकुलकल्पतरु, ४।२-४।
७. वही, ४।२९-३२।
८. वही, ४।५९।
९. वही, ४।२-४।

‘विद्याविरुद्ध’, ‘विध्ययुक्त’ तथा ‘अनुवादायुक्त’ के अतिरिक्त शेष सभी अर्थ-दोष प्राप्य हैं।^१ सूची में अनुल्लिखित रहने पर भी अन्तिम दो के लक्षण-उदाहरण उल्लिखित हैं।^२ ‘काव्यप्रकाश’ के दस रस-दोषों में ‘अकाण्डप्रथम’, ‘अंगीभूत रस की पुनः-पुनः दीप्ति’ तथा ‘रस के अनुपकारक का वर्णन’ नामक तीन दोषों के अतिरिक्त शेष का प्रतिपादन चिन्तामणि द्वारा हुआ है।^३ चिन्तामणि की रस-दोष-सूची में तो ‘अकाण्डच्छेद’ की गणना नहीं है, पर बाद में उसका भी निरूपण है।^४ इस प्रकार ‘काव्यप्रकाश’ के सत्तर दोषों में से एकसठ दोषों का प्रतिपादन चिन्तामणि द्वारा हुआ है।

दोषों के लक्षण-निरूपण में मम्मट ने गद्य का सहारा लिया है और उन्हीं दोषों के लक्षण का संकेत किया है, जिनके नाम से उनका स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट नहीं होता। पर चिन्तामणि ने रसदोषों के अतिरिक्त शेष सभी दोषों का पद्यबद्ध लक्षण प्रस्तुत किया है। चिन्तामणि-कृत अनुचितार्थ, अवाचक, सन्दिग्ध, विरुद्धमतकृत तथा प्रकाशितविरुद्ध नामक दोषों के लक्षण असमर्थ और अस्पष्ट हैं।^५ किन्तु उनके इन दोषोदाहरणों से इनका मम्मट-सम्मत स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। चिन्तामणिकृत ‘च्युतसंस्कृति’ का भी लक्षण पर्याप्त स्पष्ट नहीं है।^६ ‘अस्थानस्थसमास’ के लक्षण में भी चिन्तामणि ने भ्रान्ति की है। अस्थानस्थ समास के उदाहरण पर मम्मट ने जो टिप्पणी दी है, उसे ही चिन्तामणि ने अपने उक्त दोष-लक्षण में अनूदित कर दिया है,^७ जिससे बात बेतुकी हो जाती है। ‘व्याहृत’ के मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण पर ही दृष्टि रखने के कारण चिन्तामणि ने इस दोष की सामान्यता सीमित कर दी है।

१. वही, ४।६९-७२।

२. वही, ४।७७, ८०।

३. वही, ४।८४-८६।

४. वही, ४।९०।

५. (क) ‘होइ अनुचित अरथ तहं उचित न बरनन होइ।’—वही, ४।१४।

(ख) ‘याहै वाचक पद न जो वहै अवाचक होइ।’—वही, ४।१६।

(ग) ‘जहाँ होतु संदेह है जो सन्दिग्ध बखानि।’—वही, ४।१९।

(घ) ‘सो विरुद्धमतकृत जहाँ जान्यो जाइ विरुद्ध।’—वही, ४।२७।

(ङ) “काहू को बरनन करत होइ विरुद्ध प्रकास।

ताको सोई कहत है जाको मन परगास॥”—वही, ४।७७।

६. ‘संस्कारच्युत होइ सो च्युतसंस्कृत मान।’—वही, ४।५।

७. तुल० ‘अत्र क्रुद्धस्योक्तौ समासो न कृतः कवेरुक्तौ तु कृतः।’

—काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २३८ की वृत्ति तथा—

“ज्यों पद अस्थानस्थ पद यों ही अस्थसमास।

जो न क्रुद्ध की उक्ति में कवि की उक्ति प्रकास॥”—कविकुलकल्पतरु, ४।५९।

पूर्वापरविरुद्ध कथन में यह दोष होता है। मम्मट के उदाहरण में चाँदनी को हेय कहकर पुनः उसे उपमान-रूप में कहनी इसी कथन-व्याघात का उदाहरण है। पर चिन्तामणि कहते हैं कि जहाँ अपने कथन की सुविधा न रहे और जिसे पहले हेय माना जाय, उसे बाद में उपमान बताया जाय, वहाँ व्याहतदोष होता है।^१ इस वाक्य के पूर्वांश में 'व्याहत' का क्षीण रूप संकेतित है, पर उत्तरांश तो मम्मट के उदाहरण पर आधृत एवं विशिष्ट स्थिति का सूचक है। चिन्तामणि-कृत 'अप्रयुक्त' का लक्षण मम्मट के इस दोष-लक्षण से भिन्न है और हिन्दी-भाषा को ध्यान में रखकर निरूपित है। आम्नात किन्तु कवि-आदृत नहीं रहनेवाले प्रयोगों को मम्मट ने 'अप्रयुक्त' कहा है।^२ चिन्तामणि ने ब्रजमण्डल की भाषा को परिपक्व एवं 'सुरबानी' मानते हुए अन्य भागों को भाषा को 'काची भाषा' कहा है, जिनके प्रयोग को वे 'अप्रयुक्त' का उदाहरण मानते हैं।^३ इन दोषों के अतिरिक्त चिन्तामणि के शेष दोष-लक्षण मम्मट-सम्मत हैं।

चिन्तामणि के उदाहरणों में कुछ तो मम्मट के उदाहरणों के अनुवाद या छाया-स्वरूप हैं, शेष स्वनिर्मित हैं। अधिकांश उदाहरण सही और संगत हैं। जहाँ भ्रान्ति है, उसी का उल्लेख किया जाता है। 'अकाण्डच्छेद' दोष अनवसर में रसभंग हो जाने पर माना गया है, पर चिन्तामणि के उदाहरण में भयानक रस के प्रसंग में शृंगार के वर्णन को प्रस्तुत किया गया है।^४

उपर्युक्त सोमाओं के रहते हुए भी चिन्तामणि का प्रयास प्रशंसनीय है, चूँकि केशव की तरह उन्होंने संस्कृत के प्राक्तन आचार्यों का अनुगमन नहीं किया, ऐसे आचार्यों को उप-जोष्य बनाया, जिसका दोष-विवेचन संस्कृत-काव्यशास्त्र में सर्वाधिक समृद्ध, व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है। परवर्ती आचार्यों में से अधिकांश ने चिन्तामणि द्वारा प्रवर्तित परम्परा का ही अनुगमन किया है, यह आगे दिखाया जायगा। यह भी चिन्तामणि के महत्त्व का प्रमाण है।

१. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २५७।

२. "सुधि न जहाँ निज कथन की सो व्याहतत ज्ञान।

जो निजित कहिये प्रथम सोई पुनि उपमान॥"—कविबुलकल्पतरु, ४।७५।

३. काव्यप्रकाश, पृ० १८३।

४. "जो नहिं प्रोगी सत कविन काची भाषा जान।

मथुरामण्डल ग्वारिम की परिपक्व बखान॥

मथुरा मण्डल ग्वारियन की सुरबानी कोइ।

जो न प्रयोगी सत कविन अप्रयुक्ति है सोइ॥"—वही, ४।६, ९।

५. "भली भई बहुत अली लागी घर में आगि।

मेरे कर की गागरी लीन्ही साजन भागि॥"—वही, ४।९०।

कुलपति

चिन्तामणि की तरह कुलपति ने भी अपने 'रस-रहस्य' के दोष-प्रतिपादन को 'काव्य-प्रकाश' के दोष-निरूपण पर ही आधृत रखा। उनके सभी दोष वहीं से गृहीत हैं। कुलपति ने मम्मट के सोलहों पद-दोषों को उपस्थित किया है।^१ मम्मट के 'च्युतसंस्कृति' दोष का नाम कुलपति ने 'संस्कारहत' रखा है।^२ भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कुलपति ने मम्मट-निर्दिष्ट तेरह पद-दोषों के वाक्यगत रूप के उदाहरण नहीं दिये।^३ 'काव्यप्रकाश' के इस्कोस दोषों में कुलपति ने उपहतलुप्तविसर्ग, विसन्धि, अर्थान्तरैकवाचकत्व, अनभिहित-वाच्यत्व, अस्थानस्थसमास, संकीर्ण, गमित तथा अमतपरार्थ नामक दोषों को छोड़कर शेष का प्रतिपादन किया है।^४ उनके अर्थ-दोषों की सूची में 'अपदयुक्त' तथा 'त्यक्तपुनःस्वीकृत' के अतिरिक्त मम्मट के सारे अर्थदोष परिगणित हैं।^५ बाद में इन दोनों को भी कुलपति ने लक्षित और उदाहृत कर दिया है।^६ 'काव्यप्रकाश' के सारे रसदोषों को कुलपति ने प्रस्तुत किया है,^७ पर 'अनंगामिधान' का अर्थ गलत समझ लिया है। वे उसे 'काम को नाम' रूप में अभिहित करते हैं।^८

कुलपति के अधिकांश दोष-लक्षण मम्मट के लक्षणों का ही अनुसरण करते हैं। उन्होंने पद्यात्मक लक्षण की गद्यात्मक व्याख्या द्वारा अपने लक्षणों को अधिक स्पष्टता देने की चेष्टा की है,^९ फिर भी कुछ स्थलों पर उन्हें भ्रान्ति हुई है। 'अनंगामिधान' का ऊपर उल्लेख हो चुका है। 'अपदयुक्त' को कुलपति ने 'पदयुक्त' के रूप में रखकर उलटा रूप दे रखा है। इसका लक्षण भी विचित्र है। जहाँ पद को स्थान छोड़कर पूर्ण किया जाय, वहाँ उन्होंने यह दोष माना है।^{१०} मम्मट का यह दोष वहाँ होता है, जहाँ विवक्षित अर्थ को

१. रसरहस्य, पंचम वृत्तान्त, ४-६, पृ० ४१।

२. 'संस्कारहत जानि।'—वही, ५।४, पृ० ४१।

३. संस्कारहत, असमर्थ, निरर्थक—इनको छोड़कर ये दोष वाक्यों में भी होते हैं। परन्तु यहाँ पर भाषा में वाक्य 'समास के भेद' से कुछ अधिक प्रयोजन नहीं है। इस कारण उदाहरण अलग नहीं दिये।

—वही, पृ० ४८

४. वही, ५।७-८, पृ० ४१।

५. वही, ५-९-१२।

६. वही, पृ० ५६ तथा ६०।

७. वही, ५।१३-१६, पृ० ४२।

८. 'काम को नाम यथा...।'—वही, पृ० ६६।

९. वही, पृ० ४२-६६।

१०. "पूरण कीजे ठौर तजि सो पदयुक्त कहाय"—वही, पृ० ५६।

समाप्ति के बाद ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जो प्रकृत अर्थ का विरोधी अर्थ है।^१ 'संस्कारहत' का लक्षण कुलपति ने इस प्रकार दिया है—'जो बोलने में विरुद्ध हो, वह संस्कार-हत है।'^२ इस 'बोलने की विरुद्धता' का अभिप्राय उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है। 'प्रति-कूलवर्ण', के लक्षण में रस की प्रतिकूलता की जगह गुण की प्रतिकूलता का उल्लेख उन्होंने किया है।^३ 'हतवृत्त' के एक अतिरिक्त भेद 'मात्रा-हतवृत्त' का उल्लेख^४ यह बताता है कि दोष-निरूपण के समय कुलपति की दृष्टि अपनी भाषा पर भी थी। कुलपति के उदाहरण प्रायः शुद्ध और हिन्दी के अनुरूप हैं। 'कलेश' को 'जल-लेश' का अर्थ दे सकने में असमर्थ बताना^५ तथा 'नियार्थ' के लिए मम्मट के 'चपेटापातन' उदाहरण की तुलना में 'चन्दकमीना कीन' उदाहरण देना^६ कुलपति की उत्कृष्ट सूझ का परिचायक है। उन्होंने अपने दोषों के साथ उदाहरणों की गद्य में संगति तो दिखाई ही है, अधिकांश स्थलों पर पद-परिवर्तन द्वारा दोष-मार्जन का उल्लेख भी किया है।^७ मम्मट ने 'सनियमपरिवृत्तत्व' के उदाहरण की वृत्ति में पद-परिवर्तन से दोष-मार्जन का संकेत किया था।^८ पर वहाँ मम्मट की अपनी सूझ नहीं थी, कुन्तक की बात दुहराई गई थी।^९

पदुमनदास

पदुमनदास ने अपने दोष-प्रतिपादन का आधार न तो केशवदास की तरह दण्डी-रुद्रभट्ट को बनाया और न चिन्तामणि-कुलपति की तरह मम्मट को। उनका उपजीव्य केशवमिश्र-कृत 'अलंकार-शेखर' है। उनकी 'काव्य-मंजरी' के अष्टम तिलक में वे ही आठ पद-दोष, बारह 'वचन-दोष' (वाक्य-दोष) और आठ अर्थ-दोष प्रतिपादित हुए हैं, जो अलंकार-शेखर में निरूपित हैं।^{१०} अपने दोष-लक्षणों को कहीं तो पदुमनदास ने केशवमिश्र से ज्यादा स्पष्ट कर दिया है और कहीं उनके आशय को नहीं समझने के कारण भ्रान्त लक्षण दे दिया है। 'सन्दिग्ध' के लक्षण में केशवमिश्र ने 'सन्देहजनक' शब्द-मात्र का प्रयोग

१. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या २७८।
२. 'बोलत साँझ विरुद्ध जो संस्कारहत सोय।'—रसरहस्य, पृ० ४३।
३. 'गुन विरुद्ध वर्णन जहाँ सुहै वर्णप्रतिकूल।'—वही, पृ० ४९।
४. वही, पृ० ४८।
५. 'द्विर रहै सरितान हैं पावै कहा कलेश।'—वही, पृ० ४३।
६. 'बदन-कमल तेरे अली, चन्दकमीना कीन।'—वही, पृ० ४६।
७. वही, पृ० ४६ पर क्लिष्ट तथा ग्राम्य की वृत्ति।
८. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २७३ की व्याख्या।
९. वक्रोक्तिजीवित, उदाहरण-संख्या २९ की व्याख्या, पृ० ४३।
१०. तुल० काव्यमंजरी, पृ० ८५-९८ की अलंकारशेखर, पृ० १५-१६ से।

किया। पदुमनदास ने इसका विस्तृत लक्षण किया—‘एक शब्द के जहाँ दो अर्थ हों और इस कारण प्रकृत अर्थ समझने में संशय हो तो सन्दिग्ध दोष होता है।’ ‘असाधु’ के लक्षण को केशवमिश्र के उदाहरण पर ध्यान रखने के कारण उन्होंने संकीर्ण बना दिया है। वे परस्मैपद की जगह आत्मनेपद के प्रयोग को ‘असाधु’ कहते हैं।^१ इसे ‘सुरभाषा’ में ही समझना भी उनकी भ्रान्त धारणा है, चूँकि किसी भी भाषा में व्याकरण-विरुद्ध पद का प्रयोग ‘असाधु’ है। ‘अवाचक’ का बिल्कुल स्वतन्त्र लक्षण उन्होंने दिया है। वे नहीं कहने योग्य शब्दों को ‘अवाचक’ मानते हैं और इसका ‘अश्लील’ में अन्तर्भाव दिखाते हैं।^२ केशवमिश्र ने प्रकृत अर्थ को व्यक्त करने में अशक्त प्रयोग को ‘अवाचक’ माना।^३ इसकी वृत्ति के बाद ही उन्होंने ‘अश्लील’ में ‘ग्राम्य’ का अन्तर्भाव दिखाया।^४ इसे ही मूल से पदुमनदास ने ‘अवाचक’ का ‘अश्लील’ में अन्तर्भाव समझ वैसा लिख दिया। उन्होंने ‘अविमृष्ट-विधेयांश’ का न तो लक्षण दिया और न उदाहरण। ‘क्रमहीन’, ‘यतिहीन’, ‘छन्दहीन’ तथा ‘समुदायार्थ-हीन’ के उदाहरण मात्र दिये गये हैं।^५ पदुमनदास ने ‘सन्धिहीनता’ में ही ‘विसन्धि’ दोष माना है^६ जबकि केशवमिश्र ने इसके दो प्रकार बताये हैं।^७ अर्थ-दोषों में ‘व्याहत’ का लक्षण पदुमनदास ने गलत रखा है। वे स्तुतिवर्णन से निन्दा व्यक्त होने में यह दोष मानते हैं^८ जबकि केशवमिश्र ने कही हुई बात के विरुद्ध कथन में यह दोष माना है।^९ पदुमनदास के अधिकांश उदाहरण केशवमिश्र के उदाहरण के अनुवाद या छाया-स्वरूप हैं। इस प्रकार पदुमनदास का दोष-प्रतिपादन केशवमिश्र के दोष-प्रतिपादन की अपूर्ण, अस्पष्ट एवं भ्रान्त उद्धरणी है।

देव

देव ने अपने ‘शब्दरसायन’ के पंचम प्रकाश में जिन रसदोषों का उल्लेख किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं : सरस, नीरस, सन्मुख, विमुख, स्वनिष्ठ, परनिष्ठ, मित्र, अमित्र

१. काव्यमंजरी, पृ० ९०।

२. ‘कथा परस्मैपद विदित देइ आत्मने आनि।’—वही, पृ० ९०।

३. “ते असाधु अनुमानिये सुरभाषा में जानि।”—वही, पृ० ९०।

४. “कहनु योग्य जो शब्द नहिं ताहि अवाचक जान। अन्तर्गत अश्लील से।”

—वही, पृ० ८०

५. अलंकारशेखर, पृ० १५।

६. वही।

७. काव्यमंजरी, पृ० ९३।

८. वही, पृ० ९१।

९. अलंकारशेखर, पृ० १६।

१०. काव्यमंजरी, ८।३९।

११. अलंकारशेखर।

तथा उदास।^१ ये सभी रसदोष न होकर रस-प्रकार हैं, जिनमें कुछ दुष्ट रस के भी प्रकार समाविष्ट हैं। सरस, 'स्वनिष्ठ-सम्मुख' तथा 'मित्र' को दोष नहीं मानना चाहिए। देव ने 'नीरस' के देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, सन्धान, रस तथा भाव के विरोध-रूपी आठ प्रकार बताये हैं।^२ इनके न तो लक्षण हैं और न पर्याप्त उदाहरण। अतः इनके स्वरूप की सही धारणा नहीं हो पाती। नायक द्वारा नायिका के जीवन की उपेक्षा में देव ने 'नीरस' दोष माना है।^३ नायिका के प्रति उदासीन रहने को 'उदासरस' कहा है।^४ 'विमुख रस' के उदाहरण में नायिका कृष्ण-प्रेम में इतनी मग्न है कि लोकविमुख हो गई है।^५ 'परनिष्ठ' के उदाहरण में नायक परकीया-निष्ठ बताया गया है।^६ 'नीरस' के देशकालादि विरोधी नामक भेदों में प्रेम-व्यापार के देशकाल-विधि-सम्बन्धी अनौचित्य का ग्रहण है।^७ देव के उपर्युक्त दोषों में दोष को शृंगारनिष्ठ ही रखा गया है।

सूरतिमिश्र

सूरतिमिश्र के 'काव्यसिद्धान्त' में त्रिविध अश्लील, श्रुतिकटु, दुस्सन्धान, हीनरस, ग्राम्य, पंगु, मृतक, सन्दिग्ध, क्लिष्ट, पुनरुक्त, निरर्थक, अधिकपद, न्यूनपद, क्रमहीन, यतिभंग, असमर्थ तथा विरोधी नामक दोषों का प्रतिपादन है।^८ इनमें से अधिकांश केशवदास से लिये गये हैं,^९ शेष दोष भी संस्कृत आलंकारिकों द्वारा निरूपित हैं। अतः एक भी नवीन दोष यहाँ प्रतिपादित नहीं है।

कुमारमणि

कुमारमणि के 'रसिक-रसाल' में कोई नवीन दोष निरूपित नहीं है, सभी 'काव्य-

१. "अथ रसदोष-सरस-निरस, सम्मुख-विमुख, स्वपरनिष्ठ पहिचानि।
मीत अमीत उदास चित्त, उचित सुचित बहानि॥
कहुँ स्वनिष्ठ परनिष्ठ कहुँ, कहुँ सत्रु कहुँ मित्र।
कहुँ उदास, सम्मुख विमुख, रचहुँ बिचार विचित्र॥"—शब्द-रसायन, पृ० ५०।
२. "देसकाल अरु बर्न विधि यात्रा अरु सन्धानि।
अरु रस-भाव विरुद्ध ये आठ निरस पहिचानि॥"—वही, पृ० ५१।
३. वही, पृ० ५०।
४. वही, पृ० ५१।
५. वही, पृ० ५२।
६. वही, पृ० ५३।
७. वही, पृ० ५१।
८. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास : डॉ० भगीरथ मिश्र, पृ० ११४।
९. देखिए, इसी अध्याय का केशवदास-प्रकरण।

प्रकाश' से गृहीत हैं। फिर भी इस दोष-प्रतिपादन का महत्त्व इस दृष्टि से है कि 'काव्यप्रकाश' के सभी दोषों का स्पष्ट प्रतिपादन करनेवाला हिन्दी में यह प्रथम ग्रन्थ है। मम्मट के सभी पदगत, वाक्यगत, अर्थगत एवं रसदोषों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।^१ तेरह पदगत दोषों के वाक्यगत रूप भी प्रतिपादित हैं।^२ कुमारमणि के दोष-लक्षणों में मम्मट के लक्षणों से ज्यादा विस्तार एवं स्पष्टता है। 'पतत्प्रकर्ष' के सम्बन्ध में कुमारमणि का कहना है कि यह अनुप्रास-कृत या बन्धकृत हो सकता है।^३ इसका मम्मट ने उल्लेख नहीं किया है। 'उपहतलुप्तविसर्ग', व्रीडा, घृणा एवं अमंगल-व्यञ्जक 'विसन्धि', 'अस्थानस्थ समास' तथा 'च्युत-संस्कार' को कुमारमणि ने संस्कृत का ही दोष माना है,^४ हिन्दी का नहीं। अन्तिम को संस्कृत का ही दोष मानना भ्रान्त है। कुमारमणि ने कुछ समान प्रतीत होनेवाले दोषों का आपसी भेद भी स्पष्ट किया है, जैसे 'अनभिहितवाच्य' और 'न्यूनपद' का।^५ कुमारमणि के उदाहरण लक्षणों के साथ संगति रखते हैं। उन्होंने दूसरे कवियों की रचनाओं को भी दोष के उदाहरण में रखा है।^६ हिन्दी में यह प्रथम प्रयास था। इन दृष्टियों से कुमारमणि का दोष-प्रतिपादन हिन्दी-काव्यशास्त्र में विशिष्ट है।

श्रीपति

अपने 'काव्य-सरोज' में श्रीपति ने जिन शब्दगत एवं अर्थगत दोषों का प्रतिपादन किया है, वे इस प्रकार हैं:—

शब्ददोष—श्रुतिकटु, अनर्थक, व्याहृतार्थ, यतिभंग, अप्रयुक्त, असमर्थ, शिथिल, ग्राम्य, असंगत, भाषाच्युत, अश्लील एवं प्रतिकूल।^१

अर्थदोष—दुष्क्रम, खण्डित, असम्मितमान, वस्तुसंविधि, सन्दिग्ध, दुष्टवाक्य, अपक्रम, अगत, विरस, पुनरुक्ति, हीनोपमा और अधिकोपमा।^२

श्रीपति के उपर्युक्त दोषों में से अधिकांश 'काव्यप्रकाश' से गृहीत हैं। 'भाषाच्युत' 'च्युतसंस्कृति' का दूसरा नाम है। भाषा-मिश्रण के कई प्रकारों को इसका भेद माना गया

१. रसिक-रसाल, १०१५—७, ४१-४४, ६२-६४, १०२-१०४।

२. वही, १०१२९-४०।

३. वही, १०१४६।

४. वही, पृ० २२६, २४१, २४५।

५. वही, पृ० २४४।

६. वही, पृ० २३० पर केशव की रचना, पृ० २४१ पर मुरलीधर की तथा पृ० २३८ पर सविता की।

७. डॉ० भगीरथ मिश्र-कृत 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० १२१।

८. वही, पृ० १२२।

है।^१ 'शिथिल' और 'असंगत' जयदेव से लिये गये हैं।^२ 'विरस', 'हीनोपमा' और 'अधि-कोपमा' भोज से गृहीत हैं।^३ श्रीपति ने केशव, सेनापति तथा ब्रह्म जैसे कवियों की रचनाओं को दोषोदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।^४ इस दृष्टि से वे कुमारमणि के प्रयत्न को आगे बढ़ानेवाले हैं।

सोमनाथ

श्रीपति की तरह ही सोमनाथ का दोष-प्रतिपादन भी संक्षिप्त है। उनके असमर्थ, कर्णकटु, अप्रयुक्त, अश्लील तथा सन्दिग्ध नामक पाँच शब्ददोष, न्यूनः और हतवृत्त नामक दो वाक्य-दोष, सहचरभिन्न, चाहयुत (साकांक्ष), व्याहत, निर्हेतु, दुष्क्रम, पुनरुक्त, अनवीकृत, सामान्य में विशेष, विशेष में सामान्य, प्रसिद्धि-विरुद्ध और विद्या-विरुद्ध नामक ग्यारह अर्थदोष तथा प्रकृति-विपर्यय नामक रसदोष 'काव्यप्रकाश' से लिये गये हैं।^५ कुलपति की तरह सोमनाथ 'हतवृत्त' का एक भेद 'मात्राहत' भी रखते हैं। उनके उदाहरण अधिकांशतः शुद्ध, संगत तथा हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप हैं। जिन उदाहरणों में सोमनाथ ने भ्रान्ति सूचित की है, उनके नाम हैं: कर्णकटु, चाहयुत और दुष्क्रम। प्रथम के उदाहरण में नायिका के अनुचित वचन को प्रस्तुत किया गया है,^६ और द्वितीय में उपमानलुप्ता को।^७ तृतीय में लोकव्यवहार का नितान्त विपरीत क्रम प्रदर्शित नहीं है।^८

भिखारीदास

अपने 'काव्य-निर्णय' के तेईसवें, चौबीसवें और पच्चीसवें उल्लासों में दास ने दोषों का सविस्तर प्रतिपादन किया है। उनके प्रतिपादन का आधार 'काव्यप्रकाश' का दोष-निरूपण है। उसी के सोलह पददोष, उपहतलुप्तविसर्ग, अस्थानस्थसमास और अक्रम को

१. डा० भगीरथ मिश्र-कृत हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १२२।

२. चन्द्रालोक, पृ० १५-१६।

३. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३४।

४. काव्यसरोज, चतुर्थ दल।

५. तुल० रसपीयूषनिधि, बीसवीं तरंग और 'काव्यप्रकाश' सप्तम उल्लास।

६. "इहाँ नाइका को वयन ऐसो नायक को न चाहिए।"—रसपीयूषनिधि, २०।९।

७. "कोमल ललित बैन ऐन मैन-कोकिल से,
सुनिवे को शौननि की सुरति जगी रहति ॥"—वही।

८. "बात यही उर आनि ये हौ पिय जौ रिझवार।
राजति छिन भरि नाहि तो सब निसि रचौ विहार ॥"

—वही, पृ० २०।२९

छोड़कर शेष सत्रह वाक्य-दोष, 'विद्याविरुद्ध' के अतिरिक्त शेष बाईस अर्थदोष तथा 'अनंगा-भिधान' को छोड़कर शेष नौ रस-दोष 'काव्यनिर्णय' में प्रतिपादित हैं।^१ 'चन्द्रालोक' की शैली का अनुकरण करते हुए दास ने एक ही दोहे में एक दोष के लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।^२ दास के अधिकांश दोष-लक्षण मम्मट-सम्मत हैं। कहीं-कहीं अन्तर भी है। मम्मट ने शास्त्रमात्र-प्रयुक्त को 'अप्रतीत' कहा है।^३ दास एकत्र प्रयुक्त शब्द को अन्यत्र प्रयुक्त करने में यह दोष मानते हैं।^४ 'कृष्ण के लिए' 'कारे' का प्रयोग एकदेशीय है। उसके सर्वथा प्रयोग को दास अप्रतीत मानते हैं।^५ 'हतवृत्त' के रसाननुगुणभेद की चर्चा दास ने नहीं की है और 'अमिलपद' नामक एक नया भेद जोड़ दिया है।^६ 'प्रक्रमभेद' के उन्होंने तीन भेद किये हैं—१. विधि-समेत बात नहीं कहना; २. यथासंख्य जहाँ नहीं मिले और ३. एकसम बँन का न होना।^७ उपमादि अलंकारों की सत्ता नहीं रहने पर ही दास रस की पुनः-पुनः दीप्ति को दोष मानते हैं।^८ मम्मट ने इसका कथन नहीं किया है।

दास के कई दोषोदाहरण 'काव्यप्रकाश' तथा 'चन्द्रालोक' के पद्यों पर आधारित हैं,^९ किन्तु स्वनिर्मित उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं, जिनमें अधिकांश शुद्ध हैं। कहीं-कहीं उदाहरण सही नहीं हो सके हैं। उदाहरणार्थ, दास-रचित रस की पुनः-पुनः दीप्ति का उदाहरण उपयुक्त नहीं है। आभूषणों से वेष्टित नायिका का नख-शिख उनके उदाहरण में वर्णित है।^{१०}

१. काव्यनिर्णय, पृ० २१८ से २५० तक।

२. वही।

३. 'अप्रतीतं यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम्।'—काव्यप्रकाश, पृ० १८७।

४. "एकहि ठौर जो कहूँ सुन्यो अप्रतीत सो गाउ ।

रे सठ कारे चोर के चरनन सों चित लाउ ॥"—काव्य-निर्णय, पृ० २३।१९।

५. 'कारे चोर श्रीकृष्ण को कालिदास ही की काव्य मो सुन्यो है, अन्त नाही सोह शृंगार ही में।' —वही, २३।१९।

६. 'यहाँ कहत हतवृत्त जहँ नहीं सुमिल पदरीति।' —वही, २३।३३।

७. (क) 'सोहै प्रकरम भंग जहँ विधि समेत नहिं बात।' —वही, २३।५३।

(ख) 'जथासंख्य जहँ नहिं मिलै सोऊ प्रकरम भंग।' —वही, २३।५४।

(ग) 'सोऊ प्रकरम भंग जहँ नहीं एकसम बँन।' —वही, २३।५५।

८. 'पुनि पुनि दीपति ही कहै उपमादिक कछु नाहि।' —वही, २५।२०।

९. तुल०, काव्यनिर्णय, २३।६२, २३।४८ की क्रमशः काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २६० तथा २३९ से तथा काव्यनिर्णय, २३।६० तथा २३।६४ की क्रमशः 'चन्द्रालोक' २।३१ तथा २।३४ से।

१०. काव्यनिर्णय, २५।२१।

मंछाराम

मंछाराम के 'रघुनाथ रूपक गीतारो' में डिगल-मान्य दोषों का वर्णन है। दग्धाक्षर आदि छन्द-दोषों का विस्तृत निरूपण तो वहाँ है ही,^१ अन्ध आदि अन्य दोष, जो 'वयण-सगाई' से भी भिन्न नहीं पाते, मंछ द्वारा वर्णित हैं। ये दोष दस हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—अन्ध, छवकाल, हीण, निनंग, पांगलो, जातिविरुद्ध, अपस, नालछेद, पखतूट और बहरो।^२ इनमें से अधिकांश दोष-नाम शारीरिक विकृतियों के सूचक हैं। इनके लक्षण-उदाहरण भी मंछ ने प्रस्तुत किये हैं। जहाँ परामुख-सन्मुख आदि उक्तियों का रस बिगड़ जाय, वहाँ 'अन्ध' दोष होता है।^३ सामने उपस्थित किसी पात्र के सम्मुख कहीं गई जैसी प्रतीत होनेवाली उचित सन्मुख मानी गई है, जिसके विपरीत परामुख है। एक ही कविता का एक द्वाला परामुख हो और दूसरा सन्मुख और फिर तीसरा सन्मुख हो, तो इसे 'अन्ध' का उदाहरण माना गया है।^४ डिगलातिरिक्त भाषा के डिगल में प्रयोग को 'छवकाल' कहा गया है।^५ 'छवकाल' का अर्थ है छपकावाला, यानी दागवाला। 'हीण' दोष वहाँ होता है, जहाँ वर्णनीय के माता-पिता, जाति और मतलब पूर्णतः स्पष्ट न हों।^६ मंछ के उदाहरण में राम की स्तुति से यह स्पष्ट नहीं होता कि वे दशरथसुत राम हैं या परशुराम, चूँकि राम के माता-पिता का उल्लेख नहीं है।^७ क्रम-भंग होने पर 'निनंग' दोष माना गया है।^८ जहाँ छन्द में नियमविरुद्ध मात्रा और वर्ण हों, वहाँ 'पांगला' दोष होता है।^९ 'पांगला' 'पंगु' का तद्भव रूप है। 'जातिविरुद्ध' भी छन्दो दोष ही है, जो विरुद्ध जातियों के द्वालों को मिश्रित करके रखने पर होता है।^{१०} मंछ के उदाहरण में^{११} प्रथम द्वाला बेलिया गीत का, द्वितीय खुडद सेणेर का, तृतीय सोहण का और चतुर्थ जाँगड़े गीत का है। इसमें जाँगड़े गीत का द्वाला आने से 'जातिविरुद्ध' दोष हुआ है। 'अपस' शब्द 'अपस्मार' (मृगी) का तद्भव-रूप है।

१. रघुनाथ रूपक गीतारो, पृ० ७-१२।
२. वही, पृ० १४।
३. 'रुलै उकतरो रूप अन्ध सो नाम उचारै।' —वही, पृ० १४।
४. वही, पृ० १६।
५. 'कहे बले छवकाल विरुध भाषा विस्तारै।' —वही, पृ० १४।
६. 'हीण दोष सो हुंवे जात पित मुदो न जाहर।' —वही, पृ० १४।
७. वही, पृ० २०।
८. 'निनंग जेणने निरख, विकल वरणन बिन डाहर।' —वही, पृ० १४।
९. 'पांगलो छन्द भाषै प्रगट बढ घट कला बषाण जै।' —वही, पृ० १४।
१०. 'बिच अवर-अवर द्वालो वणै जात विरुध जो जाणजै।' —वही, पृ० १४।
११. वही, पृ० २३-२४।

यह दोष वहाँ माना गया है, जहाँ निरर्थक शब्द-योजना हो और अर्थ साफ-साफ नहीं झलकता हो।^१ मंछ के उदाहरण में 'विष्णु' के लिए 'नदियों के स्वामी की पुत्री का पति' का प्रयोग^२ ऐसा ही है। जिस गीत में 'जथाओं' (यथाओं) का पूर्णतया निर्वाह नहीं होता, वहाँ 'नालछेद' दोष होता है।^३ मंछ के उदाहरण^४ में पहले ईश्वर-भजन वर्णित है, फिर परनारी-प्रेम भी उसी में वर्णित है। जिस गीत में वन्दिश कहीं अनुप्रास-सहित हो, तो कहीं साधारण, वहाँ 'पखतूट' दोष होता है।^५ मंछ के उदाहरण में^६ प्रथम दो बाले 'कच्ची जोड़' (अनुप्रास-रहित) के हैं और अगले 'पक्की जोड़' (अनुप्रास-सहित) के। जहाँ अच्छे वाक्य भी किसी शब्द को उलटकर रखने से अशुभ हो जाते हैं, वहाँ 'बहरो' दोष होता है।^७ मंछ के उदाहरण^८ के 'बीरभागो नहीं साखागा' और 'पराजै हुई नह फतह पाई' वाक्यों में क्रमशः 'नहीं' और 'नह' दोनों ओर लगते हैं।

उपर्युक्त दस दोषों में से कुछ नामतः केशवदास द्वारा उल्लिखित हैं; जैसे 'अन्ध', 'बहरो' (केशव का 'बधिर') तथा 'पांगलो' (केशव का 'पंगु')।^९ इनमें से 'पंगु' का लक्षण केशव से मिलता है।^{१०} शेष दोनों के लक्षण केशव के लक्षण से भिन्न हैं। 'बहरो' को संस्कृत-काव्यशास्त्र का 'सन्दिग्ध' कह सकते हैं।^{११} 'अन्ध' को 'भग्नप्रक्रम' का प्रकारान्तर मान सकते हैं। 'पांगलो' और 'जातिविरुद्ध' भामहादि के 'भिन्नवृत्त' में अन्तर्भुक्त माने जा सकते हैं।^{१२} 'पखतूट' को मम्मट का 'पतत्प्रकर्ष' कह सकते हैं। 'छवकाल' श्रीपति का 'म।षाच्युत' है। भामह ने 'छन्दोवत्' और 'छान्दस प्रयोगों की वर्ज्यता संकेतित की है।^{१३} अतः उक्त दोषों की मूल विचारधारा से संस्कृत-काव्यशास्त्र अपरिचित नहीं। 'अपस' दोष

१. 'अपस अमूम्यो अरथ सबद पिण विण हित साजै।'—वही, पृ० १४।

२. वही, पृ० २५-२६।

३. 'नालछेदजिणनाम जया हीणो गुण जाझैं।'—वही, पृ० १४।

४. वही, पृ० २७।

५. 'तबैं दोष पखतूट जोड़ पतली अरु जालन।'—वही, पृ० १४।

६. वही, पृ० २८-२९।

७. 'बहरो सो शुभ वयण मुडै अण शुभ ह्वै मालम।'—वही, पृ० १४।

८. वही, पृ० ३१।

९. कविप्रिया, ३।६-७।

१०. तुल०, रघुनाथ रूपक गीतारो, पृ० ७-१२ और पृ० १४ की कविप्रिया, ६।६-७ से।

११. तुल०, रघुनाथ रूपक गीतारो, पृ० १४ और काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या १५४।

१२. तुल०, रघुनाथ रूपक गीतारो, पृ० १४ और काव्यप्रकाश की उदाहरण-संख्या २२४।

१३. भामह-कृत काव्यालंकार, ७।२७।

मम्मट का 'क्लिष्ट' है। 'नालछेद' भी 'भग्नप्रक्रम' का ही एक प्रकार है। 'हीण' को 'सन्दिग्ध' में गतार्थ माना जा सकता है। 'निर्ग' का अक्रम से साम्य है। इस प्रकार नामतः मंछ के दोष नवीन होकर भी स्वरूपतः पुराने हैं।

जनराज

जनराजकृत 'कवितारसविनोद' के 'अष्टम विनोद' में मम्मट-मान्य सोलह पद-दोष, तीस अर्थदोष तथा दस रसदोष के अतिरिक्त 'विभाव अनुभाव अकेलो' तथा 'रसविरुद्ध' नामक दो रसदोष वर्णित हैं।^१ वाक्यदोष वहाँ चौदह हैं।^२ ये सभी मम्मट-मान्य हैं। वाक्यदोषों की इतनी कम संख्या का कारण जनराज द्वारा कुलपति का अनुगमन प्रतीत होता है; क्योंकि उनके चौदह दोषों में बारह वे ही हैं, जो कुलपति-वर्णित हैं। 'विभाव-अनुभाव अकेलो' नामक दोष का लक्षण तो जनराज ने नहीं दिया है, पर उसके उदाहरण से लगता है कि केवल विभाव या केवल अनुभाव-वर्णन को जनराज ने यह दोष माना है।^३ यह मान्यता संगत नहीं है। कारण, रसात्मक काव्य ही नहीं, भाव-ध्वनि काव्य को भी तो काव्य माना गया है। उसे दुष्ट काव्य क्यों मानें ?

जनराज के अधिकांश दोष-लक्षण प्रधानतया कुलपति के दोष-लक्षणों का अनुगमन करते हैं। जहाँ कुलपति ने 'काव्यप्रकाश' से अन्तर प्रदर्शित किया है, वहाँ जनराज भी वैसा ही अन्तर रखते हैं। उदाहरणार्थ, 'प्रकाशित विरुद्ध' का लक्षण देखा जा सकता है।^४ किन्तु, कहीं-कहीं कुलपति के लक्षण से भिन्न लक्षण भी जनराज ने दिया है। कुलपति अपने 'संस्कारहत' के लक्षण 'बोलत माँझ विरुद्ध' का अभिप्राय भाषा-सम्बन्धी अशुद्धि लेते हैं, यह उनके लक्षण से तो नहीं, पर उदाहरण से स्पष्ट है।^५ जनराज इस उदाहरण पर ध्यान न रखकर 'बोलत माँझ विरुद्ध' का अर्थ व्याहतत्व लेते हैं।^६ जनराज के उदाहरण खूब संगत और स्पष्ट नहीं हैं। उनमें कुलपति अथवा चिन्तामणि जैसी स्पष्टता नहीं है।

१. तुल० रघुनाथ रूपक गीतारो, पृ० १४ की काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या १५८ से।
२. वही, ७२४, काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या १५४ से।
३. तुल० रघुनाथ रूपक गीतारो, पृ० १४ की काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २५२ से।
४. कवितारसविनोद, पत्र-संख्या १०४, पृ० १-२ तथा पत्र १०५, पृ० १।
५. वही, पत्र-संख्या १०४।
६. वही, अष्टमविनोद, छन्द-संख्या १३५।
७. तुल० वही, छन्द-संख्या १२० तथा रस-रहस्य, पृ० ५९ पर उक्त दोष की टीका से।
८. रसरहस्य, ५।१९।
९. कविता-रस-विनोद, ८।२८।

जगत्सिंह

जगत्सिंह ने अपने 'साहित्यसुधानिधि' नामक ग्रन्थ में एक सौ एक दोषों का प्रतिपादन किया है। इस विस्तृतदोष-प्रतिपादन का कारण यह है कि उन्होंने किसी एक आचार्य के ग्रन्थ को अपना आधार नहीं बनाया। उन्होंने 'चन्द्रालोक' का तो मुख्यतः आधार ग्रहण किया ही है, 'काव्यप्रकाश' के दोष-प्रतिपादन का भी कहीं-कहीं उपयोग किया है। 'काव्यप्रकाश' के जो दोष 'चन्द्रालोक' में वर्णित नहीं हैं, उन्हें भी जगत्सिंह ने स्थान दिया है। संस्कृत के इन ग्रन्थों के अतिरिक्त केशव की 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया', चिन्तामणि के 'कविकुलकल्पतरु', दास के 'काव्यनिर्णय' तथा श्रीपति के 'काव्य-सरोज' से भी उन्होंने सामग्री ली है। नीचे के विवरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

जगत्सिंह ने १८ शब्ददोष, २६ वाक्यदोष, ४१ अर्थदोष और १६ रसदोष प्रतिपादित किये हैं।^१ उनके शब्ददोषों में सोलह 'काव्यप्रकाश' के पददोष हैं,^२ एक 'चन्द्रालोक' का 'शिथिल' है^३ और एक नया 'असुन्दर' है।^४ परन्तु यह उनकी मौलिक सृष्टि नहीं है। 'चन्द्रालोक' में 'अवाचक' के प्रकारान्तर का जो उदाहरण है, वही उनके 'असुन्दर' का भी है।^५ इस दोष के नामकरण की प्रेरणा जगत्सिंह को 'चन्द्रालोक' के उक्त स्थल की रमा-टीका से मिली है।^६

जगत्सिंह के २६ वाक्यदोषों में बीस मम्मट-मान्य वाक्यदोष हैं।^७ मम्मट के 'उप-हृतविसर्गत्व' को जगत्सिंह ने विसर्गलोप में समाविष्ट कर दिया है।^८ 'चन्द्रालोक' से 'अन्य-संगति' तथा 'कुसन्धि' नामक दो दोष लिये गये हैं।^९ 'तुकभेद' नामक एक स्वतन्त्र दोष जगत्सिंह ने माना है,^{१०} जिसे वे 'हृतभूत' के अन्तर्गत रख सकते थे। उन्होंने 'अनभिहितवाच्य'

१. साहित्यसुधानिधि, पत्र ४५—६२।

२. वही, पत्र ४५—४८।

३. वही, पत्र ४७।

४. वही, पत्र ४६।

५. तुल० वही, १०।१०-११ की चन्द्रालोक, २।१४ से।

६. चन्द्रालोक, रमाटीका, पृ० १४।

७. साहित्यसुधानिधि, पत्र ४८—५२।

८. 'उपहतो लुप्तो कहि विसर्ग लोप

याही में पहिचानी कहि कवि योप॥

—वही, पत्र ४८।

९. वही, पत्र ४८।

१०. वही, पत्र ४९।

को तो प्रतिपादित किया ही है।^१ उसके हिन्दी-आचार्यों द्वारा दिये गये हिन्दी-नाम 'अकथित-कथनीय' को भी प्रतिपादित करके,^२ उसकी आवृत्ति कर दी है। इसी प्रकार दास के 'चरनान्तरपद' को 'अर्थान्तरगतपद' के रूप में प्रस्तुत कर^३ उन्होंने 'अर्थान्तरैकवाचकत्व' की आवृत्ति कर दी है। उनका 'विष्मा' नामक वाक्यदोष^४ वीप्सा अलंकार है। इस प्रकार जगत्सिंह के वाक्यदोषों की संख्या में जो वृद्धि है, वह उनकी योग्यता का प्रमाण न होकर अधिकचरेपन का सबूत है।

जगत्सिंह के ४१ अर्थदोषों में मम्मट के 'दिग्धाविरुद्ध', 'अश्लील' तथा 'विध्य-युक्त' को छोड़कर शेष बीस अर्थदोष स्थान पाये हुए हैं।^५ शेष इक्कीस दोषों में व्यर्थ, अपार्थ, देशदिःरोधी, न्यायागम-दिःरोधी, अन्व-वधिर तथा पंगु नामक सात दोष केशवदास से गृहीत हैं।^६ उन्हीं का 'मृतक' यहाँ 'दुर्वल' नाम से उपस्थित है।^७ 'अनुचित', 'विरुद्धान्योन्य-संगति' तथा 'विरुद्ध' जयदेव से लिये गये हैं।^८ 'व्याहृत' का प्रतिपादन करने पर भी फिर 'व्याघात' का उन्होंने उल्लेख किया,^९ जिसमें मम्मट के 'व्याहृत' के उदाहरण में जो 'व्याहृतत्व' का विशिष्ट रूप है, उसे उन्होंने लक्षणबद्ध कर दिया।^{१०} 'व्याहृत' और 'व्याघात' एक ही हैं, यह जगत्सिंह न समझ सके। शब्दगत 'अप्रयुक्त' को उन्होंने अर्थदोषों में भी स्थान दे दिया है।^{११} उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त जो अर्थदोष जगत्सिंह ने प्रस्तुत किये हैं,

१. "जो अवश्य के चाही सो तहँ नाहि।
सो अनजिहित वाक्य कवि जानो ताहि॥"—वही, पत्र ५०।
२. "जबो अवश्य करि चाही कहै न सोइ।
सो अनुक्त कथनीय कहि कवि लोइ॥"—वही, पत्र ५०।
३. वही, पत्र ४९।
४. "एक सब्ब अति प्रीति तु फिरि फिरि भाषि।
विष्मा दोष कहत सो कवि कुल साषि॥"—वही, १०। ७६, पत्र ५१।
५. वही, पत्र ५२—५८।
६. वही, पत्र ५६—५७।
७. तुल०, 'गोट गमोटी गोट टै गोदग गोदक',—वही, पत्र ५७ की 'कोल कमाल कलाल'।—'कविप्रिया', ३।१३ से।
८. चन्द्रालोक, २।३४, ३७।
९. साहित्यसुधानिधि, पत्र ५२ तथा ५४।
१०. "पहिले निजहुत बरनत पुनि उपमान।
सो व्याघात दोष है कहे सुजान॥"
—वही, पत्र ५४।
११. वही, पत्र ५६।

उनके नाम इस प्रकार हैं—नविकृत, कास्थूलवत्तस, नस्थानस्थ, कविनेम, बालमत, वायसम्पाति-मराल, अब्जअक्ष तथा अमित। प्रथम 'अनवीकृत' का विलोम रूप है, जिसका दोषत्व स्वतः खण्डित है। नवीन अर्थ के कथन में जगत्सिंह ने यह दोष माना है।^१ यह असंगत है। ओजोगुणयुक्त वर्णन के बाद प्रसादगुणयुक्त वर्णन करने को जगत्सिंह ने 'कास्थूलवत्तस' कहा है।^२ इसे भी दोष मानना ठीक नहीं। कारण, प्रसादत्व तो किसी भी रचना में रहना चाहिए। आगे कही जानेवाली वस्तु को पीछे कहना जगत्सिंह का 'नस्थानस्थ' है।^३ इसे भी अलग दोष मानने की आवश्यकता नहीं। इसे 'दुष्क्रम' कह सकते हैं। देवता का नखशिख-वर्णन चरण से नहीं आरम्भ करके शीश से आरम्भ करने में जगत्सिंह 'कवि-नेम' दोष मानते हैं।^४ इसे मम्मट के 'प्रसिद्धिविरुद्ध' में रख सकते हैं। बच्चों की-सी वेतुकी बात कहने में 'बालमत' माना गया है—जैसे प्रतिविम्ब को हाथ से पकड़ने की बात कहना।^५ इसे भी काव्यदोष मानना आवश्यक नहीं। जब 'योग्यता' वाक्य की प्राथमिक आवश्यकताओं में से एक है, तब उससे शून्य उक्ति का काव्यत्व स्वतः असिद्ध है। उसे दुष्ट काव्य मानने की आवश्यकता नहीं। व्रजभाषा में यवनभाषा के मिश्रण वेमें जगत्सिंह का 'वायसम्पाति मराल' होता है।^६ यह श्रीपति के भाषाच्युत से भिन्न नहीं। 'अब्जअक्ष' का स्वरूप स्पष्ट नहीं है।^७ 'अमित' का लक्षण-उदाहरण निहतार्थ के लक्षण-उदाहरण से समता रखता है।^८ इस प्रकार जगत्सिंह के अर्थदोष-विस्तार में कोई नवीन दोष संकेतित नहीं है।

जगत्सिंह के सोलह रसदोषों में पाँच तो 'शृंगारतिलक' के वे दोष हैं, जो केशव द्वारा वर्णित हुए हैं।^९ 'नग्न' तथा 'हीनरस' भी केशव से गृहीत हैं।^{१०} 'स्वेवाच्यता',

१. 'नविकृत नयो अर्थ जहाँ कहि कवि लाइ'—वही, १०१९८, पत्र ५३।

२. "प्रथम वोज गुन बरनत पुनि परसाद।"

कास्थूलवत्तस दूषन रहित सवाद॥"—वही, १०११६, पत्र ५५।

३. 'आगे क्रम पाछें करि नस्थानस्थ।'—वही, १०११९, पत्र ५६।

४. "देव सोस सों बरनत नरकहि पाइ।

यह कवि नेम दूषनो कहि कवि राय॥"—वही, १०१२२, पत्र ५६।

५. "बाल उक्ति जहँ बरनत सो भति बाल।

निज प्रतिविम्ब गहै कर कहि कवि भाल॥"—वही, १०१२५, पत्र ५६।

६. "मिलत जामिनी भाषा भाषा मध्य।

वायस पांति मरालिक दूषन सध्य॥"—वही, १०१२६, पत्र ५६।

७. वही, १०१३९।

८. तुल० वही, १०१४४ की काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या १४५ से।

९. तुल० साहित्यसुधानिधि, १०१४५-१५३ से रसिकप्रिया, १६१ की।

१०. तुल० साहित्यसुधानिधि, १०१५७ से कविप्रिया ३७, १४ की।

‘विभावकलेख्यवक्ति’, ‘प्रतिकूलविभाववादि कोग्रहण’, ‘प्रकृति विपर्यय’, ‘मुष्याननुसन्धान’ तथा ‘अंग का विस्तार’ काव्यप्रकाश के रसदोषों के दिकृत नाम हैं। शेष तीन दोष हैं—अनुचित, रसविरोध तथा अनसमयोक्ति। प्रथम दो संस्कृत-काव्यशास्त्र में दर्शित हैं ही। ‘अनसमयोक्ति’ का उदाहरण वही है, जो चिन्तामणि के ‘अकाण्डच्छेद’ का है। यह दोष ‘काव्य-प्रकाश’ में दर्शित है। इस प्रकार जगत्सिंह के रसदोषों में भी नवीन दोष एक भी नहीं है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि ने अपने ‘काव्य-विलास’ के छठे उल्लास में मम्मट के ‘अस्थानस्थ-समास’ नामक वाक्यदोष तथा ‘अनंगाभिधान’ नामक रसदोष को छोड़कर शेष अड़सठ दोषों का प्रतिपादन किया है।^१ उन्होंने अपने प्रतिपादन में ‘काव्यप्रकाश’ के अतिरिक्त कुलपति के ‘रसरहस्य’ को भी आधार बनाया, जिसके अनेक दोषों के उदाहरण उन्होंने स्वीकार किये हैं; यथा ‘असमर्थ’ तथा ‘अनुवितार्थ’ के उदाहरण।^२ प्रतापसाहि के अधिकांश लक्षण यद्यपि उदाहरण-संगत और शुद्ध हैं, तथापि कहीं-कहीं भ्रान्ति है। उदाहरणार्थ, वे बिना विशेषण के विशेष्य के कथन में ‘अपुष्ट’ मानते हैं।^३ उन्होंने शब्दगत और अर्थगत ‘सन्दिग्ध’ तथा ‘ग्राम्य’ के उदाहरण समान ही दिये हैं।^४ ‘नियमपरिवृत्त’ तथा ‘अनियम-परिवृत्त’ के उदाहरण भी इन दोषों के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ नहीं हैं।^५

ग्वाल

ग्वालकृत ‘दूषण-दर्पण’ दोष पर स्वतन्त्र रूप से लिखा गया एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है। इसमें वर्णित तेरह शब्ददोष ‘काव्यप्रकाश’ से गृहीत हैं।^६ ‘काव्यप्रकाश’ के ‘अवि-मृष्टविधवांश’, ‘विरुद्धमतिकृत्’ तथा ‘विलुप्त’ को छोड़ दिया गया है। ‘दूषण-दर्पण’ के अठारह वाक्यदोषों में भी नवीन एक भी दोष नहीं है। सभी ‘काव्यप्रकाश’ से गृहीत हैं। ‘उपहत-लुप्तविसर्ग’ और ‘सन्धि’ को संस्कृत का ही दोष मानकर छोड़ दिया गया है।^७ ग्वाल के

१. तुल० साहित्यसुधानिधि, १०।१७१ से कविकुलकल्पतरु, ४।९०।
२. काव्यविलास, छठा उल्लास।
३. तुल० काव्यविलास, ६।१२, १५ की क्रमशः रसरहस्य ५।२२, २५ से।
४. ‘जहाँ विशेष्य सुकवित्त में बिना विशेषण होइ।’—काव्यविलास, ६।७५।
५. तुल० काव्यविलास, ६।२७ और ६।८७ की तथा ६।२३ और ६।८९ से।
६. काव्यविलास, ६।१०१ तथा ६।१०३।
७. दूषणदर्पण, पृ० ९।
८. वही, पृ० ४९।

सभी अर्थदोष भी 'काव्यप्रकाश' से ही लिये गये हैं।^१ उन्होंने 'प्रसिद्धिविरुद्ध' के आवृत्ति, शील, वर्ण, देश, काल, क्रिया आदि के विरोध-स्वरूप भेदों का उल्लेख किया है।^२ मम्मट-मान्य सभी रसदोष भी ग्वाल ने वर्णित किये हैं।^३ ग्वाल के दोष-प्रतिपादन की पहली विशेषता है—केशव, देव, बिहारी, पद्माकर जैसे प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं को अपने दोष के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करना।^४ कुमारमणि तथा श्रीपति ने इस दिशा में थोड़ा प्रयत्न किया था। ग्वाल ने उनके इस कार्य को बहुत दूर तक सम्पन्न किया। संस्कृत में लक्ष्य ग्रन्थों से दोषोदाहरण देने की परिपाटी थी। हिन्दीवालों ने स्वनिर्मित उदाहरण देकर कृत्रिम पद्धति का अदलम्बन किया। ग्वाल ने हिन्दी की स्वीकृत पद्धति का परित्याग करके प्रशंसनीय कार्य किया। ग्वाल की दूसरी विशेषता है समान प्रतीत होनेवाले दोषों में अन्तर स्पष्ट करना। कुमारमणि ने इस दिशा में किंचित् प्रयास किया था। ग्वाल ने विशदता से अपनी पुस्तक की पंचम क्रान्ति में इसपर विचार किया।^५

पं० सीताराम शास्त्री

अपने 'साहित्य-सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में सीताराम शास्त्री ने मम्मट-सम्मत सत्तर दोषों की सूची दी है और पादटिप्पणी में उनके संक्षिप्त लक्षण संकेतित किये हैं।^६ उदाहरणों का अभाव है।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने अपने 'काव्यकल्पद्रुम' के सप्तम स्तवक में 'काव्यप्रकाश' के सोलह पद-दोषों, इक्कीस वाक्य-दोषों तथा तेईस अर्थदोषों का^७ एवं चतुर्थ स्तवक में उसी के दस रसदोषों का^८ सोदाहरण प्रतिपादन किया है। पोद्दारजी ने रसगंगाधर में वर्णित देश-काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार के अनौचित्य का भी उल्लेख किया है।^९ कोई नवीन दोष उन्होंने प्रतिपादित नहीं किया है। व्रजभाषा के आचार्यों की तरह दोष के नामों

१. दूषणदर्पण, पृ० ८२।
२. वही, तृतीय क्रान्ति, पृ० ९०-९१।
३. वही, चतुर्थ क्रान्ति, पृ० १२०।
४. वही, पृ० २५, २६।
५. वही, पृ० १३२-१३३।
६. साहित्य-सिद्धान्त, पृ० ३०-३२, ३७।
७. काव्यकल्पद्रुम, पृ० ३९१-४२७।
८. वही, पृ० २४८-२६०।
९. वही, पृ० २६१

का तद्भव रूप न देकर पोद्दारजी ने उनका तत्सम रूप ही दिया है। उनके दोष-लक्षण पद्यबद्ध न होकर गद्य में निबद्ध हैं। पोद्दारजी के लक्षण प्रायः मम्मट-सम्मत हैं। पर कहीं-कहीं स्वच्छन्दता भी है। उदाहरणार्थ 'सन्दिग्ध' के लक्षण में वे कहते हैं : 'ऐसे शब्द का प्रयोग, जिससे वांछित और अवांछित दोनों अर्थ प्रतीत हों।' वस्तुतः अर्थनिश्चय के अभाव में मम्मट ने 'सन्दिग्ध' माना है।^१ उपहृतलुप्तविसर्ग दोषों को संस्कृत की चीज समझ उन्होंने उदाहृत नहीं किया है। उदाहरणों के सम्बन्ध में कई दृष्टि उन्होंने रखी है। कहीं तो मम्मट के उदाहरणों का स्वनिर्मित पद्यबद्ध अनुवाद है। और कहीं कहीं हिन्दी-काव्य से भी उदाहरण आये हैं; जैसे, व्युत्संस्कार का उदाहरण, 'मानु' के 'काव्यप्रभाकर' से लिया गया है^२, 'ग्राम्य' तथा 'न्यून' के उदाहरण 'दीन' के 'सूक्ति-सरोवर' से,^३ 'पतत्प्रकर्ष' का उदाहरण 'विक्रम-सतसई'^४ से और 'पुनरुक्त' का उदाहरण 'शृंगार-सतसई'^५ से उद्धृत है। गद्यात्मक व्याख्या द्वारा पोद्दारजी ने दोषों की संगति उदाहरणों से दिखाई है,^६ जिससे उनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। समान प्रतीत होनेवाले दोषों के आपसी अन्तर को भी उन्होंने स्पष्ट किया है।^७

पं० बिहारीलाल भट्ट

बिहारीलाल भट्ट ने अपने 'साहित्य-सागर' नामक ब्रजभाषा-पद्यात्मक ग्रन्थ के द्वितीय भाग की नवम तरंग में दोषों का प्रतिपादन किया है। उन्होंने भरत, मामह एवं दण्डी को तीन प्रमुख आचार्यों के रूप में मान्यता देते हुए^{१०} उनके द्वारा निरूपित दोषों का व्योरा दिया है। भरत-सम्मत दस दोषों के नाम ही गिनाये गये हैं^{११}, लक्षण-उदाहरण नहीं दिये गये। भरत-सम्मत दोषों को गिनाने के बाद उनका कथन है कि 'काव्यालंकार' (मामह-कृत)

१. काव्यकल्पद्रुम, पृ० ३९८।
२. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या १५४।
३. काव्यकल्पद्रुम, पृ० ३९९ पर 'नैयार्थ' का उदाहरण।
४. वही, पृ० ३९३।
५. वही, पृ० ३९८ तथा ४०४।
६. वही, पृ० ४०६।
७. वही, पृ० ४१५।
८. वही, पृ० ४१४।
९. वही, पृ० ३९५ पर 'निहतार्थ' और 'अप्रयुक्त' का अन्तर।
१०. साहित्य-सागर, पृ० ३४५।
११. वही, पृ० ३४५।

और 'काव्यादर्श' (दण्डी-कृत) के दोष-प्रतिपादन में समानता है।^१ उन्होंने रुद्रट के दोष-प्रतिपादन को भी उक्त ग्रन्थों के समान माना है।^२ हम देख चुके हैं कि वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। मामह-दण्डिसम्मत दस दोषों को भट्टजी ने सोदाहरण उपस्थित किया है,^३ जिसमें भ्रान्ति नहीं है। इसके पश्चात् वे कहते हैं कि इन दोषों के अलावा भी दोष कहे गये हैं, पर उन सबकी प्रधानता इनसे ज्यादा नहीं है।^४ यह कथन भी संगत नहीं है। 'काव्यप्रकाश' के दोषों की प्रधानता सुविदित है। भट्टजी ने अपनी उक्त मान्यता के बाद बालदोष के लिए जिन कुछ दोषों का वर्णन किया है, उनके नाम हैं—'प्रतिकूलाक्षर', 'पन्थविरोधी', 'ग्राम्य', 'कष्टार्थ', 'छन्दोभंग' तथा 'अभवन्मतजोग'। प्रथम को उन्होंने 'कर्णकटु' के समान माना है।^५ 'पन्थविरोधी' का 'अवाचक' और 'अप्रयुक्त' से उन्होंने तादात्म्य बताया है।^६ 'छन्दोभंग' को 'शिथिलपद' से अभिन्न माना है।^७ 'ग्राम्य' का स्वरूप मम्मट के अनुरूप है,^८ किन्तु 'अभवन्मतजोग' का लक्षण^९ मम्मट के 'अभवन्मतयोग' के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर पाता।

पण्डित रामदहिन मिश्र

पं० रामदहिन मिश्र ने अपने 'काव्यदर्पण' के आठवें प्रकाश में दोषों का प्रतिपादन किया है, जिसका आधार 'साहित्यदर्पण' एवं 'काव्यप्रकाश' का दोष-प्रतिपादन है। किन्तु मिश्रजी ने इन पुस्तकों के समग्र दोषों को स्थान नहीं दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत दोष इस प्रकार हैं—

क. शब्ददोष ३७, ख. अर्थदोष १७, ग. रसदोष १० तथा घ. वर्णन-दोष ५।^{११} मिश्रजी के पददोषों में मम्मटसम्मत सोलह पद-दोष, उपहतलुप्तविसर्ग, विसन्धि, अस्थानस्थ

१. साहित्य-सागर, पृ० ३४५।

२. वही।

३. वही, पृ० ३४६।

४. वही, पृ० ३५१।

५. वही, पृ० ३५१-३५४।

६. 'प्रतिकूलाक्षर कर्णकटु यह द्वै एक समान।'—वही, पृ० ३५१।

७. "कवि वर्णन मारग तजो पंथ विरोधी गान।

याहि अवाचक कहत हैं अप्रयुक्तह नाम॥"—वही, पृ० ३५२।

८. वही, पृ० ३५३।

९. वही, पृ० ३५२।

१०. 'जित तित जिन्ह तिन्ह शब्द को रखे न उचित प्रबन्ध।'—वही, पृ० ३५३।

११. काव्यदर्पण, पृ० ३७६-९७।

समास तथा अमतपरार्थ के अतिरिक्त शेष सोलह वाक्यदोष तथा पाँच नये दोष परिगणित हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—अयथार्थ, व्यर्थपदता, अन्वय-दोष, क्रियादोष तथा मुहावरा-दोष।^१ उन्होंने मम्मट के सनियमपरिवृत्त, अनियमपरिवृत्त, सामान्यपरिवृत्त, विशेष-परिवृत्त, विध्ययुक्त तथा अनुवादायुक्त को छोड़कर शेष सत्रह अर्थदोषों को स्वीकार किया है। उनके रसदोष मम्मटसम्मत रसदोष ही हैं।^२ वर्णन के जिन पाँच दोषों को उन्होंने प्रतिपादित किया है, उनके नाम हैं—पूर्वापर-विरुद्ध, प्रकृतिविरोध, अर्थविरोध, स्वभाव-विरोध तथा भावविरोध।^३ इन दोषों के अतिरिक्त 'अमिथा के साथ बलात्कार' शीर्षक देकर उन्होंने हिन्दी के कुछ ऐसे चिन्त्य प्रयोगों की आलोचना की है, जो अँगरेजी के 'असमर्थ' या भ्रान्त अनुवाद के रूप में या बँगला के प्रभाववश हिन्दी में प्रचलित हो गये हैं।^४

मिश्रजी ने जो दोष 'काव्यप्रकाश' या 'साहित्य-दर्पण' से लिये हैं, उनके लक्षण प्रायः उन्हीं पुस्तकों के लक्षणों के समान हैं। केवल 'सन्दिग्ध' के लक्षण में पोटारजी का अनुकरण है।^५ मिश्रजी के अधिकांश उदाहरण खड़ीबोली की कविता से दिये गये हैं।^६ 'अनुचितार्थ' और 'अपदयुक्त' के उदाहरणों में से प्रथम मिश्रजी द्वारा स्वतन्त्र रूप से निर्मित है और द्वितीय काव्यप्रकाश के आधार पर।^७

मिश्रजी ने जो पाँच नये शब्ददोष कल्पित किये हैं, वे सभी संस्कृत-काव्यशास्त्र के लिए अपरिचित नहीं हैं। उन्होंने शंख के लिए 'झनकार' के प्रयोग को 'अयथार्थ दोष' कहा है।^८ रुद्रट के 'असमर्थ' का और मम्मट के 'प्रसिद्धिहृत' का उदाहरण ऐसा ही है।^९ इस दोष को संस्कृत-काव्यशास्त्र के 'लोकविरुद्ध' के व्यापक रूप में समाविष्ट समझना चाहिए। 'व्यर्थपदता' नामक दूसरे दोष का अधिकपदता से अन्तर करते हुए मिश्रजी ने कहा है कि 'अधिकपदता' का अधिकपद सम्बद्ध रहने के कारण खटकता नहीं, 'व्यर्थपदता' का पद

१. काव्यदर्पण, पृ० ३८७।

२. वही, पृ० ३९३-३९४।

३. वही, पृ० ३९५-३९६।

४. वही, पृ० ३९७-३९८।

५. तुल० काव्यदर्पण, पृ० ३८० पर उक्त दोष के लक्षण से काव्य-कल्पद्रुम, पृ० ३९८ पर उसी दोष के लक्षण से।

६. काव्यदर्पण पृ० ३८३।

७. तुल० काव्य-दर्पण, पृष्ठ ३९१ पर "अपदयुक्त" के उदाहरण से काव्यप्रकाश की उदाहरण-संख्या २७८ की।

८. काव्यदर्पण, पृ० ३७८।

९. रुद्रट-कृत काव्यालंकार, पृ० ६२५ तथा काव्यप्रकाश, पृ० २२७ पर प्रसिद्धिहृतत्व के सम्बन्ध में दिये गये उद्धरण।

असम्बद्ध होकर खटकता है।^१ यह अन्तर इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि 'व्यर्थपदता' को 'अधिक-पदता' से अलग दोष मानना आवश्यक हो। अपने 'अन्वय-दोष' का 'अभवन्मतयोग' से अन्तर स्पष्ट करते हुए मिश्रजी का कहना है, 'अभवन्मत सम्बन्ध' में सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता और इसमें अन्वय की गड़बड़ी रहती है।^२ यह अन्तर भी इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसे अलग दोष मानना आवश्यक हो। अनुचित क्रिया के प्रयोग को मिश्रजी ने 'क्रियादोष' कहा है।^३ रुद्रट ने 'असमर्थ' के एक भेद के रूप में एक अन्ध प्रकार के क्रियानीचित्य का संकेत किया है।^४ मुहावरे के गलत प्रयोग में मिश्रजी ने मुहावरा-दोष माना है।^५ 'च्युत-संस्कृति' के व्यापक रूप में इसे भी समाविष्ट किया जा सकता है। मिश्रजी ने अपने वर्णन-दोषों के सम्बन्ध में स्वयं स्वीकार किया है कि उनका पद वाक्य, अर्थ, रस आदि के दोषों में अन्तर्भाव हो जाता है।^६ 'अभिधा के साथ बलात्कार' शीर्षक के अन्तर्गत मिश्रजी ने जो उदाहरण दिये हैं,^७ उन्हें भी 'च्युतसंस्कृति' में अन्तर्भुक्त मान सकते हैं। इस प्रकार मिश्रजी द्वारा कोई सर्वथा मौलिक दोष निरूपित नहीं हुआ है।

'काव्यदर्पण' के बाद कोई ऐसा लक्षण-ग्रन्थ सामने नहीं आया है, जिसमें काव्य-दोषों के प्रतिपादन में कोई विशेषता हो। अतः हिन्दी-लक्षण-ग्रन्थों में काव्य-दोषों के विकास-क्रम में 'काव्यदर्पण' को अभी अन्तिम उल्लेखनीय ग्रन्थ माना जाना चाहिए।

-
१. काव्यदर्पण, पृ० ३८३।
 २. वही, पृ० ३८७।
 ३. वही, पृ० ३८७।
 ४. रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।४।
 ५. काव्यदर्पण, पृ० ३८७।
 ६. वही, पृ० ३९७।
 ७. वही, पृ० ३९७-३९८।

सप्तम अध्याय

दोषों का संख्या-निर्धारण, नामकरण, लक्षण एवं उदाहरण

पिछले अध्याय में संस्कृत-हिन्दी काव्यशास्त्र में विशिष्ट दोषों के विकास का अध्ययन कर लेने के पश्चात् हम इस स्थिति में हैं कि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित कुल दोषों की सूची प्राप्त कर सकें। हम देख चुके हैं कि दोषों का सर्वाधिक विस्तार मम्मट द्वारा हुआ है। अतः हम मम्मट की दोष-सूची को स्वीकार कर, उसमें परवर्ती दोष-संबर्द्धन एवं पूर्ववर्ती परित्यक्त दोषों को मिलाकर संस्कृत-हिन्दी-लक्षण-ग्रन्थों में प्रतिपादित दोषों की सम्पूर्ण सूची प्राप्त कर सकते हैं। पिछले अध्याय में विशिष्ट दोषों का विकास-क्रम प्रदर्शित करते समय हमने उत्तरोत्तर वृद्धिगत दोषसूची की पूर्ववर्ती दोष-सूची से तुलना कर नवीन योगदान की विशेष रूप से चर्चा की, आचार्यों द्वारा पूर्ववर्ती दोषों के परित्याग की सम्पूर्णतः चर्चा न की, चूंकि किसी ने एक दोष को छोड़ा, तो किसी ने दूसरे को। कभी छूटे हुए दोष भी पुनः स्वीकृत हो गये। अतः हर स्थिति में छूटे हुए दोषों की सूची देना वहाँ अपेक्षित था। सर्वाधिक समृद्ध होने के कारण मम्मट की दोष-सूची को आधार बना हम उसमें अप्राप्य पिछले आचार्यों के दोषों का अनुसन्धान सर्वप्रथम करें।

‘नाट्यशास्त्र’ में प्रतिपादित प्रथम दोष-सूची में से ‘विसन्धि’ के अतिरिक्त बाकी नौ दोष नामतः मम्मट की सूची में अप्राप्य हैं। किन्तु उनमें से कई स्वरूपतः भिन्न नामों से सम्बद्ध होकर प्राप्य हैं। ‘अर्थान्तर’ प्रबन्ध-दोष माना जा सकता है। ‘शब्दच्युति’ का ‘च्युत-संस्कृति’ से, ‘विषम’ का ‘हतवृत्त’ से, ‘एकार्थ’ का ‘पुनरुक्ति’ से, ‘भिन्नार्थ’ के प्रथम रूप का ‘ग्राम्य’ एवं ‘अश्लील’ से तथा द्वितीय रूप का ‘प्रकाशितविरुद्ध’ से, ‘अर्थहीन’ के प्रथम अंश का ‘व्याहृतार्थ’ से तथा द्वितीय अंश का ‘सन्दिग्ध’ से इतना साम्य है कि इन्हें मम्मट के दोषों में गतार्थ मान सकते हैं। केवल तीन दोष मम्मट की सूची में अन्तर्भुक्त नहीं हैं—१. न्यायाद्वेष, २. गूढार्थ और ३. अभिप्लुतार्थ। ‘नाट्यशास्त्र’ के द्वितीय स्थल पर उल्लिखित दोष प्रथम सूची में अन्तर्भुक्त दिखाये जा चुके हैं।^१

-
१. तुल० षष्ठ अध्याय के ‘नाट्यशास्त्र’ शीर्षक प्रकरण में निरूपित इन दोषों के स्वरूप की उसी के मम्मट-प्रकरण में निरूपित सम्बद्ध दोषों से।
 २. देखिए षष्ठ अध्याय का ‘नाट्यशास्त्र’ शीर्षक प्रकरण।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में उल्लिखित दस दोषों में 'अश्लील' तथा 'पुनरुक्त' मम्मट द्वारा इसी रूप में स्वीकृत हैं।^१ 'ससंशय', 'कष्टाक्षरपदन्यास' तथा 'शब्दशास्त्रविरोधी' भी क्रमशः मम्मट के द्वारा 'सन्दिग्ध', 'श्रुतिकटु' तथा 'च्युतसंस्कृति' के रूप में वर्णित हैं।^२ 'छन्दो-विरहित', 'हतवृत्त' से साम्य रखता है। 'पूर्वापरविरुद्ध' 'व्याहृतार्थ' और 'प्रकाशितविरुद्ध' के रूप में बँट गया है।^३ 'अप्रसिद्धाभिधान' का 'नाट्यशास्त्र' के 'गूढार्थ' से साम्य है, जिसकी अप्राप्यता ऊपर निर्दिष्ट हो चुकी है। इस प्रकार दो दोष बच जाते हैं, जो मम्मट की सूची में अप्राप्य हैं—१. प्रतिज्ञारहित तथा २. लोक-विगर्हित।

भामह की प्रथम दोष-सूची के छह दोषों में 'क्लिष्ट' यथावत् मम्मट की सूची में प्राप्य है।^४ 'अवाचक' नामतः प्राप्य होकर भी स्वरूपतः 'क्लिष्ट' में अन्तर्भुक्त है।^५ 'गूढशब्दाभिधान' का भी क्लिष्ट में ही अन्तर्भाव है।^६ 'नेयार्थ' नामतः मम्मट द्वारा स्वीकृत है।^७ भामह के 'नेयार्थ' का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं है। इस प्रकार दो दोष मम्मट की सूची में अप्राप्य हैं—१. अन्याय तथा २. अयुक्तिमत्। भामह की दूसरी दोष-सूची के 'श्रुतिदुष्ट' का शब्दगत 'अश्लील' से,^८ 'अर्थदुष्ट' का अर्थगत 'अश्लील' से,^९ 'कल्पनादुष्ट' का अश्लील रूप 'विसन्धि' से^{१०} तथा 'श्रुतिकष्ट' का 'श्रुतिकटु' से^{११} अभेद है। अतः इस सूची का एक भी दोष मम्मट की सूची में अप्राप्य नहीं है। भामह की तीसरी दोष-सूची के 'विसन्धि', 'शब्दहीन', 'एकार्थ' और 'ससंशय' की मम्मट की सूची में प्राप्यता का ऊपर निर्देश हो चुका है। 'अपार्थ' का नाट्य-शास्त्रीय 'अभिप्लुतार्थ' से और 'व्यर्थ' का विष्णुधर्मोत्तरीय 'पूर्वापरविरुद्ध' से साम्य है,

१. काव्य-प्रकाश, ७।५५।

२. वही, पृ० सं० २३८ तथा १८२।

३. वही, ७।५५, ७।५७।

४. काव्यप्रकाश, ७।५१।

५. वही, पृ० सं० १८९।

६. वही।

७. वही, ७।५१।

८. तुल० भामह-कृत काव्यालंकार, १।४९ तथा काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या १५१।

९. तुल० भामह-कृत काव्यालंकार, १।५१ तथा काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या २८५।

१०. तुल० भामह-कृत काव्यालंकार, १।५२ तथा काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या २१३।

११. तुल० भामह-कृत काव्यालंकार, १।५३ तथा काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या १४१।

जिनकी चर्चा हो चुकी है। मम्मट के 'हतवृत्त' से भामह के 'भिन्नवृत्त' तथा 'यतिभ्रष्ट' का साम्य है। भामह का 'अपक्रम' भी मम्मट के 'भग्नप्रक्रम' तथा 'अक्रम' के रूप में विभाजित हो गया है।^१ उनका 'न्यायागमविरोधी' मम्मट के 'विद्याविरुद्ध' से समता रखता है।^२ 'प्रतिज्ञारहित' की अप्राप्यता ऊपर निर्दिष्ट हो चुकी है। 'हेतुहीन' का 'निर्हेतुत्व' से साम्य स्पष्ट है। इस प्रकार इस सूची के ये दोष वचते हैं, जो मम्मट की सूची में अप्राप्य हैं—१. दृष्टान्तहीन तथा २. देशकाललोकविरोधी।

भामह के अन्य दोष-निर्देशों में 'विरुद्धपद', 'बहुपूरण', 'ग्राम्य', 'अप्रयुक्त', 'तन्त्रान्तर-साधित' तथा 'दुर्बोध' क्रमशः 'अवाचक', 'निरर्थक', 'ग्राम्य', 'असमर्थ', 'अप्रतीत' तथा 'विलुप्त' के रूप में निर्दिष्ट हैं।^३ भामह के अन्य दोष-संकेतों में ये मम्मट के द्वारा अनुलिखित हैं—१. अस्वर्थ, २. असुनिर्भेद, ३. अवक्रोक्ति, ४. आकुल, ५. अपेशल, ६. शिष्टमात्र-प्रयुक्त, ७. छन्दोवत् तथा ८. छन्दस।

दण्डिमान्य दस दोष भामह से गृहीत हैं, जिनकी परीक्षा ऊपर हो चुकी है। अतः दण्डी के केवल गुणविपर्ययात्मक दोषों की परीक्षा अपेक्षित है। दण्डी के ऐसे दोषों में 'व्युत्पन्न', 'विषम', 'वैरस्य', 'दीप्त' तथा 'नेयत्व' मम्मट द्वारा क्रमशः 'निहतार्थ', 'पतत्प्रकर्ष', 'अर्थगत', 'ग्राम्य', 'श्रुतिकटु' तथा 'नेयार्थ' के रूप में स्वीकृत हैं।^४ इस प्रकार दण्डी के दो ही गुण-विपर्यय वचते हैं, जिन्हें मम्मट की सूची में नहीं पाया जा सकता—१. शिथिल और २. अत्युक्ति।

वामन के पाँच पददोषों में से एक भी मम्मट की दोष-सूची में अप्राप्य नहीं है। 'ग्राम्य' और 'अप्रतीत' यथावत् तथा 'असाधु', 'कष्ट' एवं 'अनर्थक' क्रमशः 'च्युतसंस्कृति',

१. काव्यप्रकाश, ७।५५।

२. तुल० भामह-कृत काव्यालंकार, ४।३९, ४८ तथा काव्य-प्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या २६७, २६८, २६९ तथा २७०।

३. 'काव्यप्रकाश', सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या १४४, १४७, १४८, १५५, १५६ तथा १५८।

४. तुलना कीजिए :

(क) दण्डिकृत काव्यादर्श, १।४६ तथा काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या १४५।

(ख) काव्यादर्श, १।४८ तथा काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, उदाहरण-संख्या २२४।

(ग) काव्यादर्श, १।६३ तथा काव्यप्रकाश, ७।५५।

(घ) काव्यादर्श, १।७२ तथा काव्यप्रकाश, ७।५०।

(ङ) काव्यादर्श, १।७३ तथा काव्यप्रकाश, ७।५१।

५. काव्यप्रकाश, ७।५०-५१।

‘श्रुतिकटु’ तथा ‘निरर्थक’ के रूप में मम्मट द्वारा स्थान पाये हुए हैं।^१ वामन के पदार्थदोषों में से ‘अश्लील’, ‘क्लिष्ट’ तथा ‘नैयार्थ’ यथावत्^२ और ‘गूढार्थ’, ‘निहृतार्थ’ तथा ‘अप्रयुक्त’ के रूप में मम्मट-निरूपित हैं।^३ ‘अन्यार्थ’ अप्राप्य है, यह कहा जा चुका है। वामन के सभी वाक्यदोष पुराने हैं, अतः परीक्षित हो चुके हैं। उनके सात वाक्यार्थ-दोषों में से ‘व्यर्थ’, ‘एकाग्र’, ‘सन्दिग्ध’, ‘अपक्रम’ तथा लोकविरोधी पुराने हैं, अतः इनका विश्लेषण हो चुका है। उनका ‘अप्रयुक्त’ मम्मट द्वारा नामतः गृहीत होने पर भी लक्षणतः भिन्न है।^४ अतः यही वामन का मम्मट की सूची में अप्राप्य एकमात्र वाक्यार्थ-दोष है।

वामन के ऐसे गुणविपर्यय, जिनका दण्डी द्वारा उल्लेख नहीं हुआ है, मम्मट की सूची में अप्राप्य हैं। उनके नाम हैं—१. असृणत्व, २. समासबाहुल्य, ३. जरठत्व, ४. अविकटत्व तथा ५. पुराणच्छाया।

रुद्रट के छह पद-दोषों में से ‘द्विसन्धि’ इसी नाम से मम्मट की सूची में प्राप्य है।^५ उनका ‘विपरीतकल्पना’ नामक दोष मम्मट का ‘द्विरुद्धमतिकृत्’ है।^६ रुद्रट के ‘असमर्थ’ के चार प्रकारों में दूसरा मम्मट का ‘असमर्थ’ है^७ और चौथे की मम्मट के ‘सन्दिग्ध’ से समता है।^८ शेष दो प्रकार वामन के ‘अन्यार्थ’ के लक्षण-उदाहरण पर आधारित हैं।^९ ‘अन्यार्थ’ की अनुपलब्धि ऊपर निर्दिष्ट हो चुकी है। रुद्रट का ‘अप्रतीत’ नामतः मम्मट द्वारा गृहीत होकर भी लक्षणतः भिन्न है। उसका प्रथम प्रकार मम्मट के ‘सन्दिग्ध’ से साम्य रखता है^{१०} और द्वितीय प्रकार उन्हीं के ‘क्लिष्ट’ से।^{११} ‘ग्राम्य’ के रुद्रटकृत अनेक भेदों में से किसी का मम्मट के

१. तुल०, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।५, २।१।६ तथा २।१।९ की काव्यप्रकाश, पृ० संख्या १८२ तथा १८४ पर उद्धृत सम्बद्ध दोष-लक्षणों से।

२. काव्यप्रकाश, ७।५०-५१।

३. तुल० काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।१३ की काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या १४५ तथा १४३ से।

४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति २।२।२१।

५. काव्यप्रकाश, ७।५३।

६. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।१६ की काव्यप्रकाश की उदाहरण-संख्या १६५ से।

७. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।५ की काव्यप्रकाश, उदा० सं० १४४ से।

८. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।७ की काव्यप्रकाश, उ० सं० १५४ से।

९. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।४ तथा ६।६ की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ० ७७ के उदाहरणों से तथा २।१।११ से।

१०. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।१२ की काव्यप्रकाश की उदा० सं० १५४ से।

११. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।१३ की काव्यप्रकाश की उ० सं० १५८ से।

‘ग्राम्य’ से साम्य नहीं है।^१ वे सभी अनीचित्य के व्यापक रूप हैं, जिनका मम्मट ने उल्लेख नहीं किया है। रुद्रट का ‘देश्य’ भी मम्मट द्वारा अनुल्लिखित है।

रुद्रट के तीन वाक्यदोषों में से ‘संकीर्ण’, ‘गमित’ मम्मट द्वारा यथावत् दर्शित हैं, पर ‘गतार्थ’ उनकी सूची में अप्राप्य है। उनके नौ अर्थदोषों में से ‘तद्वत्’ और ‘असम्बद्ध’ का मम्मट के ‘अपुष्टार्थ’ से^२ और ‘बाधयन्’ का उन्हीं के ‘व्याहृतार्थ’ से साम्य है।^३ ‘निरागम’ का मम्मट के ‘दिद्यादिरुद्ध’ में अन्तर्भाव है।^४ ‘अप्रतीत’ का उनके ‘अप्रयुक्त’ से और ‘दिरस’ का उन्हीं के ‘अमतपरार्थ’ से साम्य है। ‘ग्राम्य’ मम्मट के ‘ग्राम्य’ से व्यापक है। रुद्रट के गुणविपर्ययात्मक दोषों में से ‘अचारुपद’ के अतिरिक्त शेष सभी मम्मट की सूची में प्राप्त हैं।^५ ‘अचारुपद’ का जो उदाहरण नमिसाधु ने दिया है,^६ वही यदि रुद्रट का अमिप्रेत हो, तो यह मम्मट के ‘श्रुतिकटु’ के समान होगा।^७

महिमभट्ट के पाँचों ‘शब्दानां चित्य’ मम्मट की दोष-सूची में किसी-न-किसी नाम से स्थान पाये हुए हैं। ‘पुनरुक्त’ यथावत्^८ तथा ‘प्रक्रमभेद’, ‘क्रमभेद’, ‘विधेयादिभेद’ तथा ‘वाच्यावचन’ क्रमशः ‘भग्नप्रक्रम’, ‘अक्रम’, ‘अविमृष्टविधेयांश’ तथा ‘अनमिहितवाच्य’ के रूप में मम्मट द्वारा वर्णित हैं।^९

१. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार ६।१८-२२ की काव्यप्रकाश की उदाहरण-संख्या १५६ से।
२. काव्यप्रकाश, ७।५४।
३. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।१५ तथा ११।८ की काव्यप्रकाश की उदाहरण-संख्या २५५ से।
४. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।७ की काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २५७ से।
५. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।६ की काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या २६७ से।
६. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।५ की तथा काव्यप्रकाश, उदा० संख्या १४३ की टिप्पणियों की।
७. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।१४ की काव्यप्रकाश के २५४वें उदाहरण की टिप्पणी से।
८. काव्यप्रकाश, ७।५३।५५ तथा ७।५०।
९. ‘चारुग्रहणवर्षर्षटीं त्यादिदुः श्रवनिवृत्त्यर्थमिति।’—रुद्रट-कृत काव्यालंकार में नमिसाधु की टीका, पृ० १२।
१०. ‘श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं।’—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० १८२।
११. काव्यप्रकाश, ७।५५।
१२. वही, ७।५१, ५४, ५५।

रुद्रभट्ट ने केवल रसदोषों का ही उल्लेख किया है, उनमें से 'विरस' तो रुद्रट द्वारा संकेतित है ही, जिराकी समता मम्मट के 'अमत्परार्थ' से बताई गई है, 'विरुद्धरससम्पर्कविदर्जन' मम्मट के 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' के रूप में गृहीत है।^१ 'नीरस' को रसदोष न मानकर रसाभाव कहना समीचीन है। शेष तीन दोष—प्रत्यनीक, दुःसन्धान तथा पात्रदुष्ट मम्मट की रस-दोष-सूची में अप्राप्य हैं।

राजशेखर का हरण-दोष वामन के 'पुराणच्छाया' नामक दोष में परिगणित है, जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। क्षेमेन्द्र के दोष इतने स्थूल हैं कि उन्हें विशिष्ट दोष न मानकर दोषवर्ग माना गया है।^२ वनजय के दोष नाट्यमात्र से सम्बद्ध होने के कारण पृथक् धरातल रखते हैं। मेघावी के उपमा-दोषों का मम्मट ने अपने अन्य दोषों में अन्तर्भाव दिखाया है।^३ दण्डी, वामन तथा रुद्रट के उपमा-दोषों की भी यही स्थिति है। अतः अब मम्मट से पूर्व एकमात्र आचार्य भोज वचते हैं, जिनके दोषों की परीक्षा अपेक्षित है।

भोज के सोलह पददोषों में से कोई भी नवीन नहीं है, सभी प्राचीन आचार्यों द्वारा कथित हैं, यह षष्ठ अध्याय में कहा जा चुका है।^४ अतः उनके दोष परीक्षित हो चुके, यह स्वतः स्पष्ट है। उनके सोलह वाक्य-दोषों में चार (भिन्नलिङ्ग, भिन्नवचन, न्यूनोपम तथा अधिकोपम) तो उपमादोष हैं, जिनका मम्मट ने अपने दोषों में अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है,^५ 'विसन्धि', 'गमित' तथा 'संकीर्ण' यथावत् मम्मट द्वारा वर्णित हैं।^६ 'भग्नयति' तथा 'भग्नच्छन्द' का 'हतवृत्त' से साम्य है^७ और 'क्रमभ्रष्ट' का 'भग्नप्रक्रम' से।^८ 'पुनरुक्तिमत्' मम्मट द्वारा अर्थदोष की सूची में परिगणित है।^९ 'शब्दहीन' का मम्मट के 'च्युतसंस्कृति' में अन्तर्भाव हो सकता था, पर उन्होंने उसके वाक्यगत होने का खण्डन किया है।^{१०} भोज

१. तुल० रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ११।१४ की काव्यप्रकाश के २५४वें उदाहरण की टिप्पणी से।

२. काव्यप्रकाश, ७।६१।

३. देखिए षष्ठ अध्याय का क्षेमेन्द्र-प्रकरण।

४. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ० ४५६।

५. देखिए षष्ठ अध्याय का भोजराज-प्रकरण।

६. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ० ४५६।

७. देखिए काव्यप्रकाश, ७।५३-५४।

८. वही, पृ० २१४।

९. वही, पृ० २२८।

१०. वही, पृ० ७।५५।

११. "अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थ निरर्थकम्।

वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥"—काव्यप्रकाश, ७।५२।

इसे अपने 'असाधु' से इसलिए भिन्न और वाक्यगत मानते हैं कि दूसरे पदों के सम्बन्ध से ही इनका अपशब्दत्व माना जा सकता है।^१ 'अरीतिमत्' कई गुणविपर्ययों का समूह है, जिनमें से अधिकांश दण्डी द्वारा संकेतित हैं। जो भोज के नवीन गुण-विपर्यय हैं और मम्मट की सूची में अन्तर्भुक्त नहीं हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. असमासत्व तथा २. अलंकार। भोज का 'अनिर्व्यूढत्व' मम्मट के 'भग्नप्रक्रम' में अन्तर्भुक्त है।^२ भोज के शेष वाक्यदोष, जो मम्मट की सूची में अप्राप्य हैं, इस प्रकार हैं—१. व्याकीर्ण, २. अपद तथा ३. अशरीर।

भोज के सोलह वाक्यार्थदोषों में चार (हीनोपम, अधिकोपम, असदृशोपम तथा अप्रसिद्धोपम) उपमा-दोष हैं, जिनका मम्मट ने अपने अन्य दोषों में अन्तर्भाव दिखाया है।^३ 'अश्लील' मम्मट की सूची में प्राप्त है।^४ 'अपार्थ', 'व्यर्थ', 'एकाग्र', 'संशय' तथा 'अप्रक्रम' का भामह के प्रसंग में और अतिमात्र तथा 'विरस' का रुद्रट के प्रकरण में ऊपर परीक्षण हो चुका है। 'विरुद्ध' मम्मट के 'विद्याविरुद्ध' से व्यापक है, पर उससे समानता तो रखता ही है।^५ इस प्रकार तीन दोष बचते हैं, जिन्हें मम्मट की दोष-सूची में नहीं पाया जा सकता—१. खिन्न, २. परुष तथा ३. निरलंकार।

उपर्युक्त विवेचन में जिन दोषों की मम्मट की दोषसूची में अनुपलब्ध बताई गई है, उनकी एकत्र सूची इस प्रकार बन जाती है—

१. अभिप्लुतार्थ, २. गूढार्थ तथा ३. न्यायादपेत—नाट्यशास्त्रीय, ४. प्रतिज्ञा-रहित, ५. लोकविगहित—विष्णुधर्मोत्तरपुराणीय, ६. अन्याय, ७. अयुक्तिमत्, ८. दृष्टान्त-

१. "अत्र गमिततोतीति वतवतः कर्मणि, आजघ्न इति आत्मने पदस्य अस्वांग कर्मणि प्रयोगादपशब्दौ। तौ च शिलावितानत्र्यक्षवक्षः सम्बन्धाद् वाक्यदोषौ जायमानौ असाधु नाम्नः पददोषाद् भिद्यंते।" —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० १८

२. तुलना कीजिए :

"माधुर्यं व्यत्ययो यस्तु जायते रतिखण्डनात्।

तदनिर्व्यूढमित्युक्तं काव्यसर्वस्ववेदिभिः॥

यथा—नखिनाञ्च नदोनाञ्च शृंगिणां शस्त्रपाणिनाम्।

विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रा.बु राजकुलेषु च॥"

अत्र नखिनां नदोनाञ्चेति षष्ठ्यन्ताच्चकारेण रतिरूपक्रमे शृंगिणां शस्त्रपाणिनामिति चकारातिर्वाहात् स्त्रोषु राजकुलेषु चेति षष्ठी परित्यागादमधुरार्थत्वाच्च माधुर्यविपर्यय-नालायं वादार्थप्रधानो गुणविपर्ययो दोषः।" —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३२-३३।

'तथा—भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र।'—काव्यप्रकाश, पृ० २२८।

३. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ० ४५६।

४. काव्यप्रकाश, ७।५७।

५. तुल०—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ४७-४८ की काव्यप्रकाश, पृ० २४०-२४१ से।

हीन, ९. देशकाललोकविरोधी, १०. अवक्रोक्ति, ११. आकुल, १२. अस्वर्थ, १३. असु-
निर्भेद, १४. अपेशल, १५. शिष्टमात्रप्रयुक्त, १६. छन्दोवत्, १७. छान्दस—मामह-
सम्मत, १८ शिथिल, १९. अत्युक्ति-दण्डिसम्मत, २०. अप्रयुक्त, २१. अमसृणत्व,
२२. समासबाहुल्य, २३. जरठत्व, २४. अविकटत्व, २५. पुराणच्छाया—दामनसम्मत,
२६. ग्राम्य, २७. देश्य—रुद्रसम्मत, २८. प्रत्यनीक, २९. दुःसन्धान, ३०. पात्रदुष्ट—
रुद्रमट्टसम्मत, ३१. वाक्यदोष—शब्दहीन, ३२. असमासत्व, ३३. अनलंकार, ३४.
व्याकीर्ण, ३५. अपद, ३६. अशरीर, ३७. सिद्ध, ३८. परुष तथा ३९. निरलंकार—भोज-
सम्मत।

इसके साथ उस सूची को मिलाना आवश्यक है, जिसमें मम्मट के परवर्ती आचार्यों के
वैसे दोष होंगे, जिनका मम्मट की दोष-सूची में उल्लेख नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध में
पष्ठ अध्याय में ही विचार हो चुका है। हम केवल उन दोषों की ही सूची यहाँ प्रस्तुत कर
रहे हैं। ऐसे दोषों के नाम इस प्रकार हैं—

१. शिथिल, २. विकृत—जयदेव-सम्मत, ३. अपूर्ण ४. भिन्न—विद्यानाथमान्य,
५. गृहीतमुक्तक—केशवमिश्र-सम्मत, ६. अप्रस्तुतार्थ, ७. व्यर्थीकृत—अमृतानन्द, योगि-
सम्मत, ८. विच्छिन्नदीपन, ९. विरोधी रसों के समबल या प्रबल अंगों का वर्णन, १०.
नायक से प्रतिनायक के अधिक उत्कर्ष का वर्णन, ११. सामान्य रसदोष, १२. विशेष रसदोष—
पण्डितराज जगन्नाथ-सम्मत।

हिन्दी-आचार्यों द्वारा प्रतिपादित दोषों की विस्तृत परीक्षा से सिद्ध हो चुका है
कि सही अर्थ में किसी मौलिक दोष का संकेत उनमें से कोई नहीं कर सका, अतएव उप-
र्युक्त दो सूचियों को मम्मट की दोषसूची में मिलाकर सामूहिक रूप से संस्कृत-हिन्दी-रीति-
ग्रन्थों की दोषसूची का पूर्ण रूप सामने आ जाता है।

प्रश्न है कि उपर्युक्त सभी दोषों की दोषस्वरूप-मान्यता आवश्यक है या नहीं। सबसे
पहली बात यह है कि मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों की दोषसूची में बहुत-सारे दोष गुणामाद-
स्वरूप हैं, जिन्हें हमारी समझ में दोष मानना उपयुक्त नहीं है। गुणामाद को यदि दोष
मानना शुरू करें, तो फिर दोषों के संख्या-विस्तार की सीमा नहीं। दूसरे, जब दोषों की
भावात्मक सत्ता है, तो फिर किसी वस्तु के अभाव के रूप में उनकी व्याख्या संगत नहीं।
गुणामाद से कवि की शक्त्यल्पता सूचित हो सकती है, जिसके कारण उसकी कविता का मूल्य
प्रभावित हो सकता है, पर इससे उसका काव्य दोषयुक्त नहीं माना जा सकता। अतः
पहली सूची की दोष-संख्या १०, १२, १४, १८, १९, २१, २३, २४, ३२, ३३ तथा ३९ का
दोषत्व खण्डित हो जाता है। उसी सूची के तीसरे, चौथे और आठवें दोषों को भी काव्यशास्त्र
में दोषस्वरूप मान्यता देना ठीक नहीं। कारण, ये तर्कशास्त्र के ऐसे दोष हैं, जिनका
काव्य में अंकुश मानना ठीक नहीं। कवि प्रत्येक कथन को प्रमाणपुष्ट करने लगे, तो उसकी
कविता में तार्किक शुष्कता आ जायगी। काव्य का सत्य तार्किक सत्य का न पर्याय है और

न उससे सीमित ही है। 'अयुक्तिमत्' दोष का भी इसी दृष्टि से निषेध किया जा सकता है। वामन के 'अप्रयुक्त' का स्वरूप स्पष्ट नहीं है और उसके उदाहरण भी विरल होने के कारण उन्होंने नहीं दिये हैं। अतः इसे भी स्थान देने की कोई आवश्यकता नहीं।

नाट्यशास्त्रीय 'अभिप्लुतार्थ' को भी पृथक् दोष मानने की अपेक्षा नहीं है। यह 'अर्थार्थ' का व्यापक रूप है, यह कहा जा चुका है। समुदायार्थशून्यता के उदाहरणस्वरूप 'छह दाढ़िम, दस पूए' जैसे कथन^१ तो काव्य कहला नहीं सकते, फिर उन्हें दुष्टकाव्य कहना बेतुका है। अनर्गल प्रलाप तो सामान्य रूप से भाषा की योग्यता का ही निषेध है, फिर उसको काव्यदोष क्यों माना जाय ? भाषा की प्राथमिक आवश्यकताओं के अभाव को काव्यदोष मानना ठीक नहीं। भामह के 'आकुल' एवं 'असुनिर्भेद' नामक दोषों का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। डॉ० ह्री० राघवन् ने प्रथम को शब्दार्थ-जाल में उलझ जाना^२ और द्वितीय को प्रसादगुण-विपर्यय कहा है, उनके अनुसार एक दोष न होकर कई दोषों का समूह है।^३ इस प्रकार व्यापक एवं अधिशिष्ट होने के कारण इन दोषों की मान्यता स्वतः खण्डित है।

भाषा-प्रयोग के विवेचन के क्रम में भामह ने 'शिष्टमात्रप्रयुक्त', छन्दोवत् एवं छान्दस प्रयोगों की वर्ज्यता का निषेध किया, जिन्हें ऊपर की सूची में हमने स्थान दिया है। इनकी भी पृथक् गणना अनावश्यक है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि काव्य में जितने शब्दों का प्रयोग हो, वे शिष्टेतर समुदाय द्वारा बोधगम्य ही हों। अतः 'शिष्टमात्रप्रयुक्त' को दोषस्वरूप मान्यता नहीं मिल सकती। शेष दो दोष भाषामिश्रण के उदाहरण हैं। हिन्दी के कुछ आचार्यों ने भी 'च्युतसंस्कार' के अन्तर्गत^४ या स्वतन्त्र रूप से^५ भाषामिश्रण के दोषत्व का संकेत किया है। हमारा खयाल है कि निरुद्देश्य भाषामिश्रण कवि नहीं करता। सोद्देश्य के उदाहरण तो हैं ही। चमत्कार-प्रदर्शन के लिए रचित खुसरो की ऐसी कविताएँ देखी जा सकती हैं। टी० एस० इलियट तक ने गम्भीर भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए संस्कृत-शब्दों का प्रयोग अपनी कविता में किया है।^६ अतः सोद्देश्य भाषा-मिश्रण दोष नहीं, और निरुद्देश्य मिश्रण वही कवि करेगा, जो असामान्य मस्तिष्क का होगा। फिर भी चमत्कार-प्रदर्शन मात्र के लिए भाषा-मिश्रण काव्य को हल्की श्रेणी का जरूर बना देता है, दीपावह भले न बनाये। रूद्रट के 'देश्य' को भी दोष मानना उपयुक्त नहीं। 'देश्य' प्रयोगों के उदाहरण

१. "समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थक्यमिष्यते।

दाडिमानि दशापुषाः षडित्यादि यथोदितम् ॥"—भामह-कृत काव्यालंकार, ४।८।

२. भोजस शृंगारप्रकाश, वल्यूम १, भाग २, पृ० २३६।

३. वही, पृ० २३६।

४. देखिए, जगत्सिंह-कृत साहित्यसुधानिधि, पत्र-सं० ४५।

५. देखिए, श्रीपति-कृत 'काव्यसरोज'।

६. देखिए, 'वेस्ट लैण्ड' कविता।

कमी-कमी कवि के लिए आवश्यक हो जाते हैं, चूँकि उनमें काफी व्यंजकता रहती है। आज तो लोकभाषा का इतना मान बढ़ रहा है कि शिष्ट भाषा में उसके प्रयोग घड़ल्ले से हो रहे हैं।^१ स्वभावतः तत्त्व के साथ-साथ देशज प्रयोगों का आगमन शिष्ट साहित्य में हो रहा है। आमिजात्य दृष्टिकोण रखनेवाला इसे दोषादह मान सकता है, पर उसकी मान्यता को चुनौती देनेवाली विचारधारा आज अधिक लोकप्रिय है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण का 'लोकविगर्हित' इतना व्यापक दोष है कि इसमें कई दोषों की गणना की जा सकती है। अतः इसे भी विशिष्ट दोष मानना ठीक नहीं। 'समासबाहुल्य' की भी इसी कारण पृथक् गणना ठीक नहीं। मम्मट ने 'किलष्ट' आदि कई दोषों को समासोत्पन्न बताकर^२ इसका दोषत्व स्वीकार किया है। अपने-आप में समास-बहुलता दोष नहीं, कमी-कमी तो वह गुण भी होती है—दण्डी का गद्य और 'राम की शक्तिपूजा' इसके उदाहरण हैं।

भोज का 'अशरीर' भी अलग दोष के रूप में मान्य नहीं होना चाहिए। क्रिया के अभाव में यह दोष होता है।^३ कविता में कवि को यह छूट रहनी चाहिए कि वह क्रिया के अध्याहार के लिए आवश्यकता पड़ने पर मौका ले। सामान्य बोलचाल में भी ऐसा हम करते ही हैं। भोज के वाक्यगत शब्दहीन की भी पृथक् मान्यता अनावश्यक है। 'व्याकरण-विरुद्धता' को एक ही दोष मानना समीचीन है। उसका पदगत और वाक्यगत विभेद समीचीन नहीं। पदगत 'असाधुता' का निर्णय भी वाक्यगत दूसरे शब्दों के सम्बन्ध पर निर्भर रहता है। पद की वाक्य से भिन्न तो कोई सत्ता रहती नहीं। 'व्युत्संस्कृति' को मम्मट ने पदगत इसलिए माना कि उसे किसी पद के साथ हम सम्बद्ध कर सकते हैं।

भोज के 'खिन्न' और 'परुष' अर्थ के ऐसे अनौचित्य के नमूने हैं, जिनमें अनुभूति की उत्कृष्टता-अपकृष्टता से सम्बद्ध मान सकते हैं। इनसे जो अपकर्ष सूचित होता है, वह कवि की संवेदना की संकीर्णता का सूचक है न कि उसकी प्रतीति की विघ्नविधायकता का। अतः इन्हें भी अलग से दोष मानना आवश्यक नहीं। रुद्रभट्ट के रसदोष रसानौचित्य के व्यापक एवं अविशिष्ट स्वरूप होने के कारण अलग से स्वीकार्य नहीं हैं।

उपर्युक्त दोषों को हटा देने पर जो दोष बचते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. गूढार्थ, २. अन्यार्थ, ३. देशकालविरोधी, ४. पुराणच्छाया, ५. रुद्रट का ग्राम्य, ६. व्याकीर्ण और ७. अपद। 'गूढार्थ' की विशिष्टता की चर्चा षष्ठ अध्याय के प्रारम्भ में हो चुकी है। वह अनुपयुक्त अभिधान का ऐसा दोष है, जो मम्मट की सूची में अन्तर्भुक्त नहीं है। 'अन्यार्थ' की भी यही स्थिति है। देशकालविरोधी मम्मट के प्रसिद्धि-विरुद्ध में समाविष्ट नहीं हो पाता, चूँकि ज्यादा व्यापक है। 'अपद' भी उनके 'प्रतिकूलवर्णत्व' में अन्तर्भुक्त नहीं

१. देखिए, फणीश्वरनाथ रेणु-कृत 'मैला आँचल'।

२. काव्यप्रकाश, ७।५१।

३. 'क्रियापदविहोनें यदशरीरं तदुच्यते।'—सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २६।

हो पाता। 'व्याकीर्ण' उनके 'अभयन्मतयोग' में तमी गतार्थ हो सकता है, जब भोजमान्य उसकी विशिष्टता तिरोभूत कर दें। दोष-संख्या को सीमित करने के लिए ऐसा कर सकते हैं। पर तब मम्मट के अन्य कई दोषों की पृथक् सत्ता की आवश्यकता नहीं रह जायगी। रुद्रट के 'ग्राम्य' में जिन अनौचित्य-प्रकारों का उल्लेख है, वे विशिष्ट दोष के सूचक हैं, जैसे सम्बोधन की अनुपयुक्तता आदि। मम्मट का 'ग्राम्य' इससे भिन्न है, यह कहा जा चुका है।

मम्मट के परदर्शी दोषों की जो सूची दी गई है, उसके दोषों का पृथक् अस्तित्व अमान्य नहीं किया जा सकता। पण्डितराज के दर्णदोषों के सम्बन्ध में शंका उठाई जा सकती है। पर षष्ठ अध्याय में उनका जो विवरण दिया गया है, उससे यह सिद्ध है कि उनके सामान्य वर्णदोष मम्मट के श्रुतिकटु में गतार्थ नहीं हो सकते, यदि मम्मट-कृत श्रुतिकटु का लक्षण ध्यान में रखा जाय। मम्मट ने एक खास ढंग की अश्रव्यता को 'श्रुतिकटु' के रूप में ग्रहण किया है,^१ पण्डितराज ऐसी कई अन्य अश्रव्यताओं की चर्चा करते हैं।^२ उनके सभी विशेष दर्णदोष भी मम्मट के 'प्रतिकूलदर्णत्व' में अन्तर्भूत नहीं हो पाते।^३

उपयुक्त विवेचन से दोषों के संख्या-निर्धारण के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह कि यदि दोषों का निरूपण सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विशेषताओं पर आधारित किया जाय, तो उनकी संख्या की इयत्ता नहीं। मम्मट के दोषों में उपयुक्त दो दोष-सूचियों के दोषों के अन्तर्भाव में यहीं कठिनता है कि वे भी वैसी ही विशिष्ट स्थितियों के सूचक हैं, जिस प्रकार मम्मट के दूहृत-सारे दोष। यह ठीक है कि उन दोषों के सजातीय दोष मम्मट की सूची में प्राप्य हैं, पर वे इतने विशिष्ट हैं कि उनमें अन्य समानों को अन्तर्भाव कर लेने की योग्यता नहीं है। अतः यदि दोषों के संख्या-विस्तार को संयत करना अभीष्ट हो, तो मम्मट के दोषों की विशिष्टपरकता को थोड़ा सीमित करना होगा। ऐसा करने के लिए उनके कुछ दोष-लक्षणों को व्यापक बनाना पड़ेगा। कुछ दोषों को हटाकर भिन्न नामों से उन्हें संकेतित करना पड़ सकता है।

दोषों के संख्या-निर्धारण के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने योग्य है। संस्कृत-काव्यशास्त्र के कुछ दोष संस्कृत-भाषा की प्रकृति पर आधारित हैं। उनका दूसरी भाषाओं के काव्य में अस्तित्व सम्भव नहीं। उदाहरणस्वरूप, मम्मट के कई वाक्यदोष हिन्दी में स्वाभाविक रूप से सम्भव नहीं। उपहृतविसर्गत्व, सन्धिविश्लेषण जैसे दोष देखे जा सकते हैं। हिन्दी

१. 'श्रुतिकटु पुरुषवर्णरूपं दुष्टं।'—काव्यप्रकाश, पृ० १८२।

२. रसगंगाधर।

३. जैसे 'लम्बे समास का होना, प्रतिकूलवर्णत्व में समाविष्ट नहीं। इसका प्रतिपादन रसगंगाधर में है।—ले०

के कुछ रीतिकारों ने मम्मट के कुछ दोषों का परित्याग इस दृष्टि से किया भी है।^१ किन्तु कुछ ने जबर्दस्ती उदाहरण बना-बनाकर वैसे दोषों को स्वीकार कर लिया है।^२ वस्तुतः किसी भाषा की प्रकृति के आधार पर उसके पदगत और वाक्यगत दोष बहुत-कुछ निर्भर हैं। अतः काव्यदोषों के संख्या-निर्धारण और नामकरण में इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है। हिन्दी में संस्कृत-काव्यशास्त्र के सभी दोषों को यथावत् उद्धृत कर लेने की अपेक्षा नहीं है। दूसरी ओर हिन्दी की प्रकृति को ध्यान में रखकर नवीन दोषों की उद्भावना की जा सकती है। अँगरेजी के प्रभाव-वश हिन्दी में अँगरेजी ढंग के वाक्य-विन्यासों के प्रचलन में हिन्दी की दृष्टि से दोषों की सत्ता दिखाई जा सकती है।

हमारा मत है कि काव्यदोषों के दो स्पष्ट रूप किसी भाषा के काव्यशास्त्र में संकेतित होने चाहिए। एक वह, जो अपनी भाषा के ही नहीं, अन्य भाषाओं के काव्य की समीक्षा के लिए प्रयुक्त हो सके और दूसरा वह, जिसे केवल अपनी भाषा के काव्य की समीक्षा के समय ही उपयोग में लाया जा सके। प्रथम वर्ग के दोष अधिक व्यापक, सामान्य, स्थूल एवं संख्या में कम होंगे, जबकि द्वितीय वर्ग के दोष अधिक विशिष्ट, सूक्ष्म एवं संख्या में अधिक। दोषों की अनित्यता भाषा के आधार पर भी समझी जा सकती है।

दोषों के नामकरण के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि दोषों के रूढनाम योगिक रूप में गृहीत न हों। फिर भी हम इस पक्ष में हैं कि दोषों का नामकरण रूढि की अपेक्षा योग पर आधारित होना चाहिए, जिससे उसमें लक्षण-संकेत का सामर्थ्य हो। इससे काव्यशास्त्र की पारिभाषिकता पर थोड़ा आघात पहुँच सकता है, पर वह इतना ज्यादा रक्षणीय भी नहीं है; कारण, उसमें समय-समय पर परिवर्तन की अपेक्षा अनुभूत होती है।

दोष के उदाहरणों के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि उनमें पर्याप्त गतिशीलता है। कालक्रम से शिष्ट शब्द 'ग्राम्य' या 'अश्लील' बन जाता है और 'ग्राम्य' शिष्ट। भाषा की सहज परिवर्तनशीलता इसका कारण है। मम्मट ने 'कटि' को 'ग्राम्य' का उदाहरण माना है।^३ रीतिकालीन हिन्दीकाव्य इस दृष्टि से 'ग्राम्यता' का विपुल उदाहरण प्रस्तुत करेगा। वस्तुतः विविध देशों एवं कालों के आचार-व्यवहार, रीति-नीति, विश्वास-विचार, कवि-समय एवं पौराणिक कल्पनाओं पर दोष का उदाहरण दिखाते समय ध्यान रखना आवश्यक है। नैतिकता और औचित्य की धारणाएँ देशकाल-सापेक्ष होती हैं, भले ही नैतिक एवं औचित्यमूलक प्रवृत्ति शाश्वत हो। दोष-दर्शन, इस प्रकार, गतिशीलता की अपेक्षा रखता है। उसमें युगानुरूप परिवर्तन करते रहना उसकी उपयुक्तता की रक्षा के लिए आवश्यक है।

संस्कृत और हिन्दी-काव्यशास्त्र में दोष के उदाहरणों की दृष्टि से एक अन्तर ध्यान

१. देखिए, चिन्तामणिकृत कविकुल कल्पतरु, ४।२९—३२।

२. देखिए, जनराज-कृत कविता-रसविनोद, पृ० ११२।

३. "ग्राम्यं यथा—कटिश्च हरते मनः। अत्र कटिरिति।"—काव्यप्रकाश, पृ० १८८।

देने योग्य है। संस्कृत के आचार्यों ने जहाँ दोष के उदाहरण के लिए प्रसिद्ध लक्ष्य-ग्रन्थों की शरण ली है वहाँ अधिकांश हिन्दी-रीतिकारों ने स्वनिर्मित उदाहरण दिये हैं। इसी कारण उनके उदाहरण कृत्रिम और अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। प्राचीनों में कुमारमणि ने कुछ पूर्ववर्ती या समवर्ती कवियों से दोषोदाहरण दिये हैं।^१ नवीनों में श्रीरामदहिन मिश्र ने खड़ी-बोली काव्य से दोष के उदाहरण देकर प्रशंसनीय कार्य किया है।^२

●

१. जैसे रसिकरसाल में 'अश्लील' का उदाहरण वेशव-रचित है तथा 'न्यूनपद' का उदाहरण मुरलीधर-कृत है।—रसिकरसाल, दशम उल्लास, पृ० संख्या २३ तथा २४१।

२. काव्यदर्पण, पृ० ३७६—३९५।

अष्टम अध्याय

दोषों की नित्यता-अनित्यता

संस्कृत तथा हिन्दी-काव्यशास्त्र में दोषों की नित्यता-अनित्यता का दिचार दोष-विवेचन का महत्वपूर्ण अंग रहा है। प्रस्तुत अध्याय में इसी दिचारणा का विकास-क्रम प्रदर्शित है।

दोषों की अनित्यता के सम्बन्ध में उसी काल से विचार आरम्भ हो गया था, जब काव्यदोष का सामान्य दाग्दोषों से पार्थक्य स्पष्ट नहीं हुआ था। इसका प्रमाण कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है, जिसके लेखदोषों में 'पुनरुक्त' की अनित्यता का उल्लेख है। वहाँ बिना किसी दिशेषता की पुनरुक्ति को ही दोष-स्वरूप माना गया है।^१ इसका स्वाभाविक निष्कर्ष है कि जहाँ पुनरुक्ति किसी दिशेषता को सूचित करती हो, वहाँ उसका दोषत्व खण्डित है। किन्तु 'अर्थशास्त्र' में दोष-अनित्यता का संकेत केवल 'पुनरुक्ति' के सम्बन्ध में ही है, दोष-सामान्य के सम्बन्ध में नहीं।

दिष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी 'पुनरुक्त' की अनित्यता का उल्लेख है, जिसमें 'अर्थ-शास्त्र' से ज्यादा स्पष्टीकरण एवं दिशदता है। यहाँ स्पष्ट रूप से उन स्थितियों का उल्लेख है, जिनमें पुनरुक्ति दोष नहीं मानी जाती। ये स्थितियाँ हैं—दिस्मय, असूया, भय, शोक एवं हर्ष की अभिव्यक्ति।^२

सामह ने चार स्थलों पर दोषों की अनित्यता का संकेत किया है—१. श्रुतिकटु आदि दोषों के दिवेचन के पश्चात्, २. अयुक्तिमत् दोष के प्रसंग में, ३. पुनरुक्त दोष के सम्बन्ध में तथा ४. उपमा-दोष-दिवेचन के सिलसिले में। प्रथम स्थल पर उन्होंने पहले सामान्यतः दोष-अनित्यता का प्रतिपादन किया है, फिर दिशिष्ट रूप से श्रुतिदुष्ट दोष की अनित्यता का उदाहरण दिया है। उनका कहना है कि सन्निवेश-प्रकार की दिशेषता से दुर्लक्ष भी उसी प्रकार शोभित होता है, जिस प्रकार माला के बीच में निबद्ध-नीलपलाश।^३

१. 'उक्तस्यविशेषेण द्वितीयमुच्चारणं पुनरुक्तम्।'—कौटिलीय 'अर्थशास्त्र', पृ० १५४।

२. "विस्मये बन्धसूयायां भयशक्तवरासु च।

हर्षे च बोप्ता कर्तव्या पुनरुक्तं न तद्विदुः॥"

—विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३१।५।११।

३. "सन्निवेशविशेषाम्बु दुर्लक्षमपि शोभते।

नोलं पलाशमाबद्धमन्तराले सजामिव॥" —सामह-कृत काव्यालंकार, १।५४।

आश्रय-सौन्दर्य से असाधु भी सुन्दर हो जाता है, जिस प्रकार कान्ता की आँख से लगा हुआ मलिन अंजन भी सुन्दर ही लगता है।^१ इस सामान्य कथन के पश्चात् भामह ने 'गण्ड' शब्द की 'पाण्डु' शब्द के साथ स्थिति की साधुता बताई है।^२ 'अयुक्तमत्' दोष के सम्बन्ध में भामह का कथन है कि जहाँ उत्कण्ठा से कोई पात्र उन्मत्त की तरह बोले और बिना बाणी के जीव या अव्यक्तवाक् जीव को भी दूतत्व का कार्य सौंपे, तो वहाँ अयुक्तमत् दोष नहीं माना जाना चाहिए।^३ इसी प्रकार भय, शोक, असूया, हर्ष तथा विस्मय में पुनरुक्ति की अदोषता भामह ने विष्णुधर्मोत्तरपुराण की तरह बताई है।^४ यहाँ विष्णुधर्मोत्तरपुराण की शब्दावली तक उद्धृत है।^५

'हीनता' नामक उपमा-दोष के प्रसंग में भामह का कथन है कि किसी वस्तु के लिए पूर्ण सादृश्य या सारूप्य व्यक्त करनेवाला उपमान असम्भव है। अतः यथासम्भव सादृश्य ही उपमा में रह सकता है।^६ भामह का कहना है कि कहीं चन्द्रमा और कहीं सुन्दरी का मुख ! दोनों में पूर्ण सादृश्य कहाँ है ? पर कान्ति की किञ्चित् समानता देखकर आनन की चन्द्रमा से उपमा दी जाती है।^७ इस प्रकार भामह ने हीनता-दोष की आत्यन्तिकता को सीमित किया है। यह भी प्रकारान्तर से दोष-अनित्यता का संकेत है। इसी प्रकार 'असम्भव' नामक उपमा-दोष के सम्बन्ध में भामह का कथन है कि जहाँ अतिशयवान् अर्थ अमिधेय हो, वहाँ असम्भव दोष कैसे माना जाय ? 'उपमा और उत्प्रेक्षा में ऐसा असम्भव सादृश्य कहा ही जाता है।^८ लिंग-भेद नामक उपमा-दोष को भी भामह ने एक ही स्थिति में

१. "किञ्चिदाश्रयसौन्दर्यादित्ते शोभामसाध्वपि।

कान्ताविलोचनान्यस्तं मलोमसमिवाञ्जनम् ॥"

—भामह-कृत काव्यालंकार, १।५५।

२. 'सङ्गमात्पाण्डुशब्दस्य गण्डः साधु यथोदितम्।'—वही, १।५६।

३. "यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते।

तथा भवतु भूस्नेहं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥"—वही, १।४४।

४. "भय शोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।

यथाऽऽह, गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥"—वही, १।१४।

५. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३।१५।११।

६. "सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित्।

यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते ॥"

—वही, २।४३।

७. "अलण्डमण्डलः ध्वेन्दुः क्व कान्ताननमद्युति।

यत्किञ्चित्कान्तिसामान्याच्छशिनं वीर्यमोयते ॥"—वही, २।४४।

८. "यत्पातिशयवानर्थः कथं सोऽसम्भवो मतः।

इष्टं चातिशयार्थत्वमुपमात्प्रेक्षयोर्यथा ॥"—वही, २।५०।

ग्राह्य बताया है। वे स्त्रीलिंगवाची और पुंवाची शब्दों के सादृश्य को ही धजित मानते हैं।^१

मामह के उच्युक्त मन्तव्यों में दोष—अनित्यता के दोनों रूप—अदोषता और गुणरूपता संकेतित हैं। दिशिष्ट दोषों के उदाहरण द्वारा इस दिचार का स्पष्टीकरण मामह की विशेषता है।

दण्डी ने मामह की अपेक्षा अधिक विशदता से दोषों की अनित्यता का प्रतिपादन किया है। दण्डी अपने अधिकांश दोषों की अनित्यता का उल्लेख करते हैं, जबकि मामह ने तीन-चार दोषों के दिषय में ही ऐसा संकेत किया। दण्डी के अधिकांश गुणदिपर्ययात्मक दोष मार्गदिशेष में ही दोष-स्वरूप बताये गये हैं, कुछ ही दोष दोनों मार्गों (वैदर्भ, गौडीय) में दोष-स्वरूप हैं। उन्होंने श्लेष, प्रसाद, समता, सुकुमारता तथा वान्ति नामक गुणों के दिपर्यय क्रमशः अव्युत्पन्न, वैषम्य, दीप्तत्व तथा अत्युक्ति बताये हैं और उन्हें वैदर्भ मार्ग में ही दोष-स्वरूप स्वीकार किया है, गौडीय मार्ग में नहीं।^२ 'अर्थव्यक्ति' के दिपर्यय-नैरत्व और माधुर्य के दिपर्यय-वैरस्य, जिसका कारण दण्डी के मत में ग्राम्यता है, को दोनों मार्गों के लिए उन्होंने दोष-स्वरूप माना है। इस प्रकार मार्गभेद के आधार पर दण्डी ने गुण-विपर्ययात्मक दोषों की नित्यता-अनित्यता का रूप प्रदर्शित किया है। किन्तु, दूसरी दृष्टि से भी दण्डी ने इन गुणों की अनित्यता प्रतिपादित की है। 'ग्राम्य' दोष के कुछ अपवाद सूचित करना और कुछ स्थलों पर ग्राम्यता के दोषत्व-परिहार का उदाहरण देना इसी तथ्य का सूचक है। दण्डी का कथन है कि भगिनी, भगवती जैसे पदों का सर्वत्र प्रयोग उसकी ग्राम्यता के लुप्त होने का प्रमाण है।^३ उन्होंने निष्ठूयत, उद्गीर्ण, वान्त आदि शब्दों की ग्राम्यता वैसे स्थलों पर अस्वीकृत की है, जहाँ ये मुख्याय छोड़, गौणवृत्ति का आश्रय लेकर लक्ष्यार्थ सूचित करते हैं।^४

दण्डी ने अपार्थादि दस दोषों में 'शब्दहीन' तथा 'मिन्नवृत्त' के अतिरिक्त शेष सभी दोषों का अनित्यत्व प्रतिपादित किया है। अस्वस्थ चित्तवाले व्यक्ति का 'अपार्थ', दुःखाभिभूत का 'विरुद्धार्थ' तथा विशेषतायुक्त रहने पर या व्यक्ति-विशेष के प्रति दयनीयता की विवक्षा रहने पर 'पुनरुक्त' दोषत्व-रूप नहीं होते, यह दण्डी का मत

१. "उच्यते काममस्तोदं किन्तु स्त्रीपुंसयोरयम्।

विधिर्नाभिमतोऽन्यैस्तु त्रयाणामपि नेष्यते ॥"—मामह-कृत काव्यालंकार, २।५७।

२. देखिए प्रबन्ध के षष्ठ अध्याय के 'हिन्दी-रीतिग्रन्थों में दोष लक्षण-निरूपण' के प्रसंग में जनराज-विषयक विवरण।

३. 'भगिनीभगवत्यादौ सर्वत्रैवानुमन्यते।'—दण्डिकृत काव्यादर्श, १।६८।

४. "निष्ठूयतोद्गीर्णवानादि गौणवृत्तिव्यप्राश्रयम्।

अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥"—वही, ३।११९५।

है।^१ इसी प्रकार यदि संशय उत्पन्न करने के लिए ही संयुक्त वाक्य का प्रयोग हो, तो दण्डी उसे भी दोष न मानकर अलंकार मानते हैं।^२ यहाँ दण्डी ने दोष की गुणरूपता दिखाई है। उन्होंने 'अप-क्रम' का अदोषत्व वहाँ माना है, जहाँ अन्वय-बोध के लिए कवि ने यत्न किया है।^३ दण्डी का कथन है कि जैसे पदान्त-वर्ण के लोप होने पर शिष्ट भाग को पद मानना निश्चित है, उसी प्रकार पद के अन्त में सन्धि-द्विकार हो जाने पर वचे हुए भाग को ही पद मान लिया जाता है, अतः तादृश पद के अन्त में यतिभ्रंशदोष नहीं माना जाता।^४ प्रगृह्यादि संज्ञा हो जाने पर 'विसन्धि' के दोषत्व का दण्डी ने निषेध किया है।^५ उनका कथन है कि देशकाल-कलालोकार्गम-दिरोची दोष कवि-कौशल के कारण दोष-श्रेणी को पार कर गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं।^६ उपमा-दोषों के सम्बन्ध में दण्डी का कथन है कि जहाँ सज्जनों को उद्वेग न हो, वहाँ उपमा के दोष, दोष नहीं रह जाते।^७

वामन ने केवल चार दोषों की अनित्यता प्रतिपादित की है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. अश्लील, २. यतिभ्रष्ट, ३. एकार्थ तथा ४. लिंगभेद नामक उपमा-दोष। 'अश्लील' का अपवाद वामन ने वहाँ माना है, जहाँ अश्लीलता गुप्त, लक्षित या संवृत्त हो गई हो।^८

१. (क) 'इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम्।'—दण्डिकृत काव्यादर्श, ३।१३०।
- (ख) 'अस्तिकाचिदवस्था सा साभिपद्यगस्यचेतसः।
यस्यां भवेदभिमतता विरुद्धार्थाऽपि भारती ॥'—वही ३।१३३।
- (ग) "अविशेषण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कोत्स्यते।
अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा ॥"—वही, ३।१३५।
- (घ) "अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद्विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया।"—वही, ३।१३७।
२. "ईदृशं संशयायैव यदि जातु प्रयुज्यते।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्रतद्यथा ॥"—वही, ३।१४१।
३. "यत्नः सम्बन्धविज्ञानहेतु कोऽपि कृतो यदि।
क्रमलङ्घनमप्याहुः सूरया नैव दूषणम् ॥"—वही, ३।१४६।
४. "लुप्तं पदान्ते शिष्टस्य पदत्वं निश्चितं यथा।
तथा सन्धिविकारान्तपदमेवेति वर्ण्यते ॥"—वही, ३।१५४।
५. 'तद्विसन्धोति निदिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम्।'—वही, ३।१५९।
६. 'विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दूषणनां गुणवोर्थो विगाहते ॥"—वही, ३।१७९।
७. "न लिङ्गवचने भिन्ने न होनाधिकतापि वा।
उपमा दूषणायालं यत्रोद्वेगो न धोमताम् ॥"—वही, २।५१।
८. 'न गुप्तलक्षित संवृतानि।'—काव्यालंकारसूत्र, २।१।१५।

असम्भ्य अर्थ के अप्रसिद्ध हो जाने को 'गुप्त',^१ लक्षणाश्रित होने को 'लक्षित'^२ और लोक-व्यवहार में दब जाने को वे संवृत कहते हैं।^३ इनके उदाहरण उन्होंने क्रमशः 'सम्बाध', 'जन्मभूमि', 'सुमगा', 'भगिनी' आदि दिये हैं।^४ असलीलता की अनित्यता के इस विवेचन में वामन दण्डी के 'ग्राम्य' के अनित्यता-प्रतिपादन से प्रभावित हैं।

'यतिभ्रष्ट' वामन के अनुसार वहाँ दोष नहीं होता, जहाँ प्रकृति-प्रत्यय के बीच यति आकर उनका भाग करती हो या जहाँ सन्धि होकर भाग होता हो।^५ एकार्थ की अनित्यता का बड़े सूक्ष्म एवं विस्तृत ढंग से वामन ने प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि 'धनु - ज्याध्वनि' में 'ज्या' प्रत्यंचा के चढ़ाव की प्रतीति का सूचक होने के कारण 'कर्णादित्स' में 'कर्ण' सान्निध्यसूचक होने से, 'मुक्ताहार' में 'मुक्ता' शुद्धता का संकेत देने के कारण, 'पुष्पमाला' में 'पुष्प' उत्कर्षसूचक होने के कारण तथा 'करिकलम' में 'करि' तादरूप्यबोधक होने से दोषाघायक नहीं हैं।^६ विशेषण की विशेषता का बोध करने के लिए किया गया उक्तार्थ पद का प्रयोग भी वामन ने निर्दुष्ट बताया है।^७ किन्तु, वामन का कथन है कि प्रयुक्त पदों में ही 'एकार्थ' की अनित्यता है, नये प्रयोगों—जैसे, नितम्बकांची या 'उष्ट्रकलम' में नहीं।^८ 'लिंगभेद' नामक उपमा-दोष की अनित्यता के सम्बन्ध में उनका मत है कि नपुंसक और पुल्लिङ्ग की भिन्नता को लिंगभेद-दोष नहीं कहा जा सकता।^९ साथ ही, उनके अनुसार लौकिकी उपमा, समासामिहित उपमा और उपमा के भेदों (प्रतिवस्तूपमा आदि) में लिंगभेद इष्ट होता है।^{१०}

रुद्रट ने अपने पददोषों एवं वाक्यदोषों का उपसंहार करते हुए उस स्थिति का

१. 'अप्रसिद्धासम्भ्यं गुप्तम्।'—वही, २।१।१६।

२. 'लक्षणाश्रितसम्भ्यं लक्षितम्।'—वही, २।१।१७।

३. 'लोकसवीतं संवृतम्।'—वही, २।१।१८।

४. वही, द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय, पृ० ८२।

५. "धातुनामभागपदग्रहणात् तद्भागातिरिक्तेन भवति यतिभ्रष्टत्वम्।.....

स्वरसन्ध्यकृत इति वचनात् स्वरसन्धिकृते भेदेन दोषः।"—वही, पृ० ९१-९२।

६. वही, २।२।१३, १४, १५, १६, १७।

७. 'विशेषणस्य च।'—वही, २।२।१८।

८. 'तदिदं प्रयुक्तेषु।'—वही, २।२।१९।

९. "न हि भवति यथा श्रवण कुण्डलमिति तथा नितम्ब काञ्चोत्पपि। यथा वा करिकलम इति तथा उष्ट्रकलम इत्यपि।"—वही, द्वितीय अधिकरण, द्वितीय अध्याय, पृ० १०५।

१०. 'इष्टः पुष्पपुंसकयोः प्रायेण।'—वही, ४।२।१३।

११. 'लौकिक्यां समासामिहितायामुपमाप्रपञ्चे।'—वही, ४।२।१४।

उल्लेख किया है, जिसमें शब्ददोष दोष नहीं रह जाते। उनका कथन है कि जहाँ अनुकरण किया गया हो, वहाँ असमर्थ्यादि किसी भी दोष का आगम नहीं हो पाता।^१ नमिसाधु ने इसका उदाहरण देते हुए विकटनितम्ब की सखी का वह कथन उद्धृत किया है, जिसमें वह उसके पति की भूखता का परिचय देने के लिए उसके अशुद्ध वाक्य का ठीक ठीक अनुकरण करती है।^२

रुद्रट ने कुछ विशिष्ट दोषों की भी वैसी स्थितियों की चर्चा की है, जहाँ उनका दोषत्व मिट जाता है। सम्प्रासम्प्रायवाची पद के सम्य अर्थ में प्रयुक्त होने में रुद्रट ने जो 'ग्राम्य' माना है, उसकी अनित्यता की सूचना देते हुए उनका कथन है कि अर्थविशेष या विभक्ति-विशेष के कारण कोई सम्प्रासम्प्रायवाची पद अपना ग्राम्यत्व छोड़ देता है।^३ उनके उदाहरण में 'किल्ल', 'गण्ड' तथा 'विशांपते' पदों की ग्राम्यता उनके अनुसार इसलिए छूट जाती है कि इनका बोर रस के प्रसंग में गज-वर्णन से सम्बन्ध है।^४ यही अर्थ की विशेषता है, जिसके कारण उक्त पद दोषावह नहीं रह जाते। रुद्रट ने 'असमर्थ' के उस भेद की अनित्यता का भी प्रतिपादन किया है, जिसमें अनेकार्थवाची शब्दों के प्रयोग से अर्थनिश्चय नहीं होता। उनका कथन है कि जहाँ अभिनय द्वारा या प्रकरण से या शब्दान्तर से अर्थ-निश्चय हो जाय, वहाँ उक्त 'असमर्थ' दोष नहीं होता।^५ 'अधिक पद' या 'पुनरुक्त' दोष के अनित्यत्व का भी रुद्रट ने विस्तार से प्रतिपादन किया है। जहाँ वक्ता का मन हर्षमयादि से आक्षिप्त हो अथवा वह किसी की स्तुति या निन्दा कर रहा हो, तो वहाँ किसी पद का बार-बार प्रयोग पुनरुक्त दोष नहीं माना जा सकता।^६ इसी प्रकार जहाँ पद की पुनरुक्ति होते हुए भी दूसरी बार दूसरा अर्थ विवक्षित हो या वीप्सा में पद की पुनरुक्ति हुई हो, तो रुद्रट के अनुसार 'पुनरुक्त'

१. "अनुकरणभावमविकलमसमर्थ्यादि स्वरूपतो गच्छन्।

न भवति बुष्टमतादुग्विपरोतकिलष्टवर्णं च॥"

—रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।४७।

२. "यथा विकटनितम्बायाः पतिभनुकुर्वाण सखी प्राह—'काले माघं सस्ये मासं
वदति शकाशं यत्वं सकाशम्। उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा।"

—वही, पृ० ७३।

३. "अर्थविशेषवशाद्वा सम्भेदपि तथा क्वचिद्विभक्तेर्वा।

अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि॥"

—रुद्रट-कृत काव्यालंकार, ६।२३।

४. वही, ६।२४।

५. "यत्पदमभिनयसहितं कुस्तेऽर्थविशेषनिश्चयं सम्यक्।

नैकमनेकार्थतया तस्य न बुध्येतसामर्थ्यम्॥"—वही, ६।८।

६. "वक्ता हर्षमयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निन्दन्।

यत्पदमसकृद्ब्रूयात्तत्पुनरुक्तं न दोषाय॥"—वही, ६।२९।

दोष नहीं होता।^१ उन्होंने यह भी कहा कि जहाँ एक बार कहने से वस्तु की प्रतिपत्ति न हो सके, वहाँ उसकी प्रतिपत्ति के लिए पद की पुनरुक्ति दोषाघायक नहीं होती।^२ प्रशंसार्थ अर्थाधिक्य-सूचक पद का प्रयोग भी दोष-स्वरूप नहीं है।^३ वाक्य की असम्बद्धता के अदोषत्व के सम्बन्ध में रुद्रट का कथन है कि जिस वाक्य में वक्ता अनेकार्थवाचक पदों का कहता हुआ स्वयं अनेक अर्थों की आलोचना कर रहा हो, वहाँ उन पदों का असंगति दोष नहीं माना जाता।^४ अर्थ की असम्बद्धता को उन्होंने उस स्थल पर दोष-स्वरूप नहीं माना है, जहाँ वक्ता उन्माद या मूर्खता या उत्कण्ठ के वश असम्बद्ध प्रलाप कर रहा हो।^५ दूसरे के कथन का असंगति दिखाने के क्रम में दृष्टान्त-स्वरूप यदि वक्ता अपना कोई असंगत कथन उपस्थित करे, तो वहाँ भी दोष नहीं होता।^६

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि रुद्रट का दोष-अनित्यता-प्रतिपादन पिछले सारे आचार्यों से अधिक विशद एवं मौलिक है। अनुकरण को दोष की अनित्यता का आधार संस्कृत-काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम उन्होंने ही निर्दिष्ट किया है। दोषों की अनित्यता के आधार-स्वरूप 'अनित्य-तत्त्व' को जितना प्रश्रय रुद्रट ने दिया है, उतना पिछले आचार्यों द्वारा नहीं मिल सका था। वक्ता, विषय, अर्थ, भाव तथा उद्देश्य के औचित्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने दोषों की अनित्यता प्रदर्शित की है।

आनन्दवर्धन ने दोषों की नित्यता-अनित्यता की विचारधारा में अद्भुत परिवर्तन उपस्थित किया। दोष-लक्षण के प्रकरण में कहा जा चुका है कि उन्होंने रसव्यव्यात्मकता की दृष्टि से ही दोषों का दोषत्व स्वीकार किया है।^७ श्रुतिकटु आदि दोषों की अनित्यता

१. "यत्पदमर्थेऽन्यस्मिस्तत्पर्यायोऽथवा प्रयुज्येत।

बोप्सायां च पुनस्तत्र दृष्टमेव प्रसिद्धं च॥"

—रुद्रटकृत काव्यालंकार, ६।३२।

२. "यत्र प्रतिपत्ता वा न प्रतिधेत वस्तु सकृदुक्तम्।

तत्र पदं वाक्यं वा पुनरुक्तं नैव दोषाय॥"—वही, ६।३४।

३. "अन्याभिधेयमपि सत्प्रयुज्यते यत्पदं प्रशंसार्थम्।

तस्य न दोषाय स्यादाधिक्यं पोनरुक्त्यं वा॥"—वही, ६।३६।

४. "यस्मिन्नेकमर्थं स्वयमेवालोचयेत्तदर्थानि।

जल्पन्पदानि तेषामसङ्गतिर्नैव दोषाय॥"—वही, ६।३८।

५. "अभिधेयस्यातथ्यं तदनुपपन्नं निकाममुपपन्नम्॥

यत्र स्युर्वक्तृणामुन्मादो मोह्यमुत्कण्ठः॥"—वही, ११।२०।

६. अत्यन्तमसम्बद्धं परमतमभिधानुमन्यदश्लिष्टम्।

सङ्गतमिति यद्ब्रूयात्तत्रायुक्तिर्न दोषाय॥"—वही, ११।१८।

७. देखिए, इसी पुस्तक के पंचम अध्याय का 'आनन्दवर्धन'-प्रकरण।

की व्याख्या इसी आधार पर उन्होंने की है, यह देखा जा चुका है।^१ रसभंग का मूल कारण अनौचित्य मानते हुए उन्होंने अलंकारानौचित्य, वृत्त्यनौचित्य आदि का प्रतिपादन किया है, यह भी प्रदर्शित हो चुका है।^२ रस, ध्वनि और औचित्य का आधार बनाकर उन्होंने रस-विरोध-परिहार का दिस्तृत प्रतिपादन किया है, जिसे उनका रसदोषों का अनित्यत्व-प्रतिपादन समझना चाहिए। परवर्ती आचार्यों ने इस प्रकरण से प्रेरणा ली है, यह यथा-स्थान दिखाया जायगा।

आनन्दवर्धन का कथन है कि विधिश्रित रस के पुष्ट हो जाने पर बाध्य रूप अथवा अंगता रूप को प्राप्त विरोधियों का कथन दोष-रहित होता है^३; क्योंकि विरोधी रसों का बाध्यत्व अभिन्न सम्भव होने पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।^४ अतएव उनका उक्त स्थिति में बाध्य रूप-वर्णन प्रस्तुत रस के पोषक ही होता है। अंगभाव प्राप्त होने पर तो विरोध समाप्त हो जा जाता है।^५ आनन्दवर्धन की दूसरी मान्यता यह है कि विधि-अंश में दो विरोधी रसों का समावेश दोष-स्वरूप होता है, अनुवाद में नहीं।^६ नायक के प्रभावातिशय-वर्णन में उसके शत्रुओं से सम्बद्ध करण रस आनन्दातिशय का ही कारण बनता है, दोष नहीं माना जाता।^७ इसी प्रकार वाक्यार्थ-रूप किसी करण रस के विषय को भंगविशेष से वाक्यार्थ-रूप शृंगार-विषय के साथ जोड़ देने पर दोष नहीं होता, रस-परिपोष ही होता है; क्योंकि स्वभावतः सुन्दर पदार्थ शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो जाने पर पूर्व अवस्था के सौन्दर्य के स्मरण से और भी अधिक शोकावेग उत्पन्न करते हैं^८; जैसे

१. वही, पाद-टिप्पणी-संख्या ३०।

२. देखिए, इसी पुस्तक के पष्ठ अध्याय का 'आनन्दवर्धन'-प्रकरण।

३. "विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्।

बाध्यज्ञानङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥"—ध्वन्यालोक, ३।२०।

४. 'बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्यानिभवत्वे सति नान्यथा।'—वही, पृ० २९६।

५. 'तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते।'—वही, पृ० २९६।

६. 'अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनुद्यमानत्वेन समावेशे न विराधस्तथेहापि भविष्यति।'—वही, पृ० ३०५।

७. "किञ्च नायकस्याभिनन्दनीयदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करणरसः स परीक्षकाणां न वैकल्यमादधाति प्रत्युत प्रोत्पत्तिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते।"—वही, पृ० ३०९।

८. "अथवा वाक्यार्थभूतस्यापि कस्यचित् करणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुनः भङ्गविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिभङ्गुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरङ्गि तरं शोकावेगमुपजनयन्ति।"—वही, पृ० ३१०।

महाभारत में भूरिश्रवा के मरने पर युद्ध में पड़े उसके कटे और अलग पड़े हुए हाथ को देखकर उसकी पत्नी के किये गये विलाप में स्मरण के रूप में शृंगार का वर्णन आया है।^१ आनन्दवर्धन ने रसविरोध-परिहार का एक अन्य उपाय यह बताया है कि स्थायी रस का जो एकाधिकरण्य रूप से विरोधी हो, उसको विभिन्नाश्रय कर देना चाहिए, फिर उसके परिपोष में कोई दोष नहीं है।^२ उन्होंने विरोधी रस दो प्रकार का माना है—१. एकाधिकरण्य-विरोधी, और २. नैरन्तर्य-विरोधी।^३ प्रथम का अर्थ है समान अधिकरण, यानी आश्रय में रहना। ऐसे विरोधी रसों को विभिन्न आश्रय में कर देने से दोष नहीं होता। जहाँ निरन्तर समावेश-रूप विरोधी रस हो, उसके बीच में अविरोधी रस के वर्णन से उसको व्यद्विहित कर देना चाहिए।^४ आनन्दवर्धन के अनुसार शिष्यों को प्रवृत्त करने की दृष्टि से या काव्य की शोभा के लिए शृंगार के विरोधी शान्तादि रसों में उसके (शृंगार के) अंगों का स्पर्श दूषित नहीं होता।^५ उनका निर्देश है कि दाच्य और दाचक की, रसादिविषयक औचित्य की दृष्टि से योजना करना महाकवि का मुख्य कर्म है।^६

अमिनदगुप्त ने नाट्यशास्त्रीय दोषों को नित्य एवं अनित्य के रूप में बाँटा है। वे 'अपशब्द' को नित्यदोष मानते हैं और कुल को अनित्य।^७ गूढलेख, प्रहेलिका, पताका-स्थानक आदि में 'गूढार्थ', अनुवाद में 'अर्थान्तर', हास्य में 'अर्थहीन', श्रोत्रिय आदि द्रवता होने पर 'मिन्नार्थ', पर प्रत्यायन में 'एकार्थ' तथा उन्मादादि में 'अभिप्लुतार्थ' दोष नहीं होते, यह अमिनदगुप्त की सम्मति है।^८ उनका कहना है कि उक्त दोषों की सत्ता में भी अर्थ की

१. "अयं स रशनोत्कर्षो पोनस्तनविमर्दनः।

नाभ्यूहजघनस्पर्शी नीवोविलसितः करः॥"—ध्वन्यालोक, पृ० ३१०।

२. "विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधो स्थायिनो भवेत्।

स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेप्यदोषता॥"—वही, पृ० ३१५।

३. 'एकाधिकरण्यविरोधो नैरन्तर्यविरोधो चेति द्विविधा विरोधो।'—वही, पृ० ३२१।

४. "एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्यं विरोधवान्।

रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो सुभेद्यसा॥"—वही, ३१६

५. "विनेयानुन्मुखोक्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।

तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदंगानां न दुष्यति॥"—वही, ३३०

६. "वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।

रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः॥"—वही, ३३२

७. 'एतन्नध्ये तु केचित् नित्यदोषाः, यथा अपशब्दः केचिद् नित्याः।'

—नाट्यशास्त्रः अमिनदगुप्त की टीका, पृ० ३३३।

८. "यथा च गूढार्थगूढप्रहेलिकादि पताकास्थानकादिषु प्रयोज्यम् अर्थान्तरमनुवादे अर्थहोनादि हास्ये अभिप्लुतार्थमुन्मादो।"

—वही, पृ० ३३३

प्रतीति होती है, 'अपशब्द' रहने पर तो कोई अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अतः उसे नित्य दोष मानना चाहिए। 'ग्राम्य' को उन्होंने हास्यादि में इष्ट बताया है, जिससे सिद्ध है कि उक्त दोष की अदोषता ही नहीं, गुणरूपता भी उन्हें मान्य है।

दोषों का भोज-कृत अनित्यता-विवेचन संस्कृत-काव्यशास्त्र में सर्वाधिक विपुल है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की एतत्सम्बन्धी विचारणाओं का समाहार करते हुए उन्होंने अपनी ओर से भी कुछ योगदान किया है। उनकी संग्रह-वृत्ति विस्तार की ओर अधिक उन्मुख है। उन्होंने 'शृंगारप्रकाश' में संक्षिप्ततः और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में विस्तार से दोषों की अनित्यता प्रतिपादित की है।

'शृंगारप्रकाश' में भोज ने दोष-परिहार अनौचित्य परिहार से सम्भव कहा है। स्पष्ट है कि दोषों की अनित्यता उन्होंने औचित्य पर आधृत मानी है। पिछले आचार्यों की तरह भोज कुछ दोषों को नित्य एवं कुछ को अनित्य मानने के पक्ष में नहीं हैं। वे सभी दोषों को अनित्य ही मानते हैं। उन्होंने प्रत्येक दोष के अदोषत्व तथा गुणत्व को प्रदर्शित किया है। वे दोष की अनित्यता का अर्थ अदोषता-मात्र नहीं लेते, गुणत्व भी ग्रहण करते हैं। उन्होंने बाह्यगुण (शब्दगुण) तथा आन्तर गुण (अर्थ-गुण) से भिन्न वैशेषिक गुण की एक तीसरी कोटि मानी है, जिसे वे दोष-गुण कहते हैं और जो दोषों के गुण-रूप-परिवर्तन हैं। काव्य में इन तीन प्रकार के गुणों को उन्होंने कामिनी के गुणों के दृष्टान्त से अच्छी तरह समझाया है। किसी भी सुन्दरी के बाह्य गुण हैं—उसका यौवन, स्वास्थ्य, उम्र, शारीरिक गठन, सौन्दर्य आदि; उसके आन्तरिक गुण हैं—विनय, क्षील आदि; पर सामान्या (वैश्या) के लिए अविनय ही गुण है। अतः स्थितिविशेष में दोष गुण हो जाते हैं। भोज ने 'सरस्वती-

१. "इह यतोऽर्थप्रतीतिस्तावदस्ति अपशब्दस्तुदोष एव ततः कस्याश्चिदर्थप्रतीतेर भावात्।" नाट्यशास्त्र : अभिनवगुप्त की टीका,—पृ० ३३३

२. 'ग्राम्य हास्यादो तस्येष्टतमत्वात्।' —वही, पृ० ३३३

३. "तत्र दोषहानम् अनौचित्यादिपरिहारेण।"

—'भोजाज शृंगारप्रकाश' में उद्धृत, खण्ड २, अध्याय ११, पृ० ४१०

४. देखिए, 'सरस्वतीकण्ठाभरण', पृष्ठ ८६-१३९।

५. "त्रिविधाश्च गुणाः काव्ये भवन्ति कविसम्मताः।

बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये च वैशेषिका इति॥

बाह्याः शब्दगुणास्तेषु चान्तरास्त्वर्यसंश्रयाः।

वैशेषिकास्तु ते नूनं दोषत्वेऽपि हि ये गुणा॥"

—वही, पृ० ४९

६. "तत्र अन्वयावयोरूपलाभ्यादयो बाह्याः शीलवैदग्ध्यमाहाभाग्य सौभाग्यादयः आन्तराः। ये तु दोषा अपि आश्रयविशेषाद्युपाधेः गुणत्वमाश्रयन्ते ते वैशेषिकाः। यथोच्यते—सामान्यसुन्दरीणां विभ्रमावहृत्यविनय एव।

धूमोच्चयः प्रज्वलितानां बहुमतः सुरभिहारणाम्।"

—भोज : 'शृंगारप्रकाश', २-२, पृ० २११-२१२

कण्ठाभरण' में निरूपित अपने अड़तालीस दोषों में से प्रत्येक का गुणत्व प्रतिपादित किया है। इस विवेचना के क्रम में वे मामह, दण्डी, दामन, रुद्रट तथा आनन्दवर्धन जैसे विचारकों के विचारों का ग्रहण करते हैं।^१

भोज के अनुसार अनुकरण 'में' 'असाध' और 'अप्रयुक्त', दुर्वचन में 'कष्ट', यमक में 'अनर्थक', प्रहेलिका में 'अन्यार्थक' तथा 'नेयार्थ'। छन्दोनुरोध में 'अपुष्टार्थ', दिङ्मत्-सम्भाषण में 'अप्रतीत' तथा महाकविनिबद्ध होने पर 'देय' दोष न रहकर गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं।^२ 'ग्राम्य' का गुणत्व उन्होंने उसी आधार पर दिखाया है, जिस आधार पर दामन ने 'अदलीलता' की अदोषता प्रदर्शित की है।^३ प्रकरण से अर्थ-निश्चय होने पर 'सन्दिग्ध' को उन्होंने गुण माना है।^४ 'दिरोधी' कथन ही उद्दिष्ट रहने पर 'दिरुद्ध' को भी गुण माना है।^५ स्वरूप-मात्र दक्तव्य में 'अप्रयोजक', अप्रसिद्धार्थ-सम्बन्ध की व्याख्या करनेवाले शब्द के रहने पर 'गूढार्थ', जल्दी से अर्थ-प्रतीति हो जाने पर 'क्लिष्ट' और सीकृतादि में 'असमर्थ' का गुणत्व उन्होंने प्रतिपादित किया है।^६ इस प्रकार सोलहों पद-दोषों का गुणत्व-साधन दिखाकर उपसंहार में भोज ने मामह की तरह कहा है कि आश्रय-सम्बन्ध से असुन्दर भी शोभा प्राप्त कर लेता है, जिस प्रकार सुन्दरी की आँख से लगकर काजल।^७ आश्रय-सम्बन्ध की व्याख्या भोज ने रसौचित्य के रूप में की है।^८

भोज ने अपने काव्यदोषों का गुणत्व इन स्थितियों में बताया है—'दिवक्षा से' 'अप-मापण' (शब्दहीन) यत्न किये जाने पर 'क्रमभ्रष्ट' दुर्वचन एवं प्रगृह्यादि में 'दिसन्धि' अनु-कम्पाद्यतिशय में 'पुनरुक्तिमत', अनेक वक्ताओं के प्रश्नोत्तर के रूप में काव्यमिश्रण रहने पर 'संकीर्ण', रसान्तरतिरस्कार में 'काव्यगमित', धीमानों के अनुद्वेग में 'मिन्नलिंग' तथा 'मिन्नवचन',^९ प्रसिद्ध रहने पर 'न्यूनोपम', जल्दी से उपमेय-विशेष के सन्धान हो जाने पर 'अधि-कोपम', तीव्र प्रयत्न से उच्चारण करने पर गुरु के लघु बना देने पर 'भग्नच्छन्द', स्वर

१. देखिए, पृ० ९४, ९७, १०१, १०५ तथा १३२ पर क्रमशः सामान्यतः दोषों की गुणरूपता में सन्निवेश-विशेष को महत्त्व देने में एधं विसन्धि, सन्दिग्ध तथा विरस-दोषों की गुणरूपता की स्थितियों की चर्चा।

२. वही, पृष्ठ ८६, ९३, ९७।

३. वही, पृष्ठ ९१—१०१।

४. वही, पृष्ठ ९४।

५. वही, पृष्ठ ९५।

६. भोज : 'शृंगारप्रकाश', पृ० ९०, ९१, ९२ तथा ९६।

७. "किञ्चिदाश्रयसम्बन्धाद्धत्ते शोभासाम्यवपि।

कान्ताविलोचने न्यस्तं मलोमसन्निवाञ्जनम्॥"

—वही, पृ० १०२

८. 'अत्राश्रयस्य बोधत्तरसोचिततावत् अदोषः।'

—वही

सन्धिकृत होने पर और नामधातु तथा शरीर के भाग न किये जाने पर 'भग्नयति' और क्रिया की अपेक्षा न रहने पर 'अशरीर'।^१ 'व्याकीर्ण' की गुणत्व प्रदान करनेवाली विशेषता का उल्लेख भोज ने नहीं किया है, केवल इतना कहा है कि कहीं-कहीं यह दोष गुण भी हो जाता है।^२ 'अपद' के विषय में उनका कथन है कि भाषाचित्र में (भाषा का विचित्रता दिखाने में) यह निषिद्ध न होकर विधेय हो जाता है।^३ अरीतिमत् का गुणत्व उनके अनुसार इस दृष्टि से है कि इसके द्वारा संकेतित गुणविपर्ययात्मक दोष मार्गविशेष में ही दोष हैं, गौड़ीयों द्वारा आहृत होने के कारण वे वहाँ गुण हैं।^४

अपने वाक्यार्थ-दोषों के गुणत्व के सम्बन्ध में भोज का कथन है कि उन्मत्त वचन में 'अपार्थ', रसाक्षिप्त वक्ता का कथन रहने पर 'एकार्थ' अलंकार होने पर 'ससंशय', चित्र-हेतु में (हेतु वचन द्वारा प्रकृत वाक्यार्थ का पोषण) अपक्रम, छायाहीन न होने पर 'द्विज्ञ', वार्त्ता में 'अतिमात्र', विरुद्ध लक्षणा से अर्थान्तर पर लक्षित होने पर 'परुष', अप्रधानता से अप्रस्तुत रस के ग्रहण में 'विरस', रागातिशय में 'हीनोपम', शिष्टादृत होने पर 'अधि-कोपम', व्यतिरेक में 'असदृशोपम', और्जित्य में निरलंकार तथा कवि-कौशल के कारण 'विरुद्ध' अपना दोषत्व छोड़कर गुणत्व प्राप्त कर लेते हैं।^५ 'अस्लील', 'अप्रसिद्धोपम' तथा 'व्यर्थ' की गुणवत्ता प्राप्त करनेवाली स्थितियों का विशेषतः भोज ने संकेत नहीं किया है, केवल इतना कहा है कि ये कहीं-कहीं दोष नहीं रह जाते।^६

उपर्युक्त दोषों की गुणरूपता दिखाने में भोज को बहुत खींच-तान करनी पड़ी है। कुछ दोषों में तो उनका प्रयत्न उपहासास्पद प्रतीत होता है। दोष-लक्षण के निषेध में तो दोष की सत्ता ही नहीं हो सकती। फिर उसके गुणत्व की बात उठाना बेकार है। भोज ने कुछ दोषों का गुणत्व उनके लक्षण-निषेध पर आधृत किया है, जैसे 'विलुप्त' का। कुछ में 'धीमानों' के अनुद्वेग को उन्होंने महत्त्व दिया है।^७ यह तो सामान्य बात है, जो किसी भी दोष के सम्बन्ध में लागू है। दूसरे, अनुद्वेग होने पर दोष की अदोषता सिद्ध हो सकती है न कि गुणत्व। इन सीमाओं के रहते हुए भी भोज का यह प्रयास इस दृष्टि से प्रशंसार्ह है

१. वही, पृ० १०३—१२१।

२. 'तद् व्याकीर्णं विबुस्तस्य न दोषः क्वापि तद् यथा।'

—वही, पृ० १०७

३. 'अपदं तस्य चानुशा भाषाचित्रे विधोयते।',

—वही, पृ० १०९

४. वही, पृ० १२२—१२६।

५. वही, पृ० १२६—१३६।

६. वही, पृ० १२८, १३४ तथा १३५।

७. "अर्थप्रतीतिरुद् द्वरे विलुप्तं नाम तदुच्यते।

झटित्यर्थप्रतीतो तत् मुजत्वमनुगच्छति॥"

—वही, पृ० ९१

८. वही, पृ० ११५।

कि उन्होंने औचित्य के व्यापक आधार पर अपने विवेचन को प्रतिष्ठित किया है। उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इन दोषों का अलग प्रतिपादन नहीं करने पर भी उन्होंने रसौचित्य को दोषों के गुणत्व-साधन में महत्त्व दिया है। 'विरस' नामक दोष में तो प्रत्यक्षतः इसकी स्वीकृति है।

मम्मट ने सामान्यतः अनुकरण में सभी दोषों को अनित्य माना है।^१ इसके अतिरिक्त वे कुछ दोषों की उन विशिष्ट स्थितियों की भी चर्चा करते हैं, जिनमें उनका दोषत्व तिरोभूत हो जाता है। 'अपुष्ट' दोष की अदोषता बनाने में उन्होंने वामन के एकार्थ-दोष के अनित्यता-प्रतिपादन को बहुलांशतः स्वीकार कर लिया है। उन्हीं की तरह वे भी कर्णवर्तसादि पद में दोषत्व नहीं मानते और इसका कारण 'सन्निधानादि अर्थ-बोध' बताते हैं।^२ वामन की तरह वे भी स्थित प्रयोगों में ही वैसे पदों की अदोषता स्वीकार करते हैं, सभी नये प्रयोगों में नहीं।^३ 'निर्हेतु' की अदोषता वे ख्यात अर्थ में बताते हैं।^४

मम्मट ने दोषों की अनित्यता के दो अन्य रूप बताये हैं—१. गुणरूपता, और २. अदोषगुणता, जिनका आधार उन्होंने वक्ता आदि का औचित्य माना है।^५ वक्ता, बोद्धव्य, व्यंग्यार्थ, वाच्य तथा प्रकरण के वैशिष्ट्य से 'कष्ट' की गुणरूपता को उन्होंने उदाहृत भी किया है।^६ श्लेषादि में 'अप्रयुक्त' तथा 'निर्हेतु' की अदोषता तथा सुरतारम्भ गोष्ठी में व्रीडा-व्यञ्जक, शमकथा में जुगुप्सा-व्यञ्जक तथा भावी सूचना में अमंगल-व्यञ्जक 'अश्लील' का गुणभाव भी उन्होंने प्रदर्शित किया है।^७ सन्दिग्ध के गुणभाव के सम्बन्ध में उनका कथन है कि वाच्य की महिमा (शक्ति) से प्रकृत अर्थ का निश्चय व्याज-स्तुति अलंकार के रूप में स्थित संशय में हो जाता है।^८ वक्ता-श्रोता दोनों के समझ जाने पर^९

१. 'अनुकरणे तु सर्वेषाम् ।'

—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० २५

२. 'कर्णवर्तसादि पदे कर्णादिध्वनिनिर्मितिः । सन्निधानादिबोधार्थम् ।'—वही, पृ० २४७

३. 'स्थितेष्वेतत्समर्थनम् ।'

—वही, पृ० २४९

४. 'ख्यातेर्हे निर्हेतोर दुष्टता ।'

—वही, पृ० २५०

५. 'वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचिन्नोभौ ।'

—वही, पृ० २५१

६. (क) वही, पृ० २५२-२५३ ।

(ख) 'क्वचिन्नोरसे न गुणो न दोषः ।'

—वही, पृ० २५३

७. 'अप्रयुक्तनिर्हेतौ' श्लेषादावदुष्टौ ।'

—वही, पृ० २५४

८. वही, पृ० २५५-२५६ ।

९. 'सन्दिग्धमपि वाच्यमहिम्ना क्वचिन्नित्यार्थप्रतीतिकृत्वेन व्याजस्तुतिवर्यकसायित्वे गुणः ।'

—वही, पृ० २५६

१०. 'प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोर्ज्ञत्वे सत्यप्रतीतत्वं गुणः ।'

—वही

तथा स्वयं परामर्श करने पर 'अप्रतीत' का एवं अवयव प्रकृति की उक्ति रहने पर 'ग्राम्य' का गुण-भाव भी उन्होंने सूचित किया है।^१ स्थिति-विशेष में 'न्यूनपद' एवं वक्ता के हर्षोत्फुल्ल रहने पर 'अधिकपद' गुण बन जाते हैं,^२ यह उनकी सम्मति है। लाटानुप्रास, अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य और विहित के अनुवाद्य हो जाने पर 'कथितपदता' का गुणत्व भी उन्होंने बताया है।^३ इनके अतिरिक्त 'पदप्रकर्ष', 'समाप्तपुनरास्त', 'अस्थानस्थसमास' तथा 'गमित' की भी गुणत्व-प्राप्ति मम्मट ने उदाहृत की है।^४ उपसंहार के रूप में उनका कथन है कि इसी प्रकार अन्य दोषों की भी गुणत्व-प्राप्ति या अदोषता स्वयं समझ लेनी चाहिए।^५ इससे लगता है कि वे सभी दोषों की अनित्यता के पक्ष में थे।

केवल शब्दार्थ-दोषों की ही नहीं, रसदोषों के दोष-परिहार का भी मम्मट ने उल्लेख किया है। स्थिति-विशेष में संचारी भाव के स्वशब्दवाच्यत्व के अदोषत्व का उदाहरण उन्होंने दिया है।^६ इसी प्रकार उन्होंने बताया है कि प्रकृत रसविरुद्ध व्यभिचारियों का उपादान कहीं-कहीं बाधक न होकर बाध्य रूप से प्रतीत होने पर गुणत्व प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उससे प्रकृत रस का पोषण ही होता है।^७ प्रकृत रसविरुद्ध विभाव के ग्रहण का, बाध्य रूप से रहने पर, गुणत्व भी उदाहृत हुआ है।^८ रस-परिहार का आनन्दवर्धन द्वारा निर्दिष्ट उपाय मम्मट ने भी उल्लिखित किया है।^९ यह विरोध-शमन उन्होंने प्रबन्ध ही नहीं, मुक्तक में भी ग्राह्य बताया है, चूँकि उनके अनुसार वहाँ भी रसविरोध की स्थिति सम्भव है,^{१०} इसके अतिरिक्त मम्मट का कथन है कि प्रकृत रस का विरोधी रस यदि उसके साथ

१. 'स्वयं वा परामर्शो।' --वही, पृ० २५७
२. 'अवयवप्रकृत्युक्तिगुणग्राम्यो गुणः।' --वही
३. 'न्यूनपदं वचिद्गुणः।' --वही, पृ० २५८
४. 'अधिपदं वचिद्गुणः... इत्येवमादौ हर्षभयादियुक्ते वक्तरि।' --वही, पृ० २५९
५. 'कथितपदं वचिद्गुणः लाटानुप्रासे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये विहितस्यानुवाद्यत्वे च।' --वही

६. वही, पृ० २६०-२६१।
७. 'एवमप्यदपि लक्ष्यालक्ष्यम्।' --वही, पृ० २६१
८. वही, उदाहरण-संख्या ३३०, पृ० २७१।
९. 'सञ्चायदिविरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।' --वही, ७।६३
१०. वही, उदाहरण-संख्या ३३३।
११. "आश्रयैक्यो विरुद्धोयः स कार्यो भिन्नसंश्रयः।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रसः॥" --वही, ७।६४
१२. 'न परं प्रबन्धे यावदेकस्मिन्नपि वाक्ये रसान्तरव्यवधिना विरोधो निवर्तते।' --वही, पृ० २७६

स्मृति-रूप से उपनिबद्ध हो या साम्य रूप से विवक्षित हो, तो वह रसदोष का उदाहरण नहीं होता।' यदि परस्पर-विरुद्ध रस किसी प्रकृत-प्रधान रस का अंगत्व प्राप्त करें, तब भी उनका विरोध मिट जाता है।' इस प्रसंग में मम्मट की महत्त्वपूर्ण मान्यता यह है कि उन्होंने रसविरोध-परिहार-प्रसंग में 'रस' शब्द का अर्थ स्थायी भाव बताया है, चूँकि उनके अनुसार वास्तविक रसानुभूति में विरोध-अविरोध की चेतना उठ नहीं सकती।'

अग्निपुराण में भी दोष-मार्जन पर थोड़ा विचार किया गया है। 'अप्रसिद्ध', विरुद्ध आदि न्याय-दोष काव्य में प्रतिपादित होने पर दोष नहीं रह जाते, ऐसा कहा गया है।' ग्यारह प्रकार के निरर्थकत्व को भी दुष्कर स्थलों पर दोष नहीं माना गया है।' दुष्कर स्थल में गूढार्थता और लोकशास्त्र में प्रसिद्ध ग्राम्यता को दोष नहीं स्वीकार किया गया है।' क्रिया के अध्याहार रहने से क्रियाभ्रंश का अदोषत्व बताया गया है।' आक्षेप-बल से कारक का अध्याहार होने पर 'भ्रष्टकारक', दुर्वचन में 'विसन्धि', अनुप्रास में 'व्यस्त सम्बन्ध' तथा अर्थ-संग्रहण-काल में व्युत्क्रम को दोष नहीं माना गया।' यह भी कहा गया है कि उपमेय और उपमान के पृथक् लिंग रहने पर विभक्ति-दोष, संख्या-दोष और लिंगदोष उद्भेग-कारक नहीं होते।'

हेमचन्द्र का दोष-अनित्यता-विवेचन अधिकांशतः पूर्ववर्त्ता आचार्यों के एतत्सम्बन्धी मतों का संग्रह है। प्रधानतया उनके उपजीव्य मम्मट हैं। संचारी भाव की स्वशब्दवाच्यता

१. 'स्वर्यमाणो विरुद्धापि साम्येनाय विवक्षितः।' —वही, पृ० ७।६५
२. 'अङ्गिन्यङ्गत्वनाप्तो यो तो न दुष्टो परस्परम्।' —वही, ७।६५
३. "प्रज्ञप्रतिपादितस्य रसस्य रसान्तरेण न विरोधः नाप्यङ्गाङ्गिभावो भवति इति रस-शब्देनात्र स्यायिभाव उपलक्ष्यते।" --वही, पृ० २८१
४. देखिए, अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० ९०।
५. 'एकादशनिरर्थत्वं दुष्करादो न बुध्यति।' --वही
६. "दुःश्चाकरोति दोषज्ञानगूढार्थत्वं न दुष्करे।
न ग्राम्यतोद्भेगकारो प्रसिद्धेलोकिशास्त्रयोः॥" --वही, पृ० ९१
७. 'क्रियाभ्रंशे न लक्ष्मास्ति क्रियाध्याहारयोगतः।' --वही
८. "भ्रष्टकारकताक्षेपबलाध्याहृतकारके
प्रगृह्यते गृह्यते नैव क्षतं विगतसन्धिना॥
कष्ट पाठाद्विसन्धित्वं दुर्वचादो न दुर्मगम्।
अनुप्रासे पदावृत्तिर्व्यस्तसम्बन्धिता शुभा॥
नाथ संग्रहणे दोषो व्युत्क्रमाद्यनं लिप्यते।" —वही
९. वही, ११।२९।

तथा प्रतिकूल विभावादि-ग्रहण का अदोषत्व-प्रतिपादक मम्मट का अनुकरण है।^१ 'निरर्थक', 'असाधु', 'क्लिष्ट' तथा 'संकीर्ण' के सम्बन्ध में भोज का अनुवर्तन है।^२ 'अश्लील' एवं 'श्रुतिकटु' की गुणरूपता के सम्बन्ध में वही दातें कही गई हैं, जो मम्मट-निर्दिष्ट हैं।^३ 'अविक पद' के गुणभाव के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह मम्मट द्वारा 'कथितपद' के प्रकरण में निर्दिष्ट है।^४ 'न्यूनपद', 'समाप्तपुनरात्त', 'गर्भित', 'पतत्प्रकरण', 'विरुद्धबुद्धिकृत', 'असमर्थ' तथा 'व्यक्तपुनरात्त' की अनित्यता के उदाहरण-मात्र दिये गये हैं, कारणों की विवेचना नहीं है।^५ केवल चार दोषों की अनित्यता के सम्बन्ध में हेमचन्द्र ने जो कुछ कहा है, वह पूर्वदत्ता आचार्यों द्वारा अनुक्त है। 'भग्नप्रक्रम' के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि वक्ता आदि के औचित्य से यह दोष नहीं रह जाता।^६ विद्वपक की उक्ति में 'अप्रयुक्त' को उन्होंने गुण बताया है।^७ आकांक्षा नहीं रहने पर 'साकांक्ष' के दोषत्व का खण्डन किया है।^८ किन्तु, यह तो उक्त दोष-लक्षण का ही निषेध है। अतिशयोक्ति में 'अक्रमत्व' का गुणभाव हेमचन्द्र ने प्रदर्शित किया है।^९

जयदेव ने 'दोषां-कुश' के रूप में दोष-अनित्यता का उल्लेख किया है। जो निरन्तर विचार में आये हुए दोषों का तीन प्रकार से निवारण करे, वह जयदेव के मत में दोषां-कुश है।^{१०} दोष को निर्दोष कर देना, दोष को ग्राह्य बना देना और दोष को गुण बना देना—ये तीन दोषां-कुश के प्रकार हैं।^{११} जयदेव ने इनके उदाहरण के रूप में इन तीन दोषों का जिक्र किया है। विद्या-विरुद्धादि कवियों के संकेत से दोष-रहित हो जाते हैं^{१२}, निरर्थकादि दोष

१. देखिए, हेमचन्द्र-कृत काव्यानुशासन, पृ० १५९—१६१।
२. वही, पृ० २००, २०१, २१५ तथा २४२।
३. वही, पृ० २३१ तथा २४०।
४. वही, पृ० २०९।
५. वही, पृ० २०५, २१३, २१४, २१५, २३४, २६० तथा २७१।
६. 'यक्त्राद्यौचित्येन दोषः।' —वही, पृ० २२२
७. "विद्वपकोक्तौ गुणत्वम्।" —वही, पृ० २२७
८. 'यत्र त्वाकाङ्क्षा नास्ति तत्र न दोषः।' —वही, पृ० २६३
९. 'स्वस्तिदतिशयोक्ती गुणोः।' —वही, पृ० २६४
१०. "दोषमापतितं स्वान्तं प्रसरन्तं विशृङ्खलम्।
निवारयति यस्त्रेषा दोषाङ्कुशरुशन्ति तम्॥" —चन्द्रालोक, २।४०
११. "दावे गुणत्वं तनुते दोषत्वं वा निरस्यति।
भवन्तमथवा दावं नयत्यत्याज्यतामसो॥" —वही, २।४१
१२. 'कवीनां समयाद् विद्या विरुद्धो दोषतां गतः।' —वही, २।४३

श्लेषादि अलंकारों में ग्राह्य होते हैं^१ और ग्राम्यादि दोष हास्य रस में गुण बन जाते हैं।^२ दोष-अनित्यता के ये तीन प्रकार मम्मट-हेमचन्द्र द्वारा भी मान्य हैं।^३ अतः यह जयदेव की कोई नवीन कल्पना नहीं। उन्होंने तीन दोषों के अतिरिक्त अन्य दोषों की अनित्यता का भी स्वरूप निर्दिष्ट नहीं किया है।

विश्वनाथ अधिकांश दोषों के अनित्यता-प्रतिपादन में मम्मट, भोज, रुद्रट तथा जयदेव के एतत्सम्बन्धी विचारों का उपयोग करते हैं। उन्होंने भी दोष-अनित्यता के तीन प्रकार—गुणरूपता, अदोषगुणता और अदोषता के रूप में निर्दिष्ट किये हैं।^४ इन वर्गों में बाँटकर जिन दोषों का अनित्यता-प्रदर्शन विश्वनाथ ने किया है, उसमें मम्मट का बहुत प्रभाव है। क्रोधयुक्त रहने पर तथा वाच्य के उद्धृत रहने पर या रोद्रादि रस में दुःश्रवत्व का गुणभाव उन्होंने बताया है।^५ अनन्दमग्नता में 'न्यूनपद' की^६ तथा वक्ता-श्रोता के वैयाकरण रहने पर 'कष्टत्व' या दुःश्रवत्व की गुण-प्राप्ति उन्होंने प्रदर्शित की है।^७ इनका मम्मट ने अलग से उल्लेख नहीं किया है, पर वक्तादि के औचित्य की जो चर्चा उन्होंने दोषों की गुणरूपता के कारण-स्वरूप की है, उसमें ये संकेतित हैं ही।

गोविन्द ठक्कुर ने दोषों की अनित्यता-अनित्यता की व्याख्या इस प्रकार की : जिनका समाधान अनुकरण के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टि से न हो सके, वे नित्य दोष हैं और जिनका दूसरे प्रकार से भी समाधान हो सके, वे अनित्य दोष हैं।^८

बेशवमिश्र ने भोज का अनुकरण करते हुए गुण-विवेचन के प्रसंग में वैशेषिक गुणों का प्रतिपादन किया है, जो उनके दोष-गुण ही हैं। किन्तु भोज से उनकी विशिष्टता यह है कि उन्होंने वैशेषिक गुण का अभिप्राय अदोषत्व ही ग्रहण किया है।^९

१. 'अत्र श्लेषोदयान्नं व्याज्यं होति निरर्थकम्।' —चन्द्रालोक, २।४४
२. 'अत्र हास्यरसद्वेषे ग्राम्यत्वं गुणतां गतम्।' —वही, २।४४
३. काव्यप्रकाश, पृ० २५१ तथा काव्यानुशासन, पृ० २०१-२६०।
४. 'अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता।' —साहित्यदर्पण, पृ० २६३
५. "वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते।
रोद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥" —वही, ७।१६
६. 'उक्तावानन्दमग्न्यादेः स्यान्नूनपदता गुणः।' —वही, पृ० २५७
७. "वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि।
कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा... ॥" —वही, पृ० २५५
८. "स चायं द्विविधः—नित्योऽनित्यश्च। तत्रानुकरणादन्येन प्रकारेण समाधातुमशक्यो नित्यः।... अन्यादृशस्त्वनित्यः।" —काव्यप्रदीप, पृ० १७०
९. अलंकारशेखर।

दोषों के दोषत्व का आधार, उनकी दृष्टि में रसोत्पत्ति-प्रतिबन्धता ही है।^१ जहाँ उसका अभाव हो, वहाँ दोष का दोषत्व मिट जाता है। स्वमान्य दोषों की अदोषता की विशिष्ट स्थितियों की चर्चा के क्रम में केशवमिश्र ने दण्डी, रुद्रट, भोज तथा मम्मट से सामग्री ली है। उनकी निजी मान्यता कुछ ही दोषों के सम्बन्ध में प्रकट हुई है। ये दोष हैं—अवाचक, विसन्धि, व्याकीर्ण तथा यतिभंग। लक्षणादि में प्रथम, पादभेद में द्वितीय, सापेक्ष में तृतीय और समास में चतुर्थ का अदोषत्व उन्होंने बताया है।^२

पण्डितराज ने रस-विरोध-परिहार-वर्णन में तथा रचना के विशेष दोषों के निरूपण में आनन्दवर्धन की मान्यताओं को आधार बनाकर दोष-अनित्यता का संकेत किया है। उनकी अपनी दात एक ही है—जहाँ एक-से विशेषणों के प्रभाव से ही दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं, वहाँ उनका विरोध निवृत्त हो जाता है।^३ इसका उदाहरण भी पण्डितराज ने दिया है।^४

दोषों की अनित्यता पर हिन्दी में विचार करनेवाले प्रथम आचार्य चिन्तामणि हैं, जिन्होंने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' से चार दातें ग्रहण की हैं। ये चार दातें हैं—१. कर्णावतंस आदि पदों में कर्ण पद सन्निधान का बोध कराता है^५; २. हेतु के प्रतिबद्ध रहने पर निर्हेतुता दोष नहीं है^६; ३. अनुकरण होने पर सभी दोष दोषत्व छोड़ देते हैं^७ तथा ४. वक्तादि के औचित्य से दोष भी गुण हो जाते हैं।^८ स्पष्ट है कि काव्यप्रकाश के दोष-अनित्यता-सम्बन्धी विवेचन का यह अल्प अंश उद्धृत कर चिन्तामणि ने इस विषय की ओर संकेत-मात्र किया है, विस्तार में जाने की उनकी अभिरुचि नहीं रही।

कुलपति ने चिन्तामणि की अपेक्षा अधिक विस्तार से, सोदाहरण, गद्यात्मक टीका द्वारा दोष-समाधान का विचार किया। पर उनका उपजीव्य भी 'काव्यप्रकाश' ही है, जिसकी दोष-अनित्यता-सम्बन्धी कुछ दातों के अलावा सारी दातें उन्होंने ग्रहण कर ली हैं। छूटी हुई दातें इस प्रकार हैं : १. 'समाप्तपुनरात्त' की अदोष-दोषता तथा 'गर्भित्व' एवं 'अस्थान-

१. 'रसोत्पत्ति प्रतिबन्धक्यैवैतेषां दोषता।'

—काव्य प्रदीप

२. वही ।

३. "यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधो निवर्तते।"

—रसगंगाधर, पृ० ४९

४. "नितान्तं यौवनोन्मत्ता गाढरक्ताः सदाह्वे।

वसुन्धरां समालिङ्ग्य शरते वीर तेऽरयः॥"

--वही, पृ० ४९

५. कविकुलकल्पतरु, ४।९५।

६. वही, ४।९६।

७. वही, ४।९६।

८. वही, ४।९७।

२५

समासता' की गुणरूपता; २. रस-दोषों की अनित्यता (जैसे, संचारी की स्वशब्दवाच्यता और प्रतिकूल विभावादिके ग्रहण का दोष-परिहार एवं रस-विरोध-परिहार)।

कुलपति की विशेषता इस प्रसंग में इतनी ही है कि उन्होंने कहीं-कहीं मम्मट के आशय को उनसे ज्यादा स्पष्टता के साथ समझाया है। उदाहरणार्थ, 'कर्णवितंस, पद में 'कर्ण' के अदोषत्वं के सम्बन्ध में मम्मट ने जिस सन्निधानार्थ की दात कही है, उसपर कुलपति की टीका है—'यहाँ पर कानन आदि देकर यह शब्द पहने गहने के लिए कहे हैं। नहीं तो घर में घरे गहने की प्रतीति होती है।' मम्मट से कुलपति के विचार में एक अन्तर यह है कि कुलपति ने 'असमर्थ', अनुचितार्थ, निरर्थक तथा अवाचक को नित्य दोष मान लिया है,^१ जबकि मम्मट उनकी अनित्यता स्वीकार करते हैं।

सूरतिमिश्र ने 'दोषाङ्कुश' शीर्षक देकर दोषों का समाधान प्रस्तुत किया है।^२ 'दोषाङ्कुश' नाम जयदेव से गृहीत है। पदुमनदास ने केशवमिश्र का अनुसरण करते हुए वैशेषिक गुणों के रूप में दोष-अनित्यता की चर्चा की है।^३ इस प्रसंग में कोई मौलिक दात पदुमनदास ने नहीं कही है, केशवमिश्र को दुहराया-भर है। किन्तु, यह आवृत्ति भी अपूर्ण ही है, चूँकि आठ दोषों की अनित्यता का ही उल्लेख किया गया है,^४ जबकि केशवमिश्र ने स्वमान्य सभी दोषों की अनित्यता का प्रदर्शन किया है।

कुमारमणि ने भी 'काव्यप्रकाश' से दोष-अनित्यता-सम्बन्धी सारी दातें ली हैं। पर कुलपति की तरह उन्होंने भी 'समाप्तपुनरात्', 'गमित' तथा 'अस्थानसमास' की निर्दोषता की स्थितियों की चर्चा नहीं की है। कुलपति से विशेषज्ञता इतनी ही है कि उन्होंने दो रसदोषों की अनित्यता का भी उल्लेख किया है।^५ सोमनाथ ने केवल त्रिविध 'अश्लील' की अदोषता निर्दिष्ट की है। उन्होंने इस सम्बन्ध में मम्मट का अनुकरण नहीं किया है। उन्होंने हास्य में व्रीडा-व्यंजक, करुण में अमंगल-व्यंजक तथा वीभत्स में जगुप्सा-व्यंजक अश्लील को दोष नहीं माना है।^६

१. रसरहस्य, पृ० ६०।

२. 'असमर्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक यह नित्य दोष हैं।' —वही, पृ० ६२

३. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास : डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० ११४।

४. "जे-जे दोष प्रथम कहै तिन्ह में एकक ठाम।

दोष न मानहि विदुषतहि, वैशेषिक गुण नाम ॥" —काव्यमंजरी, पृ० १०५

५. वही, पृ० १०६।

६. "विरुद्ध संचारी भाव भावशक्तता में दोष नाहीं।

×

×

×

×

स्मृति त्यों हो सादृश्य में नहि विरुद्ध रस और ॥

एक ठौर जु विरुद्ध है सो कीजै द्वै ठौर ॥"

—रसिकरसाल, पृ० २६७

७. "हास, करुण, वीभत्स में लाज अमंगल, रलानि।

क्रम ते दोष कहैं नहीं रसिक अश्लील कथानि।"

—रसपीयूषनिधि, २०।४७

दास ने काव्यनिर्णय में दोषोद्धार का एक अलग उल्लास ही रखा है, जिसमें दोषों की अनित्यता का प्रतिपादन विस्तार से, सोदाहरण एवं व्याख्या-सहित किया है। सर्वप्रथम उन्होंने उन हेतुओं का उल्लेख किया है, जिनसे दोषत्व का परिहार होता है। उनके अनुसार ये हेतु इस प्रकार हैं—१. शब्दालंकार, २. छन्द, ३. तुक तथा ४. प्रकरण।^१ श्लेष और मुद्रा अलंकार में अप्रयुक्त, निहतार्थ, निरर्थक, अवाचक, अप्रतीत, अविमृष्ट, विधेयांश, श्रुतिकटु, त्यक्त, पुनः स्वीकृत तथा साकांक्ष जैसे दोषों की निर्दोषता एक ही कवित्त में उदाहृत करना^२ दास की प्रौढता का सूचक है। इसके अतिरिक्त उन्होंने विशेषोक्ति या विनोक्ति अलंकार में 'सहचरभिन्नत्व' का^३ और दीपक, लाटानुप्रास, वीप्सा तथा पुनश्चतुष्पदाभास अलंकारों में 'कथित पद' का गुणत्व प्रतिपादित किया है।^४ एक ही दोहे में उन्होंने तुक, छन्द, लोकोक्ति तथा कविरीति से श्रुतिकटु, भाषाहीन, चरणान्तपद और अपुष्टार्थ के अदोषत्व प्राप्त कर लेने का उदाहरण प्रस्तुत किया है।^५ इसके अलावा हास-निन्दादि में 'अश्लील', ग्रामीण वक्ता रहने पर 'ग्राम्य', दूरान्वय के कारण 'गर्भित', कविरीति में प्रसिद्ध रहने पर लोकविरुद्ध तथा अर्थपोषण में अधिकपदता के गुणत्व को भी उन्होंने उदाहृत किया है।^६ संचारी की स्व-शब्दवाच्यता, विभाव की कष्ट-कल्पना तथा प्रतिकूल विभाव-ग्रहण की अदोष-स्थिति के भी उदाहरण प्रस्तुत हैं।^७

मंछाराम के अनुसार कुछ दोष 'वयण-सगाई' से मिट जाते हैं, पर कुछ उससे मिट नहीं पाते। यह दोषों का नित्य-अनित्य के रूप में विभाजन है। छन्द-सम्बन्धी दोष 'वयण-सगाई' से मिट जाते हैं^८। पर अन्ध आदि अन्य दस दोष असाध्य हैं^९, चूँकि ये दोष 'वयण-सगाई'

१. "कहुँ शब्दालंकार कहुँ छन्द कहुँ तुक हेत ।

कहुँ प्रकरन बस दोष हूँ, गनै अदोष सचेत ॥"

—काव्यनिर्णय, २४।१

२. वही, २४।४

३. वही, २४।१५

४. काव्यनिर्णय, २४।१०

५. "हरि स्तुति को कुण्डल मुक्त हार हिये को स्वच्छ ।

आँखिन देख्यो सो रह्यो, हिय में छाई प्रतच्छ ॥"

—वही, २४।३

तथा 'अस्य तिलक', पृ० २३९

६. काव्यनिर्णय, २४।५, ७, ९, १२, १३, १

७. वही, २४।५, २४।८ तथा २४।१२।

८. "आवैं इण भाषा अमल वयण सगाई बेस ।

दग्ध अगण बढ दुगणरो लागैं नइँ लवलेस ॥"

—रघुनाथरूपक गीतारो, पृ० १२

९. "पुण जै सुख अखरोट पिय,

अँ दस दोष असाध ॥"

—वही, पृ० १३

को ही नष्ट कर देते हैं^१—यह मंछाराम की मान्यता है। उन्होंने एक दृष्टान्त से इस बात को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार अन्धे, श्वेतकुष्ठवाले, नपुंसक, पादरु, पंगु, जातिविरुद्ध, नालभ्रष्ट, पक्षाघातरोग-युक्त और बहरे को कोई अपनी पुत्री नहीं देता है, उसी प्रकार उक्त दस दोषों से युक्त कविता में 'वयण-सगाई' सम्पन्न नहीं हो पाती।^२ यहाँ यह स्मरणीय है कि उक्त गुरूपताएँ मंछाराम के काव्यदोष-नाम हैं।

जनराज ने प्रत्येक दोष के लक्षण-उदाहरण के बाद ही उनकी नित्यता या अनित्यता का संकेत कर दिया है। उनके विवेचन में कहीं मौलिकता नहीं है, पुराने आचार्यों के मन्तव्यों की उद्धरणी-भर है। उन्होंने एक ही दोष की गुरूपता प्रदर्शित की है—सार अलंकार में कथितपदता की।^३ जनराज के दोष-विवेचन का यह अंश स्थूल एवं ऊपरी है; चूँकि अधिकांश अनित्य दोषों के उन्होंने उदाहरण-मात्र दिये हैं, हेतुओं का निर्देश नहीं किया है। पिछले आचार्यों ने जहाँ अनेक दोषों का गुणत्व प्रदर्शित किया था, वहाँ जनराज केवल एक का ही दिखा सके—यह उनकी बड़ी सीमा रही।^४

जगत् सिंह ने यद्यपि 'चन्द्रालोक' को अपने प्रतिपादन का आधार बनाया है, तथापि जयदेव के दोषांकुश-सम्बन्धी विचार को उन्होंने अस्वीकृत कर दिया है।^५ दोषों का एक ही अपवाद वे स्वीकार करते हैं। मंगल में, ध्यान में और देवतावाचक में दोष का विचार नहीं करना चाहिए।^६

प्रतापसाहि का दोष-परिहार-प्रकरण कुलपति के 'रस-रहस्य' की उद्धरणी प्रतीत होता है। इसमें कोई विशेषता नहीं है।^७

ग्वाल के 'दूषण-दर्पण' में दोष-अनित्यता के सम्बन्ध में एक स्थल पर मम्मट का वह कथन उद्धृत किया गया है, जिसमें उन्होंने श्लेषादि में 'अप्रयुक्त' और 'निहतार्थ' की अदोषता सूचित की है।^८ उक्त पुस्तक खण्डित ही उपलब्ध है। सम्भव है; अप्राप्य अवशिष्ट अंश में दोष-अनित्यता का विस्तृत निरूपण हुआ हो।

१. 'ये दस दोष गीतों को वयण-सगाई को नष्ट कर देते हैं।' —वही, पृ० ३२

२. वही, पृ० ३२।

३. "अरु लाटानुप्रास जमकादि में दोष नां हो। अरु सार अलंकार में गुण है। या तें अनित दोष हैं।" —कवितारसविनोद, पत्र १११-१२

४. वही, पत्र १०३-१२३।

५. "और काहू ने दोषांकुस कियो है। दोष कहिकें फिर दोष मिटाइ डार्यो है। सो अजोग कियो है।" —साहित्यसुधानिधि, पत्र ६१

६. "मंगल में ध्यान में देवता वाचक में तो निजगह दोष को विचार न करिये।" —वही

७. 'हिन्दो-रोति-परम्परा के प्रमुख आचार्यः' डॉ० सत्यदेव चौधरी; पृ० ५३४।

८. 'अप्रयुक्त निहतार्थश्लेषादी न दुष्टौ इति।' —ग्वालकृत 'दूषणदर्पण', पृ० २२।

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने दोषों की अदोषता एवं गुणरूपता का प्रतिपादन प्रायः उसी रूप में किया है, जिस रूप में वह 'काव्यप्रकाश' में उपलब्ध है।^१ कहीं-कहीं कुछ अन्तर है। उदाहरणार्थ, 'न्यूनपदता' के गुणत्व के सम्बन्ध में पोद्दार जी ने यह कहा है कि जहाँ अध्याहार के कारण शीघ्र ही प्रतीति हो, वहाँ 'न्यून' पद-दोष नहीं होता है।^२ मम्मट ने यह आशय व्यक्त नहीं किया है। इसी प्रकार 'कथितपद' दोष के गुणत्व के कारणों में मम्मट ने एक विहित का अनुवाच्य बना देना उल्लिखित किया है।^३ इसका उल्लेख न कर पोद्दारजी इसकी जगह कहते हैं कि 'कारणमाला' अलंकार में यह दोष गुण हो जाता है।^४ बात यह है कि मम्मट ने विहित के अनुवाच्य बना देने का जो उदाहरण दिया है,^५ उसमें कारणमाला अलंकार है।^६ उसीके चमत्कार से दोष का गुणत्व सम्पादित हुआ है। अतः पोद्दार जी ने कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर यहाँ नहीं रखा है। दोषों की अनित्यता के सम्बन्ध में मम्मट की कुछ बातें पोद्दारजी से छूट भी गई हैं। उदाहरणार्थ, अनुकरण सभी दोषों की अदोषता और वक्तादि औचित्य से उनकी गुणरूपता या अदोषगुणता की बात का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है।

पण्डित रामदहिन मिश्र ने 'श्रुतिकटु', 'त्रिविव अश्लील', 'सन्दिग्ध', 'न्यूनपदता', 'कथितपदता', 'पतत्रकर्ष' तथा 'निर्हेतुक' की अदोषता एवं 'ग्राम्य' की गुणरूपता के सम्बन्ध में वे ही बातें कही हैं, जो 'काव्यकल्पद्रुम' में कही गई हैं।^७ मिश्रजी-कृत अर्थगत पुनरुक्त की अदोषता की हेतु-कल्पना 'काव्यकल्पद्रुम' में अप्राप्त है। उन्होंने उत्कर्ष सूचित होने पर इसके अदोषत्व की बात कही है।^८

दोषों की अनित्यता का संकेत कवियों के लिए एक प्रकार की छूट है, जिसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं के विश्लेषण में शक्ति को अधिक महत्त्व देते हुए भी व्युत्पत्ति तथा अभ्यास पर बहुत बल दिया गया है। आचार्य

१. तुल० 'काव्यप्रकाश', पृ० २४७-२६१ की 'काव्यकल्पद्रुम', पृ० ४२८-३१।

२. काव्यकल्पद्रुम, पृ० ४३०।

३. काव्यप्रकाश, पृ० २५९।

४. काव्यकल्पद्रुम, पृ० ४३०।

५. काव्यप्रकाश, उदाहरण-संख्या ३१६।

६. "अत्र कारणमालायां पूर्वोपात्तपदेनैव विनयादिकमुपादेयं पदान्तरेणानूद्यमानं तद्विभक्तयेव प्रतिभाति।" —गोविन्दठक्कुर, काव्यप्रदीप, पृ० २६१

७. तुल० काव्यदर्पण, पृ० ३४६, ३८०, ३८१, ३८२-३८४, ३८ पर उल्लिखित दोष-अनित्यता-संकेतों की काव्यकल्पद्रुम, पृ० ४२७-४३१ पर प्रस्तुत दोष-अनित्यता-सम्बन्धी विचारों से।

८. काव्यदर्पण, पृ० ३८९।

देदेन्द्रनाथ शर्मा ने व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के महत्व को अच्छी तरह स्पष्ट करते हुए कहा है कि लोकानुभव वर्ण्य विषय के सम्यक् प्रतिपादन के लिए तथा शास्त्रानुशीलन अभिव्यक्ति-सामर्थ्य के लिए आवश्यक समझा गया है।^१ अतः व्युत्पत्ति का बहुत मान है। कवि को केवल शक्ति पर ही भरोसा नहीं करना चाहिए। दोष-अनित्यता का प्रतिपादन दोषहानि से कवियों को विरत करने के लिए उद्दिष्ट नहीं है। वह भावक को दृष्टि-संकीर्णता से मुक्त रखने के लिए किया गया है।

दोषों के अनित्यत्व में आचार्यों ने जिस 'सन्निवेश-प्रकार' तथा 'आश्रयसौन्दर्य' का उल्लेख किया है, उसका सम्बन्ध औचित्य से है। वक्ता, वर्ण्य, प्रकरण, भाव आदि के औचित्य से कोई दोष दोष नहीं रह जा सकता है और कभी-कभी गुणत्व भी प्राप्त कर सकता है। किन्तु औचित्य की धारणा सापेक्ष है, अतः दोषों की अनित्यता या गुणात्मकता के निर्णय में मतभेद का अवसर है। हमारा कथन है कि दोषों की अनित्यता अथवा गुणात्मकता का निर्णय कवि के उद्देश्य की दृष्टि से होना चाहिए। यदि उद्देश्य-प्रतीति में दोष बाधक न हों, तो उनका दोषत्व मिट जाता है और यदि उसमें सहायक अथवा चमत्कार लानेवाले हों, तो उनकी गुणात्मकता स्पष्ट है।

• •

१. देखिए; भामह-कृत 'काव्यालंकार' की भूमिका ।

नवम अध्याय

दोष-वर्गीकरण

संस्कृत-वाङ्मय किसी भी विषय के अवांछनीय सीमा तक शाखा-विस्तार एवं भेद-प्रभेदों की सूक्ष्म कल्पनाओं के लिए बंदनाम है। संस्कृत-काव्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं। उसमें भी दोषों का भेद-विस्तार अलंकारों के बाद दूसरा स्थान रखता है। वर्गीकरण के अभाव में यह भेद-विस्तार अव्यवस्थित, जटिल एवं दुर्बोध रह जा सकता था। किन्तु संस्कृत-आलंकारिकों की दृष्टि इस ओर गई और उन्होंने कई प्रकार से दोष-वर्गीकरण के प्रयत्न किये। हिन्दी-रीति-ग्रन्थों में भी दोषों का वर्गीकृत प्रतिपादन उपलब्ध होता है। प्रस्तुत अध्याय में हमारा उद्देश्य इन विविध प्रकार के वर्ग-विभाजनों का परिचय प्रस्तुत करना एवं उनकी परीक्षा करना है।

दोष-लक्षण की तरह दोष-वर्गीकरण भी संस्कृत-काव्यशास्त्र में अपेक्षया बाद में प्राप्त होता है। वामन से पूर्व वर्गीकरण की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। यह स्वाभाविक था। जबतक दोष-भेदों का पर्याप्त संख्या-विस्तार न होता, वर्गीकरण अनावश्यक एवं असम्भव था। वामन ने चूंकि गुणों को शब्दगत और अर्थगत नामक वर्गों में बाँटकर प्रतिपादित किया और दोषों को गुण-विपर्यय माना, इसलिए दोषों का भी शब्द और अर्थ के आधार पर उनके द्वारा वर्गीकरण स्वाभाविक था। उन्होंने शब्द और अर्थ के साथ-साथ शब्द के भेद, पद और वाक्य को भी वर्गीकरण का आधार बनाया। दोनों आधारों को गुणित करके उन्होंने दोषों के चार वर्ग बनाये—१. पद-दोष, २. पदार्थ-दोष, ३. वाक्य-दोष और ४. वाक्यार्थ-दोष।^१ वामन से पूर्व भामह के दोष-निरूपण में वर्गीकरण के इन आधारों की स्वीकृति है। भामह के 'श्रुतिदुष्ट' एवं 'अर्थदुष्ट' नामक दोषों में,^२ और उन्हीं के 'एकार्थ' के अन्य नाम 'पुनरुक्त' के शब्द-पुनरुक्त एवं अर्थ-पुनरुक्त नामक भेद बताये जाने में^३ वामन के वर्गीकरण के शब्दार्थ-आधार की स्वीकृति स्पष्ट है। इस प्रकार वामन के वर्गीकरण के आधार का बीज उनसे पूर्व विद्यमान था, यद्यपि उस आधार पर विभाजन नहीं किया गया था।

उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त एक और वर्गीकरण का अप्रत्यक्षतः वामन ने संकेत किया

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, द्वितीय अधिकरण।

२. 'श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च ।'

—भामह-कृत काव्यालंकार, १।४९

३. 'पुनरुक्तमिव प्राप्तरन्ये शब्दार्थभेदतः ।'

—वही, ४।१२

है। गुणविपर्यय-स्वरूप शब्दार्थ-दोषों को उन्होंने उक्त पद-पदार्थ, वाक्य-वाक्यार्थ दोषों से भिन्न 'सूक्ष्म दोष' कहा है।^१ इससे यह निष्कर्ष निकला कि पूर्वकथित पद-पदार्थ-वाक्य-वाक्यार्थ दोषों को वे स्थूल दोष समझते हैं। इस स्थूलता और सूक्ष्मता का आधार वामन के अनुसार प्रत्यभिज्ञेयता है। जो दोष तुरन्त पहचान में आ जायें, वे वामन के स्थूल दोष हैं और जो आसानी से पहचान में न आयें, वे सूक्ष्म दोष हैं। वामन के अधिकांश सूक्ष्म दोष गुणाभाव-सूचक दोष हैं, यह कहा जा चुका है।^२ यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है कि इनमें से कुछ को छोड़कर शेष को पारिभाषिक अर्थ में दोष मानना समीचीन नहीं है। इसका विशद विवेचन सप्तम अध्याय में भी किया गया है। वामन ने अलंकार-दोषों का अलग से प्रतिपादन किया है।^३ उन्हें वे पद-पदार्थ-वाक्य-वाक्यार्थ दोषों में अन्तर्भुक्त नहीं कर सके। स्पष्ट है कि वामन का दोष-वर्गीकरण पूर्ण एवं व्यवस्थित नहीं है।

खट्ट ने अपने दोष-वर्गीकरण में प्रायः वामन का ही अनुगमन किया है। अन्तर इतना है कि वामन ने अर्थ को पद और वाक्य से अलग-अलग सम्बद्ध किया है, खट्ट ने पद-दोष और वाक्य-दोष से भिन्न अर्थ-दोष का एक ही वर्ग माना है।^४ इस प्रकार खट्ट तीन वर्गों में ही दोषों को बाँटते हैं। वामन की तरह खट्ट के भी उपमा-दोष अलग हैं।^५

यद्यपि आनन्दवर्धन ने विशिष्ट दोषों का विस्तृत प्रतिपादन नहीं किया, तथापि दोष-वर्गीकरण के कई आधारों का प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः संकेत किया है। कई रसदोषों के प्रतिपादन द्वारा उन्होंने उनके अलग वर्ग माने जाने का पथ प्रशस्त किया। इसके अतिरिक्त श्रुतिदृष्टादि दोषों की अनित्यता का उल्लेख करके दोषों के नित्य एवं अनित्य के रूप में विभाजन को भी उन्होंने प्रेरित किया, यद्यपि दोषों की अनित्यता की विचारधारा उनकी पूर्ववर्ती है और 'अनित्या ये च दर्शिताः' से स्पष्ट होता है कि इन दोषों की अनित्यता का स्पष्टतः उल्लेख भी हो चुका था, पर दोषों की अनित्यता के नवीन आधार रस-ध्वन्यात्मकता का प्रतिपादन करने का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है।^६ आनन्दवर्धन ने प्रत्यक्षतः दोष-वर्गीकरण का एक अभिन्न स्वरूप उल्लिखित किया है। 'अव्युत्पत्तिकृत' तथा 'अशक्तिकृत' के रूप में दोषों के विभाजन का प्रथम श्रेय आनन्दवर्धन को ही है।^७ किन्तु

१. 'ये त्वन्ये शब्दार्थ दोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेक्षने वक्ष्यन्ते।'

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, द्वितीय अधिकरण, पृ० ११२

२. देखिए, पंचम अध्याय का वामन-प्रकरण।

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।२।८।

४. खट्ट-कृत काव्यालंकार, ११।२।

५. वही, ११।२४।

६. देखिए, पंचम अध्याय का 'हिन्दी-रीतिग्रन्थों में दोष-लक्षण-निरूपण'-प्रकरण।

७. ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० २४१।

पारिभाषिक अर्थ में 'अव्युत्पत्तिकृत' दोषों को ही दोष मानना समीचीन है। इसका विस्तृत निरूपण आगे दशम अध्याय में किया जायगा।

नित्य-अनित्य के रूप में दोषों के प्रथम वर्गीकरण का श्रेय अमिनवगुप्त को है। आनन्दवर्धन ने तो सिद्धान्ततः ही इसका उल्लेख किया था, विशिष्ट दोष-विवेचन के अभाव में वे इसे व्यावहारिक रूप न दे सके थे, अमिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्रीय दस दोषों को नित्य एवं अनित्य नामक वर्गों में बाँटकर 'शब्दहीन' या 'शब्दच्युत' को उन्होंने नित्य दोष माना और 'ग्राम्य' आदि को अनित्य।^१

महिमभट्ट ने दोष (अनीचित्य) के दो वर्ग माने—अन्तरंग और बहिरंग।^२ प्रथम में रसानौचित्य को और द्वितीय में शब्दानौचित्य को उन्होंने स्थापित किया।^३ दुःश्रुत्व आदि शब्दानौचित्य को भी केवल वाचकाश्रित न रहने के कारण—रसाश्रित होने के कारण उन्होंने अपने बहिरंग अनीचित्य में स्थान नहीं दिया।^४

भोज ने पद, वाक्य एवं वाक्यार्थ नामक वर्गों में दोषों को वर्गीकृत किया।^५ भोज की विशेषता यह रही कि उन्होंने अपने समस्त दोषों को इन्हीं वर्गों में समाविष्ट किया। उनसे पूर्व किसी आचार्य ने ऐसा नहीं किया था। वे उपमा-दोषों को या गुण-विपर्ययात्मक दोषों को अपने पद, वाक्य या अर्थदोषों से अलग प्रतिपादित करते रहे। भोज ने गुण-विपर्ययात्मक दोषों को 'अरीतिमत्' नाम से एक दोष के रूप में उल्लिखित करके उनके अनेक प्रकारों का इसी में निरूपण किया।^६ इसी प्रकार उनके उपमा-दोष भी उनके वाक्य-दोष एवं वाक्यार्थ-दोषों में स्थान पाये हुए हैं।^७

१. "एतन्मध्ये तु केचित् नित्या दोषाः, यथा अपशब्दः, केचिदनित्याः यथा, ग्राम्यं हास्यादौ तस्येष्टतमत्वात्।"

—नाट्यशास्त्र, गायकवाड़-संस्करण, अमिनवगुप्त की टीका, पृ० ३३३

२. "ततश्चार्यालामञ्जस्यादनौचित्यं प्रसज्यते।

बहिरङ्गात्तरङ्गत्वभेदात् तद्विविधं मतम्॥"

—व्यक्तिविवेक, पृ० १३५

३. "तत्र शब्दैकविषयं बहिरङ्गं प्रचक्षते।

द्वितीयमर्थविषयं तत् त्वाद्यदेवदर्शितम्॥"

—वही, पृ० १३५

४. "दुःश्रुत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव... केवलं वाचकस्थावश्यमेतन्न भवतीति न तत्तुल्यकक्ष्यतयोपात्तम्॥"

—वही, पृ० १५२

५. 'दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।' —सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० ३

६. सरस्वतीकण्ठाभरण, पृ० २७-३४।

७. वही, पृ० १७, २४।

क्षेमेन्द्र के सम्बन्ध में कहा जा चुका है कि उनके तीन दोषों-शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य एवं रसकालुष्य को तीन दोष-वर्ग मानना समीचीन है, चूंकि इनके कई प्रकार हो सकते हैं, जिनमें से एक-एक प्रकार का ही क्षेमेन्द्र ने ग्रहण किया है। शब्द, अर्थ एवं रस के आधार पर दोषों का जो वर्गीकरण परवर्ती काल में मिलता है, उसके पूर्वरूप की यह सूचना है।

दोष-वर्गीकरण के क्षेत्र में मम्मट का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अधिकांश दोषों का समाहार करते हुए उन्होंने सब दोषों को वर्गीकृत करके ही उपस्थित किया। उनके दोष-वर्ग इस प्रकार हैं—१. शब्ददोष, २. अर्थ-दोष एवं ३. रसदोष। प्रथम के उन्होंने तीन उपवर्ग माने : १. पदगत, २. पदांशगत और ३. वाक्यमात्रगत।^१ उन्होंने कुछ पदगत दोषों को पदांशगत और वाक्यगत भी बताया है।^२ अलंकार-दोषों को न तो वामन-दण्डी की तरह मम्मट ने अपने उक्त दोष-वर्गों से अलग निरूपित किया और न भोज की तरह वाक्य एवं वाक्यार्थ दोषों से स्वतन्त्र स्थान ही दिया। उन्होंने उनका अन्तर्भाव अपने शब्दार्थगत दोषों में ही कर दिखाया।^३ इस दृष्टि से भी मम्मट की मौलिकता स्तुत्य है।

मम्मट का दूसरा महत्व यह है कि उन्होंने अपने दोष-वर्गीकरण के मूलभूत सिद्धान्त का संकेत किया है। उन्होंने अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त को ही शब्दार्थगत भिभाजन का आधार बताया।^४ नित्य-अनित्य के रूप में दोषों का जो वर्गीकरण अभिनव गुप्त ने प्रस्तुत किया था, उसे भी आगे बढ़ाने का श्रेय मम्मट को है। उन्होंने दोषों की अनित्यता के भी तीन प्रकार बताये—१. अदोषता, २. गुणरूपता और ३. अदोषगुणता।^५ अभिनवगुप्त की तरह उन्होंने दोषों की नित्यता को स्वीकार नहीं किया। अनुकरण में सभी दोषों की अनित्यता उन्होंने संकेतित की।^६ मम्मट के दोष उनके वर्गीकरण के सिद्धान्तों पर बहुत-कुछ खरे उतरते हैं। जिस वर्ग में उन्होंने जिस दोष को रखा है, उसके उस वर्ग में रखे जाने का औचित्य है।

अग्निपुराण में वक्ता, वाचक एवं वाच्य के भेद से दोष सात प्रकार का माना

१. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास।

२. वही, ७।५२।

३. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ० ४५६-४६४।

४. “इह दोष गुणालङ्काराणां शब्दार्थगत्वेन यो भिभागः सः अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव व्यद्वतिष्ठते।”
—वही, नवम उल्लास, पृ० ३२२

५. ‘वक्त्राद्योचित्यवशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्संभो।’

—वही, पृ० २५१ तथा ‘ख्यातेऽर्थे निहंतोरदुष्टता।’ —वही, पृ० २५०

६. ‘अनुकरणे तु सर्वेषाम्।’

—वही, पृ० २५१

गया है।^१ वक्ता से अभिप्राय है कवि का,^२ जिसके चार प्रकारों के उल्लेख में उसके दोषों का संकेत है।^३ वस्तुतः काव्य-दोष में कवि-दोषों को समेटना संगत नहीं। अग्निपुराणकार ने वाचक के पदगत और वाक्यगत भेद किये हैं।^४

हेमचन्द्र ने मम्मट के वर्गीकरण का अनुगमन किया है,^५ यद्यपि उनके समस्त दोषों को नहीं अपनाया है। अलंकारवादी होने के कारण जयदेव ने रसदोषों का प्रतिपादन नहीं किया, केवल शब्दार्थ-दोषों की सत्ता मानी है।^६ शब्दगत दोषों के भी जयदेव ने पदगत, पदांशगत, वाक्यांशगत, वाक्यगत और वाक्यसमूहगत (प्रबन्धगत) नामक पाँच भेद माने।^७ जयदेव की नवीनता वाक्यांशगत और प्रबन्धगत नामक अलग दोष-वर्गों की कल्पना में है। यद्यपि रस-दोषों के निरूपण के प्रसंग में मम्मट ने इनके प्रबन्धगत होने का परिचय दिया था,^८ तथापि अलग वर्ग के रूप में प्रबन्धगत की कल्पना नहीं की थी। विद्यानाथ ने छट्ट की तरह दोषों के पदगत और अर्थगत नामक तीन वर्ग माने।^९ विद्यानाथ ने दोष-वर्गीकरण में मम्मट का पूर्ण अनुगमन किया है।^{१०} केशवमिश्र ने विद्यानाथ की तरह छट्ट का अनुसरण किया है।^{११}

गोविन्द ठक्कुर ने दोषों की नित्यता-अनित्यता की यह व्याख्या दी है कि जिन दोषों का अनुकरण के अतिरिक्त अन्य किसी दृष्टि से समाधान न हो सके, वे नित्य दोष हैं,

१. "उद्देशजनको दोषः स्मयानां स च सप्तधा।

वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियागतः ॥"

—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, ८६

२. 'तत्र वक्ता कविर्नाम'

—वही, पृ० ८६

३. 'स च भेदतः सन्दिहानो विनोतः सन्नज्ञो ज्ञाता चतुर्विधः।' —वही, पृ० ८६

४. "निमित्तपरिभाषायामर्थसंस्पृशी च वाचकम्।

तद्भेदो पदवाक्ये द्वे कथितं लक्षणं द्वयोः ॥"

—वही, पृ० ८६

५. देखिए, हेमचन्द्र-कृत काव्यानुशासन, पृ० १५९, १९९, २०१, २२६ तथा २६१

६. शब्देऽर्थे च कृतान्मेषं दाषमुद्धोषयन्ति तम्।

—चन्द्रालोक, २।१

७. पदे तदंशे वाक्यांशे वाक्ये वाक्यकवम्बके।

यथानुसारमप्युद्देशान् शब्दार्थसम्भवान् ॥

—वही, २।३९

८. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, पृ० २६५।

९. प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० २९६, ३०२ तथा ३१३।

१०. 'ते पुनः पंचधा मताः। पदे तदंशे वाक्येऽर्थे सम्भवन्ति रसेऽपि यत्।'

—साहित्यदर्पण, ७।१

११. अलंकारशेखर, पृ० १५-१६ तथा ८।२, १-२।

जैसे, च्युतसंस्कृति^१, जिन दोषों का अनुकरण के अतिरिक्त अन्य दृष्टि से भी समाधान हो सके, उन्हें वे अनित्य दोष मानते हैं।^२ गोविन्द ठक्कुर ने दोषों का एक मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण भावक के आस्वाद को ध्यान में रखकर किया है। अपने दोष-लक्षण के आधार पर उन्होंने यह वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। पंचम अध्याय में कहा जा चुका है कि गोविन्द ठक्कुर उद्देश्य-प्रतीति-विधातकता को दोष मानते हैं। उनके अनुसार सरस काव्य में उद्देश्य-प्रतीति का अर्थ रस-प्रतीति है और नीरस काव्य में उद्दिष्ट अर्थ की अविलम्बित और चमत्कार-युक्त प्रतीति। रस-प्रतीति-विधात के गोविन्द ठक्कुर ने इतने रूप सम्भावित किये हैं : १. अप्रतीति, २. प्रतीयमान का अपकर्ष तथा ३. विलम्बात्मक प्रतीति।^३ नीरस काव्य की उद्देश्य-प्रतीति-विधातकता के इतने रूप उन्होंने सम्भव बताये हैं : १. मुख्य अर्थ की अप्रतीति, २. मुख्यार्थ की विलम्ब प्रतीति और ३. मुख्यार्थ की अचमत्कारक प्रतीति।^४ मम्मट के थोड़े दोषों को उन्होंने इन वर्गों के उदाहरण-स्वरूप निदिष्ट किया है,^५ पर सभी दोषों को वे उदाहृत नहीं कर सके हैं। इस बात की अपेक्षा है कि समस्त दोषों को इन दोष-आधारों पर वर्गीकृत करने की सम्भावना की परीक्षा की जाय।

पण्डितराज ने रसदोष एवं रचना के दोष ही निरूपित किये हैं,^६ शब्द और अर्थदोष नहीं। रचना-दोषों को उन्होंने 'साधारण' एवं विशेष दोषों के रूप में बाँटा है।^७ साधारणतया वर्ज्य वर्णक्रम साधारण दोष एवं विशेष रसों में वर्ज्य विशेष प्रकार की वर्णावली विशेष दोष^८ हैं।

हिन्दी का दोष-वर्गीकरण

केशव ने दोषों की तीन सूचियाँ दी हैं,^९ जिन्हें दोष-वर्ग कहना कठिन है। इस प्रकार उन्होंने वर्गीकरण की दिशा में प्रयत्न नहीं किया। दोषों का वर्गीकरण हिन्दी में प्रथमतः

१ "तत्रानुकरणादन्येन प्रकारेण समाधातुमशक्यो नित्यः। यथा च्युतसंस्कृत्यादिः।"
—काव्यप्रदीप, पृ० १७०

२. 'अन्यादृशस्त्वनित्यः।' —वही, पृ० १७०

३. "क्वचिद् रसस्याप्रतीतिरेव, क्वचित्प्रतीयमानस्यापकर्षः, क्वचित्तु विलम्बः।"
—वही पृ० ७०

४. "एवं नीरसे क्वचिदर्थस्य मुख्यभूतस्याप्रतीतिरेव, क्वचिद्विलम्बेन प्रतीतिः क्वचिद-चमत्कारितेत्यनुभवसिद्धम्।"
—वही, पृ० १७०

५. वही, पृ० १७०।

६. रसगंगाधर पृ० ५०-५२, ६९।

७. (क) वही, पृ० ६९।

(ख) एवमिमे सर्वेऽप्यध्वभेदाः काव्य सामान्ये वर्जनोयाः' —वही, पृ० ६९

८. 'मञ्जुर रसेषु दोषसमासं ।' —वही, पृ० ६९

९. केशवग्रन्थावली, पृ० १०१, १०३ तथा ९१।

चिन्तामणि का ही मिलता है। उनके दोष-वर्ग इस प्रकार हैं—१. शब्दगत, २. वाक्यगत, ३. अर्थगत और ४. रसगत।^१ कुलपति ने चिन्तामणि का अनुसरण किया है।^२ पर वे मम्मट की तरह तरह पददोषों के वाक्यगत भी होने की बात का उल्लेख करते हैं, यद्यपि इनके उदाहरण नहीं देते हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि भाषा में इन पदगत दोषों के वाक्यगत रूप सम्भव नहीं हैं,^३ मम्मट के वर्गीकरण के आधारभूत सिद्धान्त 'अन्वय-व्यतिरेक' को प्रथमतः हिन्दी में कुलपति ने ही प्रस्तुत किया है।^४ पदुमनदास ने पदगत, वाक्यगत एवं अर्थगत दोषों का ही निरूपण किया,^५ रसदोषों का नहीं। उनके उपजीव्य केशवमिश्र हैं, जिन्होंने रसदोषों का निरूपण किया है।^६ ऐसा लगता है कि केशवमिश्र द्वारा रसदोषों के रस-प्रकरण में विवेचन किये जाने के कारण पदुमनदास का ध्यान उसपर नहीं जा सका। कुमारमणि ने मम्मट के वर्गीकरण का पूर्णतः अनुगमन किया है।^७ कुछ पदगत दोषों के वाक्यगत होने का भी उन्होंने भाषा में उदाहरण दिया है।^८ वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह पदांशगत दोषों को छोड़ते नहीं।^९ इस दृष्टि से वे कुलपति से अलग हैं। अन्वय-व्यतिरेक-सिद्धान्त का तो कुलपति की तरह उन्होंने उल्लेख किया ही है,^{१०} नित्य-अनित्य-विभेद का भी जिक्र किया है।^{११} श्रीपति ने शब्दगत और अर्थगत दोष-वर्गों को ही प्रस्तुत किया।^{१२} सोमनाथ, जनराज, दास तथा जगत् सिंह, कुलपति-मान्य चार दोष-वर्गों को ग्रहण

१. कविकुलकल्पतरु, ४।२-४, ४।२९-३२ ४।६९-७२ तथा ४।८४-८६।
२. रसरहस्य, ५।४-१६।
३. "संस्कारहत, असमर्थ, निरर्थक इनको छोड़कर यह दाष वाक्यां में भो होते हैं। परन्तु यहाँ पर भाषा में वाक्य समास के भेद से कुछ अधिक प्रयाजन नहीं है। इस कारण उदाहरण अलग-अलग नहीं दिये।"—वही, पृ० ४७
४. "जाहि रहत हो जो रहै, जेहि फेरो फिरि जाय। शब्द अर्थ रस सवन नैं साइ दोष कहाय॥"—वही, ५।३
५. "पद सैं दूषन आठ हैं, बारह बचननि जान। आठ दोष पुनि अर्थ सैं कविकुल करहि प्रमान॥"—काव्यमंजरी, पृ० ८६।
६. अलंकारशेखर, ८।२।१-२।
७. रसिकरसाल, १०।५-७ २९, ४१-४४, ६२-६४, १०२-१०४।
८. वही, पृ० २३४-२३८।
९. 'कुछ ये दाँष पद के अंश में होते हैं।'—वही, पृ० २३२।
१०. "शब्द फिरि जो फिरत सो शब्द दोष निरधारि। शब्द फिरि हूँ थिर रहै अर्थदाष सुविचारि॥"—वही, १०।३
११. वही, १०।४।
१२. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास: डॉ० भगीरथ मिश्र; पृ० १२१।

करते हैं।^१ प्रतापसाहि ने पदांशगत दोषों की भी सत्ता स्वीकार की है।^२ कुमारमणि की तरह नित्य-अनित्य-विभेद एवं अन्वय-व्यतिरेक के सिद्धान्त की चर्चा भी उन्होंने की है।^३ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने पदांशगत के अतिरिक्त मम्मट के सभी वर्गों को अपनाया है।^४ श्रीरामदहिन मिश्र ने शब्ददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष एवं रसदोष के अतिरिक्त एक वर्णदोष नामक अलग वर्ग रखा है, जिसमें प्रबन्धगत दोषों का उल्लेख किया है।^५ वे मानते हैं कि वर्णदोषों का शब्दार्थ-दोष में अन्तर्भाव हो सकता है,^६ पर वे प्रबन्धगत दोषों की अलग सत्ता मानने के पक्ष में हैं। निष्कर्ष यह कि हिन्दी का दोष-वर्गीकरण संस्कृत का अनुगामी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत-हिन्दी-काव्यशास्त्र में यों तो वर्गीकरण के अनेक आधारों का संकेत है, पर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट दोषों का सम्पूर्णतः वर्गीकरण प्रायः शब्द, अर्थ और रस के आधार पर ही किया गया है। यही वर्गीकरण बहुमान्य रहा है, यद्यपि इसके व्योरे को लेकर मतभेद दिखाई पड़ता है। किसी आचार्य ने किसी दोष को शब्दगत माना तो दूसरे ने उसे अर्थगत दिखाया। शब्द, अर्थ और रस नामक वर्गों में किया गया मम्मट का दोष-विभाजन सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं संगत है; कारण, उसका आधार अन्वय-व्यतिरेक नामक निश्चित सिद्धान्त है।

मम्मट के दोष-वर्गीकरण के सम्बन्ध में कुछ बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम तो यह कि मम्मट के शब्ददोष केवल ध्वनि-सामंजस्य में व्यतिक्रम उपस्थित करने-वाले दोष नहीं हैं, उनका अर्थ से भी सम्बन्ध है; ध्वनि-सौन्दर्य की दृष्टि से एक ही दोष निरूपित है, 'श्रुतिकटु'। शेष सभी दोष अर्थ-सम्बन्धी त्रुटियों से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध हैं। 'अनुचितार्थ', 'ग्राम्य', 'सन्दिग्ध', 'क्लिष्ट', 'विरुद्धमतिकृत्' आदि दोष तो स्पष्टतः अर्थ से जुड़े हुए हैं। मम्मट ने इन्हें शब्द-दोषों में इसलिए रखा कि इनका सद्भाव या असद्भाव शब्द के सद्भाव या असद्भाव पर आश्रित है। दूसरी बात यह है कि शब्द और अर्थ का आत्यन्तिक विभेद चूँकि सम्भव नहीं है, इसलिए उनके आधार पर किये गये वर्गीकरण का भी पूर्ण होना सम्भव नहीं है। इसी कारण मम्मट के कई दोष शब्द एवं अर्थ दोनों कोटियों में स्थान रखते हैं। अश्लील तथा सन्दिग्ध जैसे दोषों को अप्रमाण-स्वरूप देखा

१. रसपीयूषनिधि, २०वीं तरंग; कविता-रसविनोद अष्टमो विनोद; काव्य-निर्णय २३-२५ उल्लास तथा साहित्य-सुधानिधि, दशम तरंग।

२. काव्यविलास, ६।३।

३. वही, ६।२-३।

४. काव्यकल्पद्रुम, पृ० ३९१-४३१।

५. काव्यदर्पण, पृ० ३७५-३९५।

६. वही, पृ० ३९७।

जा सकता है। फिर भी शब्दार्थ के आधार पर किया गया वर्गीकरण अधिक सुकर और आसानी से समझ में आने लायक है, चूँकि इसका एक मूर्त आधार है।

नित्य-अनित्य वर्गों में दोष का विभाजन शब्दार्थ-विभाजन से अधिक सूक्ष्म है। अनुकरण में तो सभी दोष दोषत्व खो देते हैं, अन्य दृष्टि से उनका समाधान यदि हो सके, तभी वे अनित्य दोष हैं, यदि न हो सके, तो नित्य हैं—गोविन्द ठक्कुर की यह सम्मति^१ दस्तुतः बहुत संगत और उपयुक्त है। संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'च्युतसंस्कृति' एवं छन्द-सम्बन्धी त्रुटि को अधिक गम्भीर दोष के रूप में स्वीकार किया गया है। अमिनवगुप्त ने अपशब्द को नित्य दोष के रूप में स्वीकार किया है। साहित्य-मात्र में जीवित भाषा में 'च्युतसंस्कृति' का स्वरूप बहुत-कुछ निश्चित रहता है, अतः उसमें इससे दृढ़ता सम्भव है। किन्तु, लोक-भाषा से निरन्तर पोषित होनेवाली साहित्यिक भाषा में इस दोष का स्वरूप स्थिर नहीं होता। अतः जहाँ साधु-असाधु प्रयोगों का स्वरूप ही अस्थिर एवं गतिशील हो, वहाँ 'च्युत-संस्कृति' को नित्य मानना विवादास्पद है। दूसरे, कभी-कभी कविगण साभिप्राय व्याकरण के नियमों का दन्धन अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार 'च्युतसंस्कृति' की नित्यता विवाद-रहित नहीं। छन्द-सम्बन्धी आधुनिक युगीन प्रयोगों के पीछे जो विचारधारा रही है, उसकी दृष्टि से छन्द-दोष की भी नित्यता विवाद-रहित नहीं है। दस्तुतः दोषों की नित्यता-अनित्यता का विचार जिस औचित्य-तत्त्व पर प्रतिष्ठित है, वह स्वयं गतिशील एवं स्थिति-सापेक्ष है। जीवन-सापेक्ष एवं निरपेक्ष मूल्य-दृष्टि में से किसी एक की स्वीकृति सामान्यतया दोष की नित्यता एवं अनित्यता का निर्धारक है।

काव्यास्वाद की प्रतिक्रिया पर ध्यान रखते हुए गोविन्द ठक्कुर ने दोषों के जिन वर्गों की ओर संकेत किया है और जिनकी ऊपर चर्चा की गई है, वे दोषों के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करनेवाले हैं। अतः इन आधारों पर किया गया दोष-वर्गीकरण अधिक मनोवैज्ञानिक एवं सूक्ष्म होगा। मुख्य अर्थ की अप्रतीति, अपकृष्ट प्रतीति एवं विलम्बित प्रतीति के सावक दोषों को इन्हीं वर्गों में दाँटना अधिक उपयोगी है। इनमें से प्रथम की अपेक्षा द्वितीय और द्वितीय की अपेक्षा तृतीय प्रकार के दोष क्रमशः कम घातक हैं। गोविन्द ठक्कुर ने 'हितार्थ' तथा 'क्लिष्ट' को विलम्बित प्रतीति का कारण माना है। किन्तु अन्य दोषों के सम्बन्ध में इस प्रकार का संकेत उन्होंने नहीं किया है। फिर भी उनके द्वारा निर्दिष्ट दूषकता-बीज से उपर्युक्त वर्गीकरण में सहायता मिल सकती है। उसके आधार पर मम्मट-मान्य शब्ददोषों में 'श्रुतिकटु', 'निरर्थक', 'अश्लील', 'ग्राम्य' तथा 'नेयार्थ' दोषों को मुख्यार्थ की अपकृष्ट प्रतीति का, 'निहतार्थ' तथा 'क्लिष्ट' को विलम्बित प्रतीति का तथा शेष को अप्रतीति का कारण माना जा सकता है। 'वाक्यदोषों' में 'संकीर्ण', 'गर्भित', 'अध्वान्तरैकवाचकत्व', 'भग्नप्रक्रम', 'अक्रम', 'अस्थानस्थपद' तथा 'अस्थानस्थसमास' को विलम्बित प्रतीति का,

‘अभवन्मतयोग’, ‘अनभिहितवाच्यत्व’ न्यूनपदत्व तथा ‘प्रतिकूलवर्णत्व’ को अप्रतीति का तथा शेष को अपकृष्ट प्रतीति का कारण समझना चाहिए। अर्थदोषों में ‘कष्ट’ को विलम्बित प्रतीति का ‘व्याहृत’, ‘निर्हेतु’, ‘सन्दिग्ध’, ‘प्रसिद्धिबिधाविरुद्ध’, ‘साकांक्ष’ तथा ‘प्रकाशित विरुद्ध’ को अप्रतीति का तथा शेष को अपकृष्ट प्रतीति का साधक समझ सकते हैं। रस-दोषों में रसादि की स्वशब्दवाच्यता, प्रतिकूल विभावग्रह, रस की पुनः-पुनः दीप्ति, अकाण्डच्छेद अंग की अतिविस्तृति, अंगी का अननुसन्धान, प्रकृति-विपर्यय तथा अङ्गाभिधान नामक दोषों को अपकृष्ट प्रतीति का तथा विभावानुभाव की अभिव्यक्ति में क्लिष्ट कल्पना तथा अकाण्ड प्रयत्न को विलम्बित रस-प्रतीति का कारण माना जा सकता है। अप्रतीति का अभिप्राय सर्वत्र प्रतीत्यभाव न लेकर अल्पप्रतीति भी लेना चाहिए। यह वर्गीकरण आत्यन्तिक इसलिए नहीं माना जा सकता कि स्थितिविशेष में कोई दोष दूसरे वर्ग का भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, असम्यगर्थ-सूचक लोकमात्र-प्रयुक्त शब्द अपकृष्ट प्रतीति का कारण हो सकता है और कहीं देशज प्रकृति के कारण विलम्बित या प्रतीति का भी। तथापि प्राधान्य-व्यपदेश के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण संगत एवं ग्राह्य है।

दशम अध्याय

काव्यत्व और दोष

संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य के लिए दोषहेयता इतनी आवश्यक समझी गई कि प्रायः आचार्यों ने गुण-विवेचन से पूर्व दोष-निरूपण को स्थान दिया है। भोज ने तो 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में दोष-निरूपण को सर्वप्रथम स्थान दिया है।^१ उन्होंने स्पष्टतः कहा भी है कि हेय दोषों को ही आरम्भ में वर्णित करता हूँ। वाग्भट ने भी भोज की शब्दावली को प्रायः दुहराते हुए यही घोषणा की है।^२ दोष-विवेचन की इस प्राथमिकता का कारण गोविन्द-त्रिपुरहर ने मनुष्य की उस सहज वृत्ति को माना है, जिसके अनुसार वह इष्टानुवर्तन से पूर्व अनिष्टनिवर्तन की आकांक्षा रखता है।^३ संस्कृत-काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग से अन्त तक दोषवर्ज्यता का सामान्यतः अनुशासन दिया जाता रहा है और कवियों को दोषहान के लिए पर्याप्त सचेष्ट रहने को कहा गया है।

काव्य और दोष के सम्बन्ध को लेकर कुछ ऐसे प्रश्न यहाँ स्वाभाविक रूप से उठ खड़े होते हैं, जिनका समाधान काव्यालोचन के लिए आवश्यक है। क्या निर्दोषता काव्यत्व की अनिवार्य शर्त है? काव्य में क्या निर्दोषता आत्यन्तिक रूप से सम्भव है? निर्दोषता का काव्य में निषेधात्मक मूल्य ही है या वह भावात्मक गुण भी मानी जा सकती है? काव्य में निर्दोषता का अधिक मूल्य है या गुणवत्ता का? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में संस्कृत-हिन्दी के काव्यशास्त्रियों के विचार उपलब्ध हैं, जिनका परिचय एवं परीक्षण किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए आवश्यक है। यद्यपि उन प्रश्नों को गम्भीरता से उठाने का श्रेय चण्डी-दास, गोविन्द ठक्कुर एवं विश्वनाथ को है, फिर भी इसके सम्बन्ध में प्राक्तन आचार्यों के मन्तव्य भी उपलब्ध हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र के अधिकांश आचार्य अदोषता को काव्य की अनिवार्य शर्त मानने के पक्ष में हैं। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने काव्यलक्षण में ही अदोषता को

१. "दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश।

हेयाः काव्ये कवोन्म्र्ये तानेवादी प्रचक्ष्महे॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण, प्रथम परिच्छेद, पृ० ३

२. 'परिहायान्तो दोषास्त्रानेवादी प्रचक्ष्महे।'—वाग्भटलंकारः २।५।

३. देखिए, वामन-कृत काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की कामधेनु-टीका, १।१।३ सूत्र, पृ० १०

प्रायः प्रथम स्थान दिया है। यद्यपि संस्कृत-काव्यशास्त्र में काव्य के आरम्भिक लक्षणकार भामह और दण्डी ने अपने काव्य-लक्षणों में 'अदोषता' का समावेश नहीं किया है, पर वे जिस आग्रह और बल के साथ दोष-वर्ज्यता का उल्लेख करते हैं, उससे पता चलता है कि वे काव्य के लिए निर्दोषता को आवश्यक मानते हैं। भामह ने एक भी अवयव पद के कथन का निषेध किया है।^१ उनका कहना है कि अकवित्व से कोई सजा तो नहीं मिलती, पर कुकवित्व तो साक्षात् मरण है।^२ दण्डी भी एक छोटे दोष को भी काव्य में अक्षम्य मानते हैं। उनका कथन है कि काव्य में थोड़े दोष की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि सुन्दर शरीर में श्वेतकुष्ठ का एक दाग भी उसे दुर्भग बना डालता है।^३ उन्होंने सम्यक् प्रयुक्ता वाणी को कामदुघा और दुष्प्रयुक्ता को मूर्खत्वसूचक कहा है।^४ इन कथनों से यह सूचित होता है कि ये आचार्य काव्य में दोष की तनिक सत्ता के भी प्रतिकूल हैं। पर दुष्ट काव्य को अकाव्य मानने की मान्यता उन्होंने प्रत्यक्षतः उल्लिखित नहीं की है।

वामन प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने अपने काव्य-लक्षण की व्याख्या में दोषहान को काव्य की अनिवार्य शर्त के रूप में प्रकट किया है। वे काव्य की ग्राह्यता के लिए जिस 'अलंकार' की चर्चा करते हैं,^५ उसकी व्याख्या उन्होंने सौन्दर्य के रूप में की है,^६ जो उनके अनुसार दोषहान और गुणालंकारादान से सम्पन्न होता है।^७ स्पष्टतः वामन के मतानुसार काव्य-सौन्दर्य का अनिवार्य एवं प्रथम उपकरण है 'अदोषता'। वामन के पश्चात् भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में प्रतिपादित अपने काव्यलक्षण में 'निर्दोषत्व' को प्रथम स्थान दिया है।^८ 'शृंगारप्रकाश' में उन्होंने 'साहित्य' की व्याख्या 'शब्दार्थसम्बन्ध' के रूप में

१. "सर्वथा पदमध्येकं न निगाद्यमवद्यत् ।"—भामहकृत काव्यालंकार, १।११

२. "नाकवित्तमधर्मय व्याधये दण्डनाय वा ।

कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनोविणः ॥"—वही, १।१२

३. "तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।

स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥"

—दण्डिकृत काव्यादर्श, १।७

४. "गोर्गाः कामदुघा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।

दुष्टयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः संख शंसति ॥"—वही, १।६

५. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्'—काव्यालंकारभूतवृत्ति, १।११

६. 'सौन्दर्यमलङ्कारः'—वही, १।१२

७. 'स दोषगुणालङ्कारहानादानाम्याम्'—वही, १।१३

८. "निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।

रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति-प्रीतिं च विन्दति ॥"

—सरस्वतीकण्ठाभरण, १।२

की है और उस सम्बन्ध के द्वारह भेदों में 'दोषहान' की भी गणना है।^१ इसी ग्रन्थ में अन्यत्र भोज ने कहा है कि शब्दार्थ का सम्यक् प्रयोग दोषहान गुणोपादान, अलङ्कारयोग एवं रसावियोग में उपस्थित होता है।^२ यहाँ भी दोषहान को प्रथम स्थान दिया गया है। मम्मट ने भी अपने काव्य-लक्षण में 'अदोषों' को प्रथम स्थान दिया है।^३ अग्निपुराण, हेमचन्द्रकृत 'काव्यानुशासन', जयदेव के 'चन्द्रालोक' एवं विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' में भी जो काव्य-लक्षण दिये गये हैं, उनमें भी 'निर्दोषता' को स्थान प्राप्त है।^४ इस तरह स्पष्ट है कि अनेक आचार्य अदोषता को काव्य की प्रथम अनिवार्यता के रूप में मानने के आग्रही हैं। इनके मतों का निष्कर्ष है कि दुष्ट रचना काव्यपद की अधिकारिणी नहीं।

कुछ ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने प्रकारान्तर से दुष्ट रचना के अकाव्यत्व का प्रतिपादन किया है। कुन्तक ऐसे ही आचार्य हैं। पंचम अध्याय में कहा जा चुका है कि उन्होंने दोषों के पृथक् प्रतिपादन की इसलिए आवश्यकता नहीं समझी कि शब्दार्थ का वे जैसा विशिष्ट लक्षण लेते हैं, उसे स्वीकार करने पर दोष आप-से-आप हट जाते हैं। कुन्तक के मत का स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि दुष्ट काव्य काव्य ही नहीं है। औचित्य को, जिसके समावेश से

१. "किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। स च द्वादशधा, अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यम्, प्रविभागः, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वयः, एकार्थीभावः, दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलङ्कारयोगः, रसावियोग इति।"

—भोजकृत 'शृंगारप्रकाश', प्रथम प्रकाश, पृ० २-३

२. "सम्यक् प्रयोगाश्च तदा उपपद्यन्ते यदा दोषहानम्, गुणोपादानम्, अलङ्कारयोगः रसावियोगश्च भवति।"—डॉ० व्ही० राघवन्-कृत 'भोजाज शृंगारप्रकाश', खण्ड २, पृ० १४४ पर उद्धृत।

३. "तददोषो शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतौ पुनः क्वापि।"

—मम्मटकृत काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, पृ० १०

४. (क) 'काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद् दोषवर्जितम्।

—अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग पृ० २६।

(ख) 'अदोषो सगुणो सालङ्कारो च शब्दार्थौ काव्यम्।'

—हेमचन्द्र-कृत काव्यानुशासन, १।११

(ग) "निर्दोषा लक्षणवती सरोतिर्गुणभूषिता।

सालङ्कारसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥"

—जयदेवकृत चन्द्रालोक, १।७

(घ) "गुणालङ्कारसहिती शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।

गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः॥"

—प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० ४२

दोषत्व खण्डित हो जाता है, सभी मार्गों का सामान्य गुण बताकर^१ भी उन्होंने उक्त तथ्य का समर्थन किया है।

किन्तु उपर्युक्त मान्यता की विरोधी विचारधारा भी संस्कृत-काव्यशास्त्र में उपलब्ध है। विश्वनाथ इसके सबसे प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने मम्मट के काव्य-लक्षण के प्रथम शब्द 'अदोषौ' के सम्बन्ध में यह आपत्ति प्रकट की है कि यदि दोष-रहित रचना को काव्य न मानें, तो 'न्यक्कारो ह्ययमेव किमेभिर्भुजैः' पद में 'विवेयाविमर्श' दोष की सत्ता रहने पर भी मम्मट द्वारा इसका ध्वनिकाव्य (मम्मट के अनुसार उत्तम काव्य) के रूप में आदृत होना हेतुका है।^२ उनका कहना है कि यदि सदोष रचना को अकाव्य कहकर काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत करने लगे, तो काव्य का उदाहरण विरल या असम्भव हो जायगा; क्योंकि सर्वथा निर्दोष काव्य असम्भव है।^३ एक दृष्टान्त के द्वारा विश्वनाथ ने दुष्ट रचना के अकाव्य मानने की धारणा का खण्डन किया है। उनका कथन है कि जैसे कीटानुबिद्ध रत्न की रत्नता खण्डित नहीं होती, केवल उसे अपकृष्ट रत्न माना जाता है उसी प्रकार रसयुक्त सदोष रचना का भी काव्यत्व खण्डित नहीं होता।^४

आनन्दवर्धन भी सदोष रचना के काव्यत्व का एकान्तनिषेध करने के पक्ष में नहीं प्रतीत होते। उन्होंने कहा है कि अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति द्वारा ढक दिये जाते हैं; जैसे

१. "एवं प्रत्येकं प्रतिनियतगुणग्रामरमणीयं मार्गात्रितयं व्याख्याय साधारण गुणस्वरूप-
व्याख्यानाथमाह—आञ्जसेन स्वभावस्य महत्त्वं येन पोष्यते।

प्रकारेण तदौचित्यमुचिताख्यानजीवितम्।" —वक्रोक्तिजीवित, १।५३

२. "यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वं तदा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।

धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा

स्वर्गप्राप्तिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥"

अस्य श्लोकस्य विवेयाविमर्शदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्।

प्रत्युत ध्वनित्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता ॥"

—विश्वनाथ-कृत साहित्यदर्पण, प्र० परि०, पृ० १२-१३

३. "किंचैवं काव्यं प्रविरलविषयं निविषयं वा स्यात् सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसम्भवत्"

—वही, पृ० १४।

४. "उक्तञ्च—कीटानुबिद्धरत्नादि साधारण्येन काव्यता।

दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥"

—वही, प्रथम परि०, पृ० १५।

‘कुमारसम्भव’ में वर्णित शम्भु का अश्लील शृंगारवर्णन।^१ इसका निष्कर्ष यह हुआ कि शक्तिमान् कवि दुष्ट रचना को भी दुष्ट नहीं प्रतीत होने देता है। वैसे रचना का भी काव्यत्व खण्डित नहीं है, यह इस कथन का अप्रत्यक्ष संकेत है।

हिन्दी के आचार्यों में केशवदास ने ‘कविता, वनिता, मित्र’ के लिए जिस प्रकार ‘भूषण’ की अनिवार्यता बताई है,^२ उसी प्रकार दोषहीनता की भी।^३ उनका कथन है कि एक बूंद शराव से ही गंगाजल तक अपवित्र हो जाता है।^४ इस प्रकार वे काव्य में रंचमात्र भी दोष का होना क्षम्य नहीं मानते। ‘नेगी विप्र’, ‘मूढ़विप्र’, ‘कृतघ्नी प्रभु’ की कोटि में ‘दूषणसहित कवित्त’ को रखते हुए इन सबके तिरस्कार का उपदेश देते हैं।^५ चिन्तामणि ने मम्मट का अनुकरण करते हुए अपने काव्य-लक्षण में ‘दोष-साहित्य’ को स्थान दिया है।^६ पर कुलपति मम्मट को अपना उपजीव्य मानते हुए भी^७ उनके काव्य-लक्षण की आलोचना करते हैं। असमर्थ शब्दावली में वह आलोचना विश्वनाथ की आलोचना से समता रखती है। कुलपति विश्वनाथ के इस मत का समर्थन करते हैं कि निर्दोष काव्य जगत् में दुर्लभ हैं।^८ इसी कारण वे ‘काव्यप्रकाश’ के काव्य-लक्षण से ‘अदोषी’ पद को हटा देने के पक्ष में हैं।^९ इसके अतिरिक्त उनका अपना एक विलक्षण मन्तव्य भी इस सम्बन्ध में है। वे सहृदय को प्रमाण मानते हुए कहते हैं कि जिस कवित्त में दोष सहृदय को लक्षित हो

१. “अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संनियते कवेः।

यस्त्यशक्तिकृतस्तस्य स अदित्यवभासते ॥ तथा हि-

महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्ध सम्भोगशृङ्गार-

विवन्धाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्रान्यत्वेन न प्रतिभासते। यथा कुमारसम्भवे देवोत्सर्गोदवर्णनम्।”—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० २४१।

२. “जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।

भूषण विनु न विराजहि कविता वनिता नित्त ॥”—कविप्रिया, पृ० ११२।

३. ‘राजत रंच न दोषजुत कविता वनिता नित्त।’—वही, पृ० १०१।

४. ‘बुंदक हाला होत ज्यों गंगाघट अपवित्र।’—वही, पृ० १०१।

५. “विप्र न नेगी कोजिये मूढ़ न कोजै नित्त।

प्रभु न कृतघ्नो सेइयै दूषणसहित कवित्त ॥”—वही, पृ० १११।

६. “सगुन अलङ्कारन सहित दोषरहित जो होइ।

शब्द अर्थ वारी कवित्त विबुध कहत सब कोइ ॥”

—चिन्तामणिकृत कविकुलकल्पतरु से; ‘हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास’, पृ० ७६।

७. ‘मम्मट-मत को सार सब बरनत भाषा भाखि।’—कुलपति : रसरहस्य, पृ० २।

८. “हैं सब गुण भूषण जहाँ ओ सब दूषण नाहि।

ऐसे कवित्त न जगत् में जो वा लच्छन माँहि ॥”—वही, पृ० ३।

९. ‘तातें लक्षण बीच ए पद कह नैं नहिं जोग।’—वही, पृ० ३।

जायें, उसे कवित्त नहीं मानना चाहिए^१ और जहाँ वे सहृदय को लक्षित न हों, वहाँ दोष की सत्ता में भी काव्य की सत्ता माननी चाहिए।^२ पदुमनदास ने दोष को सर्वथा त्याज्य मानते हुए^३ दण्डी के उस कथन का भाव उद्धृत किया है, जिसमें उन्होंने दोष की उपमा श्वेतकुष्ठ के दाग से दी है।^४ सूरतिमिश्र के काव्य-लक्षण में 'अदोषता' की चर्चा नहीं है।^५ पर श्रीपति, सोमनाथ, जनराज तथा जगत् सिंह ने अपने-अपने काव्य-लक्षणों में अदोषता को स्थान देकर मम्मट का अनुगमन किया है।^६ इस प्रकार हिन्दी में कुलपति और सूरतिमिश्र उसी प्रकार अल्पमत में हैं, जिस प्रकार संस्कृत-काव्यशास्त्र में विश्वनाथ।

दोष से काव्यत्व का निषेध होता या नहीं, इस सम्बन्ध में संस्कृत-हिन्दी के आचार्य इस प्रकार दो शिविरों में दिखाई पड़ते हैं। प्रश्न है कि अधिक सहोः मन्तव्य कौन है। हम विश्वनाथ के साथ सहमत हैं कि अदोषता काव्यत्व की अनिवार्य शर्त नहीं है। काव्यत्व का निर्धारण किसी रचना में निबद्ध अनुभूति के मूल्य पर निर्भर है। यदि निबद्ध अनुभूति काव्यात्मक है, तो हमें उसकी सदोषता-निर्दोषता पर विचार किये बिना उसे काव्य की कोटि में स्थान देना चाहिए। काव्य-निर्माण में मूलतः शक्ति का हाथ है, जिसके अभाव में कोई कवि नहीं हो सकता। व्युत्पत्ति और अभ्यास तो शक्ति के सहायक-मात्र होकर उसके गौण कारण हैं। जिस रचना से कवि की शक्तिमत्ता सूचित हो, उसे केवल सदोषता के आधार पर काव्य

१. 'जहाँ दोष सहृदय लखें सो पुनि कवित्त न होइ।'—वही, पृ० ३।

२. 'सहृदय जाकों नहि लखें नहि दूषण है सोइ।'—वही, पृ० ३।

३. 'दोष सर्वथा त्यागिये यातें रस को हानि।'—पदुमनदास : काव्यमंजरी, पृ० ८५।

४. 'ते दूषण लघु जानि जनि, देहु कवित्त निबासु।

'ऐसे सुंदर देह में कुष्ठ छोट तें नासु॥' —वही, पृ० ८६।

५. "बरनन मन रंजन जहाँ रीति अलौकिक होइ।

निपुन कर्म कवि को जु तिहि काव्य कहत सब कोइ॥"—काव्यसिद्धान्त।

—डॉ० भगीरथ मिश्र-रचित 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० ११३ पर उद्धृत।

६. (क) "शब्द अर्थ विन दोषगुन अलंकार रसवान।

ताको काव्य बखानिये श्रीपति परम सुजान॥"

(ख) "सगुन पदारथ दोष विनु पिगल मत अविरुद्ध।

भूषण जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि बुद्ध॥"

—रसपीयूषनिधि : षष्ठ तरंग।

(ग) "गुनगन भूषन रस उदित दूषण प्रगट न होय।

व्यंग्य सब्दारथ सहित कावि कहावें सोय॥"—कवितारसविनोद, पत्र २

(घ) "वृत्ति अलंकृत गुन रस रीति समेत।

दूषण रहित करो सो काव्य सचेत॥"—साहित्यसुधानिधि पत्र-संख्या ३।

के क्षेत्र से अलग नहीं कर देना चाहिए, चूँकि दोषत्व प्रायः व्युत्पत्ति और अभ्यास की त्रुटि के कारण आता है। आनन्दवर्धन के अनुसार शक्ति अव्युत्पत्तिकृत दोषों को आच्छन्न कर लेती है।^१ अरस्तू ने दोषों को तत्त्वगत और सांयोगिक नामक दो वर्गों में बाँटकर अन्तिम का परिचय व्युत्पत्ति के अभाव के रूप में ही दिया है और तत्त्वगत दोष को कवि की क्षमता का अभाव माना है।^२ इसे आनन्दवर्धन का 'अशक्तिकृत्' दोष कह सकते हैं। कहा जा सकता है कि 'अशक्तिकृत्' या 'तत्त्वगत' दोष की सत्ता में तो काव्यत्व का निषेध स्वीकार किया जाना चाहिए। इस प्रकार किसी दोष को तो यह गौरव है ही कि वह काव्यत्व का निषेध कर दे। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि 'अशक्तिकृत्' शब्द का अर्थ 'शक्त्यभाव' नहीं है, शक्त्यल्पता है। जिस रचना से शक्ति का नितान्त अभाव सूचित हो उसे निश्चय ही काव्य-कोटि में प्रवेश पाने का अधिकार नहीं है, किन्तु जहाँ शक्त्यल्पता की सूचना मिलती हो, वहाँ काव्यत्व का एकान्त निषेध मानना ठीक नहीं। आखिर काव्य की कोटियों की सार्थकता किस प्रकार सिद्ध होगी? शक्तिमत्ता के अनुरूप ही कोई कवि महान्, साधारण या हीन कोटि का होता है। अतः 'अशक्तिकृत्' या 'तत्त्वगत' दोष काव्य के कोटि-निर्धारण के लिए ही उपयुक्त हैं, काव्यत्व-निर्धारण के लिए नहीं। दूसरे, 'अशक्तिकृत्' या 'तत्त्वगत' दोषों को पारिभाषिक अर्थ में दोष मानने के पक्ष में हम नहीं हैं, चूँकि उनका सम्बन्ध अनुभूति के मूल्यांकन से है, जबकि दोषों को हमने प्रेक्षणीयता से सम्बद्ध किया है।^३ किसी कविता या कलाकृति के सम्बन्ध में हमारी प्रथम प्रतिक्रिया प्रायः अच्छी या बुरी के रूप में व्यक्त होती है। इस अच्छाई या बुराई के दो आधार रहते हैं। एक तो निबद्ध अनुभूति की प्रियता-अप्रियता और दूसरे, कलागत कौशल या त्रुटियाँ। हम प्रायः अपनी आलोचना में दोनों आधारों का मिश्रित रूप ग्रहण करते हैं। किन्तु दोनों को अलग रखना कठिन होते हुए भी आवश्यक है। अन्यथा हमारा मूल्यांकन सन्तुलित नहीं हो पायगा। हम अनुभूति की अच्छाई-बुराई को दोष-दर्शन के क्षेत्र से अलग करने के पक्ष में हैं। कारण, इसके अभाव में काव्य का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं है। आइ० ए० रिचर्ड्स का इस सम्बन्ध में

१. ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० २४१।

२. "स्वयं काव्य-कला में दो प्रकार के दोष हो सकते हैं—तत्त्वगत और सांयोगिक। यदि किसी वस्तु का चयन करके, क्षमता के अभाव में कवि उसका यथावत् अनुकरण नहीं कर सका, तो यह काव्य का तत्त्वगत दोष है। किन्तु, यदि विफलता का कारण अनुपयुक्त विषय का चयन है—उदाहरण के लिए मान लीजिए, उसने घोड़े को एक साथ दोनों दाहिने पैर फेंकते दिखाया है अथवा चिकित्सा या किसी अन्य शास्त्र या कला में प्राविधिक त्रुटियाँ कर दी हैं— तो यह तत्त्वगत काव्यदोष नहीं।—अरस्तू का काव्यशास्त्र" अनु०—

डॉ० नगेन्द्र; पृ० ६७।

३. देखिए, पंचम अध्याय।

मस्तव्य उद्धृत किया जा चुका है।^१ वे 'बुरी कला' और 'दोषयुक्त कला' में अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रेषणीयता की त्रुटियों से युक्त कलाकृतियों को अन्तिम कोटि में रखने के पक्ष में हैं।^२ लॉगिडनुस ने भी सदोषता-निर्दोषता को कलागत साधना से सम्बद्ध माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'निर्दोषता की सिद्धि अधिकतर 'कला' के फलस्वरूप प्राप्त होती है और उत्कर्ष उदात्तभावना का परिणाम होता है।'^३ इन विचारों के आधार पर हमारा निष्कर्ष है कि दोष को काव्यत्व-निर्णायक तत्त्व न मानकर काव्य की कलात्मक त्रुटि के रूप में ही महत्त्व मिलना चाहिए।

काव्य में निर्दोषता सम्भव है या नहीं, इस सम्बन्ध में किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व हमें महाकवियों की महान् कृतियों के अनुभव को सामने रखना होगा। संसार के श्रेष्ठ कलाकारों की रचनाओं में भी दोष दिखाये गये हैं। हिन्दी के महाकवि तुलसी के सर्वाधिक सहानुभूतिपूर्ण आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भी अपनी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' में 'कुछ छटकने वाली बातें' शीर्षक देकर तुलसी के दोषों को लिखना पड़ा है। आनन्दवर्धन जैसे संयत समालोचक को भी, जिसने महात्माओं के दोषोद्घाटन को अपना ही दोष समझकर इस कार्य से विलकुल विरति ले ली,^४ स्वीकार करना पड़ा है कि महाकवि के प्रबन्धों में भी रसमंग के बहुत-सारे उदाहरण मिलते हैं।^५ लॉगिडनुस ने तो यहाँ तक कह डाला है कि महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है।^६ जब महाकवियों की यह स्थिति है, तो साधारण कवियों की स्थिति स्पष्ट है, यद्यपि लॉगिडनुस के अनुसार साधारण कवियों का निर्दोष होना सम्भव है।^७

काव्य में पूर्ण निर्दोषता सम्भव है या नहीं, इस प्रश्न के पीछे मूल प्रश्न है कि मनुष्य में निर्दोषता सम्भव है या नहीं; चूँकि काव्य मानवीय सृष्टि है, जिसमें स्वभावतः मानवीय

१. देखिए, पंचम अध्याय; पाद-टिप्पणी।

२. वही।

३. लॉगिडनुस-कृत 'ओन दी सव्लाइम' का हिन्दी-अनुवाद 'काव्य में उदात्त' तत्त्व: अनु० : डॉ० नगेन्द्र; पृ० १०१।

४. "तत्तु सूक्तिसह्योत्तितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणभातन एव दूषणं भवतोति न विभज्य प्रदर्शितम्।"—ध्वन्यालोक, काव्यमाला-संस्करण, पृ० ९४।

५. "उक्त प्रकारातिशये तु नियमेनैव रसभङ्ग हेतुः सम्पद्यते। लक्ष्यं च तथाविधमपि महाकवि प्रबन्धेषु दृश्यते बहुशः।"—वही, पृ० ९४।

६. काव्य में उदात्त तत्त्व; पृ०, ९५।

७. "इसमें सन्देह नहीं कि निम्न और मध्य श्रेणों के व्यक्ति नियमतः विनिपात से मुक्त होते हैं और अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहते हैं; क्योंकि वे कभी भी शिखर पर चढ़ने का साहस नहीं करते।"—वही, पृ० ९५।

ओदात्ता के साथ-साथ सीमाओं और दुर्बलताओं की भी अभिव्यक्ति हो जाना सम्भव है। फिर भी हमारा खयाल है कि हम व्यतीत के अनुभवों को अपनी सीमा मानकर अपनी पराजय स्वीकार नहीं करें। यह ठीक है कि आज तक निर्दोष मानव का उदाहरण हमारे सामने आ सका है या नहीं, कहना कठिन है, किन्तु इससे हमारी निर्दोषता की साधना के रुक जाने का प्रश्न नहीं आता। और, वह साधना इस विश्वास पर ही चलेगी कि निर्दोषता मनुष्य में सम्भव है। जिस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टिकोण अज्ञेयवाद को स्वीकार करके नहीं चलता, उसी प्रकार आदर्श-साधना घुटियों को अपरिहार्य मानकर नहीं चला करती।

हमारा तीसरा प्रश्न है, निर्दोषता का काव्य में केवल अभावात्मक मूल्य ही है या भावात्मक भी है। दूसरे शब्दों से, अदोषता को गुणवत्ता माना जा सकता है या नहीं। यह स्वीकार करते हुए कि केवल अदोषता से किसी रचना में काव्यत्व का आगम नहीं होता, सौन्दर्य-अनिवेश से ही होता है, हम यह मानते हैं कि अदोषता का काव्य में भावात्मक मूल्य भी है। जीवन में सौन्दर्य और सदाचार का एकरूप दोषमुक्तता से भी सम्पन्न माना जाता है। साधारणतया किसी वस्तु या व्यक्ति के बाहरी स्वरूप में कोई विकृति, विषटन या स्खलन नहीं देख पाने पर हम उसे सुन्दर मान लेते हैं। सौन्दर्य का यह बाह्य पक्ष बहुत-कुछ अवयवों के सामंजस्यपूर्ण संघटन पर निर्भर है, जिसमें अनिवार्यतः निर्दोषता आ जाती है। यह ठीक है कि ध्वनिवादी आचार्य अवयवातिरिक्त किसी प्रतीयमान लावण्य को अधिक महत्त्व देगा और वैसे लावण्य से युक्त कोई बल्कल-बसना शकुन्तला शैवालयुक्त कमलिनी की तरह और अधिक मनोज्ञ लगेगी, पर वह अवयव-संघटनजन्य सौन्दर्य भी गुणात्मक महत्त्व को प्राप्त करता ही है। इसी प्रकार किसी दुष्कर्म से विरक्त व्यक्ति प्रायः सदाचारी मान लिया जाता है। इन्हीं साम्यों के आधार पर काव्यगत निर्दोषता को गुण माना जा सकता है। कुछ कवियों और आलंकारिकों ने तो इसे स्पष्टतः 'गुण' या 'महान् गुण' के रूप में स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, माघ गुण-रहित व्यक्ति को अपदोषता को ही उसका गुण मानते हैं।^१ गोविन्द ठक्कुर गुणाभाव की स्थिति में दोषाभाव को आह्लादसम्भवक मानने के पक्ष में हैं।^२ केशवमिश्र और पदुमनदास तो निर्दोषता को इस सीमा तक महान् गुण मानते हैं कि अन्य गुणों की उपेक्षा को प्रोत्साहन देते प्रतीत होते हैं।^३ हम निर्दोषता को गुण मानने के पक्ष में हैं, पर उक्त आचार्यों की

१. 'अपदोषतैव विगुणस्य गुणः।'—माघ : शिशुपालवध, ९।१२।

२. 'सति तु दोषाभावे गुणादिकं विनापि आह्लाद सम्भवात्।'

—काव्यप्रदीप, सप्तम उल्लास, पृ० १६८।

३. (क) "दोषस्सर्वात्मना त्याज्यः रसहानि करोति सः।

अन्यो गुणोऽस्तु मा वास्तु महान्निर्दोषतागुणः॥"

—केशवमिश्र-कृत अलंकारशेखर, २।१ पर किसी लेखक का मत उद्धृत और पोषित।

तर्ह उसे उस सीमा तक महान् गुण मानने के पक्ष में नहीं हैं कि काव्यत्व के लिए पर्याप्त मान लें। अदोषता को हम ऐसा गुण मानते हैं, जो काव्यत्व-संघटक गुणों का स्थानापन्न या समकक्ष न होकर हीन वक्ष्य का है। केवल निर्दोषता काव्य में जीवन नहीं दे सकती है, उससे काव्य का आभास ही उत्पन्न हो सकता है। हाँ, निर्दोषता से युक्त गुणवत्ता अवश्य अधिक ग्राह्य है। जनराज ने ठीक ही कहा है कि निर्दोष ब्राह्मण भी विद्या के अभाव में शोभित नहीं होता, उसी तरह निर्दोष कविता भी बिना गुण के नहीं सुहाती।^१

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में ही हमारे तीसरे प्रश्न का उत्तर संकेतित है। हम निर्दोषता की अपेक्षा गुणवत्ता या रसवत्ता को काव्य में अधिक मूल्य देने के पक्ष में हैं। जीवन में सुख केवल दुःखाभाव-मात्र नहीं है, मधुरता का आनन्द कटुता-तिक्तता के अनुभव का अभाव-मात्र नहीं है, यह अनुभवसिद्ध है। मुक्ति केवल दंशनमुक्त बन्धनहीनता ही नहीं है, आनन्दात्मक मनःस्थिति मानी गई है। इसी प्रकार काव्य का महत्त्व अदोषता से अधिक गुणवत्ता पर निर्भर है। यही गुणवत्ता दोष की सत्ता में भी काव्य को महत्ता प्रदान करती है। लॉगिडनुस ने दोषपूर्ण कोलोस्सस को निर्दोष कुन्तघर की मूर्ति से श्रेष्ठ माना है।^२ उसका कहना है कि छोटी-छोटी निर्मल धाराओं की अपेक्षा हम खारे पानीवाले महासागर की महत्ता से अधिक प्रभावित होते हैं।^३ उसके अनुसार 'जहाँ दोषमुक्त होने पर आलोचनाओं से छुटकरा मिलता है, वहाँ गरिमा आदर और विस्मय को जन्म देती है। महान् लेखकों में से प्रत्येक उदात्त के केवल एक सुखद स्पर्श से ही अपने समस्त दोषों का परिमार्जन कर देता है।' संस्कृत का अज्ञात कवि सर्पयुक्त, विफल, सकण्टक, वक्र, पंकिलभव और दुरासद होते हुए भी केतकी को जब केवल अपनी गन्ध की उत्कृष्टता से सबको अपनी ओर आकृष्ट करते हुए पाता है, तो अनायास उसके मुँह से निकल पड़ता है—'एको गुणः

(ख) 'जौ न होय गुन और तो गुन अदोषता मानि।'—पदुमनदासः काव्यमंजरी

पृ० ८६।

१. "विप्र बिना अपकारऊ बिद्या बिन शोभे न।

त्यो कविता दोषउ बिना गुन बिन नो क लजे न ॥"—जनराजः कविता-रस विनोद

पत्र १०३।

२. काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० १०२।

३. "स्वभाव से ही हम छोटी-छोटी धाराओं की प्रशंसा नहीं करते, चाहे वे कितनी ही उपयोगी और निर्मल क्यों न हों, बल्कि नौल नदी, डैन्यूब अथवा राइन और इन सबसे अधिक महासागर से प्रभावित होते हैं।"—वही, पृ० १००।

४. वही, पृ० १०१।

खलुनिहन्ति समस्तदोषान्^१। कालिदास ने तो गुणसन्निपात में एक दोष के निमज्जन की ही बात कही थी^२, उक्त अज्ञात कवि उससे भी आगे है। हमारा कहना है कि प्रत्येक साधारण गुण में यह मादा नहीं है कि वह समस्त दोषों की ओर से ध्यान हटा दे। महाकवियों की वाणी में केतकी की गन्ध की तरह उत्कृष्ट कोई रस ही ऐसे भावक, जो मक्षिकावृत्ति या उष्ट्रस्वाद नहीं रखते हैं और जो दोषदृष्टि की जगह दोषविवेक रखते हैं, का ध्यान खटकने-वाली बातों की ओर से हटाने में समर्थ होता है। फिर भी आलोचक की यह आकांक्षा स्वाभाविक है कि वह किसी कृति से महान् गुणवत्ता के साथ-साथ निर्दोषता की भी अपेक्षा रखे। दोषालोचन की सार्थकता आलोचक के अहन्तोष या सामान्य पाठक को आतंकित करने में नहीं है, अपितु आलोचक द्वारा महाकवियों की कला-साधना में सहायता प्रदान करने की दृष्टि से है।

●

-
१. "व्यालाश्रयापि विफलापि सकण्टकापि
वक्रापि पंकिलभवापि कुरासदापि।
गन्धेन बन्धुरसि केतकि सर्वजन्तो-
रेको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषान्॥" —सुभाषित।

२. 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः।

—कुमारसम्भव, प्रथम सर्ग, ३।

उपसंहार

काव्यदोषों के उद्भव एवं विकास का जो अध्ययन पिछले पृष्ठों पर प्रस्तुत है, उसके प्रमुख निष्कर्षों का समाहार इस प्रकार है :

भारतीय काव्यशास्त्र का व्यवस्थित आरम्भ यद्यपि ईसा-पूर्व चार शताब्दियों की घटना है, पर इसके विचारों का आरम्भिक छोर ऋग्वेद में ही प्राप्य है। इसी प्रकार काव्य-दोषों का शुद्ध शास्त्रीय रूप यद्यपि भारतीय काव्यशास्त्र के स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा के साथ उपलब्ध होता है, तथापि उसका मूल जिस सामान्य दोष-धारणा में स्थित है, उसके विविध पक्षों का निदर्शन 'ऋग्वेद' में उपलब्ध है।

आर्यभाषा के आदिम युग में विरक्ति, घृणा या निन्दा की सहज अभिव्यक्ति के क्रम में स्वतःस्फूर्त मनोरोग-व्यंजक 'दुः' शब्द ऋग्वैदिक भाषा में उपसर्ग बनकर अनेक व्युत्पन्न शब्दों का साधक हो चुका था। ऐसे शब्दों के प्रचुर उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्य हैं। ऋग्वेद के ये दोषोल्लेख आर्यों की दोषधारणा के व्यापक एवं विकसित स्वरूप के निदर्शक हैं। यदि एक ओर दोषधारणा के आरम्भिक रूप के परिचायक दैहिक विकारों का उल्लेख इस वेद में मिलता है, तो दूसरी ओर, विकसित सौन्दर्य-भावना में क्षोभ उत्पन्न करनेवाली कुरूपताओं की चेतना के उदाहरण भी यहाँ सहज प्राप्य हैं। इतना ही नहीं, आचार-विचार की पवित्रता के प्रति अतिशय सावधान ऋषियों की आचार-शास्त्रीय एवं धर्मशास्त्रीय दोष-धारणा के प्रचुर दृष्टान्त भी यहाँ उपलब्ध हैं।

अपने अस्फुट रूप में काव्यदोष बीच का अस्तित्व जिस सामान्य वाग्दोष-धारणा में है, उसके संकेतक 'दुरुक्त' एवं 'दुष्टुतिः' जैसे शब्द भी ऋग्वेद में प्राप्य हैं। इन उल्लेखों में नैतिक-धार्मिक दृष्टि से वाग्दोष-धारणा की अभिव्यक्ति हुई है।

विकृति अर्थ में संज्ञापद 'दूषण' का अथर्ववेद में उल्लेख मिलता है, किन्तु इस वेद के अधिकांश दोषोल्लेखों में दोष का अर्थ 'नाश करना', 'मारना' या 'बाधित करना' है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में वाणी की नैतिक पवित्रता का जो कठोर आग्रह स्थल-स्थल पर प्राप्त है, उसने वाणी के दोषों या छिद्रों की धारणा की अनेकत्र अभिव्यक्ति को सम्भव बनाया। 'कठिनता से बूझने योग्य' अर्थ में 'दुष्प्रज्ञानम्' का प्रयोग वाग्दोष-धारणा के उस रूप का सूचक है, जो काव्य-दोष के बहुत समीप है।

वैदिक साहित्य ज्ञान के आरम्भिक तथा इसी कारण विशिष्टीकरण से रहित सामान्य स्वरूप का वाहक है, अतः दोषों के शुद्ध काव्यशास्त्रीय स्वरूप की अनुपलब्धि यहाँ स्वाभाविक है। वेदांग-काल में ज्ञान का जो विशिष्टीकरण हुआ, उसने अलग-अलग वेदांगों

की शास्त्रीय दोष-धारणा का स्वरूप स्फुट किया। वैदिक आर्यों की कठोर नैतिक-धार्मिक प्रवृत्तियों से अनुप्राणित वाग्दोष-धारणा विविध वेदांगों में विशिष्ट एवं शास्त्रीय स्वरूप प्राप्त करती है। शिक्षा, छन्द एवं व्याकरण नामक वेदांगों की दोष-धारणा काव्यदोषों की उत्पत्ति में पूर्ववर्ती शृंखला के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती है। वेदांगों के अतिरिक्त विकसित होनेवाले अन्य शास्त्रों में 'न्याय' की वाग्दोष-धारणा का काव्यदोष के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है। वाक्य एवं अर्थ की तार्किक असंगतियों को 'न्याय' में जिन दोषों के रूप में अभिहित किया गया, उनमें से कई यथावत् काव्यदोषों के रूप में स्वीकृत हैं।

उपर्युक्त शास्त्रों के वाग्दोष एक साथ मिलकर एक सामूहिक रूप भी धारण किये हुए थे, जिसका साक्ष्य 'महाभारत' के सुलभा-जनक-संवाद में वर्णित अट्ठारह दोष देते हैं। इनमें से कई काव्यशास्त्र में स्थान पाये हुए हैं। कोटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित लेख-दोषों की भी यही स्थिति है। इनमें कई दोष शुद्ध सौन्दर्य-दृष्टि से भी निरूपित हैं। 'महाभारत' के अट्ठारह दोषों में 'कण्ठशब्द', 'गुर्वक्षर' तथा 'अश्लक्ष्ण' नामक दोष ऐसे ही हैं। ऐसे दोषों के संख्या-विस्तार से काव्य-दोषों की स्वतन्त्र सत्ता का महत्त्व स्पष्ट हुआ। सामान्य वाग्दोष-धारणा के बीच अपना अस्फुट बीज रखनेवाला काव्य-दोष आरम्भ में काव्य-शास्त्र-तर शास्त्रों से रस ग्रहण करता रहा है।

भारतीय काव्यशास्त्र की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के आरम्भिक काल में ही दोष-विवेचन को स्थान प्राप्त हुआ। किन्तु, उसके आरम्भिक ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण दोष-विवेचन के भी आदिम काव्यशास्त्रीय स्वरूप का हमें पता नहीं है। काव्यशास्त्र-तर ग्रन्थों के दोषों से उनके स्वरूप का अनुमान हो सकता है। नितान्त अन्यच्छास्त्रीय दोषों को महाभारत के वाणी-दोषों एवं 'अर्थशास्त्र' के लेख-दोषों से निकाल देने पर जो दोष बचते हैं, उनका काव्यदोषों की सूची में अवश्य स्थान रहा होगा, चूँकि परवर्ती काव्यशास्त्रीय पुस्तकों में भी उनको समान या भिन्न नाम से स्थान प्राप्त है।

दोषाधिकारी के रूप में धिषण का जो उल्लेख है, उसके पीछे बहुत प्राचीन काल से चली आती हुई अनुश्रुति का बल हो सकता है। किसी दोषाचार्य के उपनाम के रूप में 'धिषण' का दोष-विवेचन के साथ सम्बन्ध सम्भव है।

गुण-दोष के विपर्ययात्मक सम्बन्ध के रूप में काव्यदोषों के सामान्य स्वरूप की धारणा संस्कृत-काव्यशास्त्र के आरम्भिक काल में प्रचलित रही है। इस विचारधारा के संकेत कोटिलीय 'अर्थशास्त्र' में मिल जाते हैं। वस्तुपरक दृष्टि से जहाँ दोष को काव्य-सौन्दर्या-क्षेपहेतु कहा गया, वहाँ भावक की दृष्टि से उन्हें उद्वेगजनक माना गया। अग्निपुराण में 'सम्पों के उद्वेगजनक' के रूप में जो लक्षण है, उसकी परम्परा 'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' तथा 'काव्यादर्श' में उल्लिखित दोष की उद्वेगजनकता के आधार पर बहुत प्राचीन ठहरती है। काव्य-सौन्दर्य की वस्तुगत धारणा ने जहाँ आरम्भ में काव्यदोषों को शब्दार्थ से सम्बद्ध किया,

वहाँ ध्वनि-सिद्धान्त के विकास के साथ काव्य-सौन्दर्य के आत्मगत स्वरूप के स्पष्ट होने पर दोषों की, रसध्वन्यात्मकता की दृष्टि से, विवेचना हुई। आनन्दवर्धन के विचारों से दोष की धारणा रस और ओचित्य-तत्त्व की दृष्टि से निर्धारित हुई। महिममट्ट के द्वारा अनोचित्य को दोष माना जाना और मम्मट द्वारा मुख्यार्थहति के रूप में दोष का लक्षण-निर्धारण आनन्द-वर्धन के विचारों का स्वाभाविक परिणाम था। विश्वनाथ ने रसापकर्षक अथवा काव्याप-कर्षक के रूप में तथा विद्यानाथ ने काव्यापकर्षक के रूप में लक्षण किया। गोविन्द ठकुर ने मम्मट की 'मुख्यार्थहति' के अभिप्राय को उद्देश्य-प्रतीति-विधातकता के रूप में स्पष्ट किया। भावक पर पड़नेवाले प्रभाव की दृष्टि से जहाँ दोष की सहृदयोद्वेजकता के रूप में परिभाषा अधिक संगत है, वहाँ इस उद्वेजकता के मूल कारण की व्याख्या से दोष का स्वरूप-स्पष्टीकरण अधिक सम्भव है। दोष की अनेक परिभाषाओं में गोविन्द ठकुर का दोष-लक्षण अधिक उपयुक्त है। उसमें किंचित् संयोजन करके 'अनोचित्यमूलक उद्देश्य प्रतीति-विधात' के रूप में दोष-लक्षण करना अधिक समीचीन है।

विशिष्ट काव्यदोषों के विकास में 'नाट्यशास्त्र' का दोष-निरूपण उस स्थिति का सूचक है, जब एक ही नाम से सम्बद्ध दोष के विभिन्न स्वरूप प्रचलित थे। उसमें प्रथम स्थल पर वर्णित दस दोषों के लक्षण से स्पष्ट है कि गुण-दोष के विपर्ययात्मक सम्बन्ध पर ध्यान रखने के कारण गुणों की संख्या से दोष-संख्या को समान करने के लिए अनेक दोषों को एक दोष में सन्निविष्ट करने की चेष्टा की गई है। 'नाट्यशास्त्र' के द्वितीय स्थल पर वर्णित दोषों को प्रथम स्थल पर वर्णित दोषों में अन्तर्भुक्त माना जा सकता है, पर पुराने दोष-नामों के अप्रचलन, दोषों के भेद-प्रस्तार एवं नये अभिधानों के प्रचलन ने 'नाट्यशास्त्र' के परवर्त्ती संस्कर्त्ता को, जिसने इस द्वितीय स्थल के दोषों को 'नाट्यशास्त्र' में सन्निविष्ट किया है, एक अलग दोष-सूची देने को प्रेरित किया होगा।

अलंकार-दोषों की उद्भावना जिसने भी की हो, पर भामह ने मेधावी को सात उपमा-दोष प्रतिपादित करने का श्रेय दिया है और उनका सोदाहरण परिचय भी दिया है। उपमा-दोषों का यह प्रथम उपलब्ध प्रतिपादन है। 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में वर्णित दस दोष 'नाट्यशास्त्र' के दस दोषों से भिन्न नाम रखते हैं, पर स्वरूपतः उनमें चार ही भिन्न हैं। इन चारों में दो महाभारत के वाणी-दोषों में थोड़े अन्तर के साथ उपलब्ध हैं। 'विष्णु-धर्मोत्तरपुराण' की दोष-सूची जहाँ नाट्यशास्त्रीय दोष-सूची के अप्रचलन की सूचना देती है, वहाँ वह तत्कालीन सभी दोषों की सम्पूर्ण सूची भी नहीं है।

भामह के 'काव्यालंकार' में तीन स्थलों पर दोषों की चर्चा उसके तीन स्रोतों का संकेत देती है। अपने दोष-प्रतिपादन में भामह ने संकलन की प्रवृत्ति का परिचय दिया है। उनकी दोष-सूची में 'नाट्यशास्त्र', 'विष्णु-धर्मोत्तरपुराण' तथा 'महाभारत' के अनेक दोष यथावत् या किंचित् परिवर्तन के साथ उपस्थित हैं, साथ ही कई नवीन दोषों का भी उसमें उल्लेख है। इक्कीस दोषों की प्रत्यक्ष चर्चा के अतिरिक्त भामह ने अनेक दोषों का

अप्रत्यक्षतः संकेत किया है। परवर्त्ती काव्यदोषों के विकास की प्रेरणा यहाँ उपलब्ध है, अतः इन अप्रत्यक्ष दोष-चर्चाओं का ऐतिहासिक महत्त्व है।

दण्डी ने भामह की एक ही दोषसूची का यथावत् प्रतिपादन किया। उनका महत्त्व गुणविपर्ययात्मक दोषों के उल्लेख की दृष्टि से है। वामन ने एक ओर दण्डी की दोष-सूची को अपर्याप्त समझकर दोषों की संख्या बीस मानी, दूसरी ओर गुण-विपर्ययात्मक दोषों के निरूपण में प्रायः दण्डी का अनुकरण किया। उनके द्वारा कुछ नवीन दोषों का भी उल्लेख हुआ, जो दोषों की विकासोन्मुखता का परिचायक है। रुद्रट की दोषसूची वामन की सूची से भिन्न है, जिसमें कुछ पिछले दोषों का परित्याग है और कुछ नवीन दोषों का उल्लेख है। रुद्रट का दूसरा महत्त्व रसदोष के प्रथम उल्लेख की दृष्टि से है।

विशिष्ट दोषों की चर्चा से विरत रहने पर भी आनन्दवर्धन का दोषों के विकास में अतिशय महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनके द्वारा की गई रसविरोध की सामान्य विचारणा एवं विशिष्ट प्रकार के रसभंगों के उल्लेख ने परवर्त्ती लक्षण-ग्रन्थों में रसदोषों के स्वतन्त्र स्थान और महत्त्व को प्रेरित किया। उनके संघटना-विवेचन, वर्णों की रसानुकूलता-प्रतिकूलता-विवेचन तथा वृत्त्यनीचित्य-प्रतिपादन ने भी परवर्त्ती काव्यशास्त्रीय दोषों में से कुछ की स्थापना का उद्गम स्रोत अपने को सिद्ध किया।

राजशेखर ने हरण-दोष का विस्तृत प्रतिपादन किया है। इसका संकेत वामन के 'पुराणच्छाया' नामक दोष में प्रथमतः प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने भी इस दृष्टि से कुछ विचार किया था, जिसे राजशेखर ने स्वीकार किया है। काव्यगत शब्दार्थ का विशिष्ट लक्षण लेने के कारण कुस्तक ने विशिष्ट दोषों के अलग प्रतिपादन को अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है। फिर भी कुछ पद्यों की सूक्ष्म आलोचना करके उन्होंने उनके दोषत्व का रूप प्रकट किया है। इनमें से एक स्थल मम्मट के सनियम परिवृत्तत्वदोष का उदाहरण बना है। अभिनवगुप्त-कृत नाट्यशास्त्रीय दोषों की व्याख्या में उनके नाट्यशास्त्र-युगीन स्वरूप का ही परिचय नहीं है, नवीन धारणाओं का भी समावेश है। घनंजय ने कुछ नाट्य-विधान के दोषों का उल्लेख किया है।

महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित पाँच शब्दानौचित्यों में कुछ प्राचीन और कुछ नवीन दोषों का उल्लेख है। इन नवीन दोषों को मम्मट ने स्वीकार करके महिमभट्ट का महत्त्व प्रमाणित किया है। रुद्रट के पाँच रसदोष संस्कृत-काव्यशास्त्र में इन्हीं नामों से स्वीकृत नहीं हुए, पर हिन्दी रीति-ग्रन्थों में उन्हें स्थान मिला है।

पिछले सारे आचार्यों के प्रतिपादन की अपेक्षा भोज का दोष-प्रतिपादन विस्तृत है, जिसमें प्रायः पूर्व-प्रचलित दोषों का संकलन हो गया है। किसी पूर्णतः नवीन दोष का भोज द्वारा उल्लेख न हो सका। क्षेमेन्द्र का दोष-निरूपण स्थूल तथा संक्षिप्त है। उनके दोषों को वर्ग मानना समीचीन है।

दोष-विकास का सर्वाधिक उत्कर्ष मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में उपलब्ध होता है,

जहाँ विस्तृत होते हुए भी दोष-प्रतिपादन व्यवस्थित एवं नियमित हो गया है। मम्मट के सत्तर दोषों में कुछ नवीन दोषों का उल्लेख है, कुछ पुराने दोषों के नये अभिधान तथा लक्षण हैं। कुछ दोष पुराने आचार्यों से यथावत् स्वीकार किये गये हैं। परवर्त्ता आचार्यों ने प्रायः मम्मट का पूर्णतः या अंशतः अनुगमन किया है। दोषों के क्षेत्र में मम्मट के बाद नवीन संयोजन अत्यल्प है। जयदेव, विद्यानाथ, विश्वनाथ, केशवमिश्र, अमृतानन्द योगी तथा पण्डित-राज जगन्नाथ ने कुछ ऐसे दोषों का संकेत अवश्य किया है, जिनका मम्मट की दोषसूची में अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। पण्डितराज ने रसदोषों के संख्या-विस्तार द्वारा एवं दुःश्रव्य वर्ण-योजना को वर्णदोषों में प्रतिपादित करके अपनी विशेषता का परिचय दिया है।

प्राकृत-अपभ्रंश में काव्यदोषों का अलग प्रतिपादन अनुपलब्ध है। 'अनुयोगद्वार-सुत' नामक सूत्र-ग्रन्थ के बत्तीस सूत्रदोषों में कई काव्यदोषों का भी उल्लेख है।

हिन्दी में प्रथम दोष-प्रतिपादन केशवदास का उपलब्ध है। उन्होंने दण्डी, तथा रुद्रभट्ट जैसे संस्कृत के आचार्यों के दोष-प्रतिपादन से सामग्री ली है। उन्होंने कोई नया दोष संकेतित नहीं किया, यद्यपि उनके कुछ दोष-नाम पूर्वापरिचित हैं।

चिन्तामणि ने केशवदास के दोष-प्रतिपादन का अनुगमन नहीं करके भिन्न परम्परा का श्रोगणेश किया। उन्होंने मम्मट के दोष-प्रतिपादन को ही हिन्दी में प्रस्तुत करने की परिपाटी चलाई। फिर भी हिन्दी की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने मम्मट के कुछ दोषों का परित्याग कर दिया।

कुलपति, कुमारमणि, सोमनाथ, मिखारीदास, जनराज, प्रतापसाहि, ग्वाल, पं० सीताराम शास्त्री, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तथा पण्डित रामदहिन मिश्र ने अपने दोष-प्रतिपादन का आधार 'काव्यप्रकाश' के दोष-प्रतिपादन को बनाकर चिन्तामणि की परम्परा का ही पालन किया है। इन आचार्यों का दोष-प्रतिपादन आधारभूत सामग्री की एकता रखते हुए भी अपनी-अपनी विशेषता रखता है। कुलपति ने मम्मट के बहुत-सारे वाक्यदोषों को छोड़ दिया है, जिनसे कुछ का परित्याग तो हिन्दी की दृष्टि से उचित कहा जा सकता है, पर कुछ हिन्दी के लिए स्वीकार्य थे। पद-परिवर्त्तन द्वारा दोषोदाहरणों में दोषमार्जन का अधिकांश स्थलों पर निर्देश कुलपति की विशेषता है। कुमारमणि का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने मम्मट के दोष-प्रतिपादन का पूर्णस्वरूप सामने रखा। उनका प्रतिपादन प्रायः निःश्रान्ति है, जबकि अन्य रीतिकालीन आचार्यों में अनेक स्थलों पर भ्रान्ति दृष्टिगोचर होती है। लक्ष्य-ग्रन्थों से भी कुछ उदाहरण देना उनको दूसरी विशेषता है। सोमनाथ का प्रतिपादन बहुत संक्षिप्त है। मिखारीदास ने अपने दोष-लक्षणों में कहीं-कहीं स्वच्छन्दता का परिचय दिया है। 'चन्द्रालोक' की शैली पर एक ही दोहे में लक्षण-उदाहरण उपस्थित करना भी उनकी विशेषता है। जनराज का प्रतिपादन इस वर्ग के आचार्यों में सबसे हीन कोटि का है। उन्होंने दोष-लक्षणों में कहीं-कहीं बड़ी भयंकर भूल की है और उनके उदाहरण भी संगत और स्पष्ट नहीं हैं। प्रतापसाहि में वैसी आलोचक-दृष्टि नहीं है, जैसी कुलपति और कुमारमणि

में है। ग्वाल का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने दोष पर एक स्वतन्त्र पुस्तक ही लिखी है, जिसमें हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं को उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया। समान प्रतीत होनेवाले दोषों का अन्तर स्पष्ट करना उनकी दूसरी विशेषता रही। पं० सीताराम शास्त्री ने मम्मट के दोषों की सूची दे दी है और उनके संक्षिप्त लक्षण दिये हैं, उदाहरणों का अभाव है। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने मम्मट के दोष-प्रतिपादन का पूर्ण एवं प्रायः सही रूप प्रस्तुत किया। गद्यात्मक लक्षणों एवं व्याख्याओं से उन्होंने मम्मट के अभिप्राय को बहुत स्पष्ट कर दिया है। कहीं-कहीं तो उन्होंने लक्ष्य-ग्रन्थों से उदाहरण दिये हैं और कहीं 'काव्यप्रकाश' के उदाहरण का अनुवाद कर दिया है। पं० रामदहिन मिश्र ने अधिकांश उदाहरण लक्ष्य-ग्रन्थों से—मुख्यतः खड़ीबोली के ग्रन्थों से दिये हैं। कुछ नवीन दोषों को स्वीकार करने का भी प्रस्ताव मिश्रजी ने किया है, यद्यपि वे पूर्णतः नये दोष नहीं हैं।

तोष ने केवल 'शृंगारतिलक' के पाँच रसदोषों का ही उल्लेख किया है। पदुमन-दास ने केशवमिश्र के 'अलंकारशेखर' के दोष-प्रतिपादन को अपनी पुस्तक में प्रस्तुत किया है, जिसमें कहीं-कहीं भ्रान्ति है। देव ने केवल कुछ रसदोषों का उल्लेख किया है। सूरतिमिश्र और श्रीपति ने केशव के दोष-निरूपण को चिन्तामणि की तरह अस्वीकृत नहीं किया। उन्होंने 'काव्यप्रकाश' के भी कुछ दोषों को अपनाया है। मञ्जाराम ने डिगल में मान्य दोषों का निरूपण किया, जिनके नाम ही नये हैं, स्वरूपतः वे सभी दोष संस्कृत-काव्यशास्त्र के दोषों से भिन्न नहीं हैं। जगत्सिंह का दोष-प्रतिपादन बड़ा विस्तृत है। उसमें 'काव्य-प्रकाश' और 'चन्द्रालोक' के दोषों को स्वीकार किया गया है, जिससे कहीं-कहीं एक ही दोष भिन्न नामों से आवृत्त हो गया है। उन्होंने कुछ नवीन प्रतीत होनेवाले दोष भी प्रस्तुत किये हैं, पर उनमें वस्तुतः नवीनता नहीं है।

हिन्दी का दोष-प्रतिपादन मौलिकता-रून्य है। कुछ को छोड़कर शेष आचार्यों ने स्वनिर्मित कृत्रिम उदाहरण दिये हैं।

सर्वाधिक समृद्ध होते हुए भी मम्मट की दोष-सूची में संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित समग्र काव्यदोषों का अन्तर्भाव नहीं है। हिन्दी की दृष्टि से संस्कृत के कई दोष अप्राप्त हैं।

दोषों का निरूपण सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं पर आवृत्त करने पर उनकी संख्या का सीमा-निर्धारण सम्भव नहीं। किसी भी भाषा के काव्यशास्त्र में काव्यदोषों के दो स्वरूप संकेतित होने चाहिए। एक वह, जो सभी भाषाओं के काव्य की परीक्षा के लिए उपयुक्त हो सके और दूसरा वह, जो अपनी भाषा की प्रकृति पर आवृत्त हो और अपनी भाषा के साहित्य की परीक्षा के समय प्रयुक्त हो।

दोष के उदाहरणों की परिवर्तनशीलता पर भी ध्यान देना आवश्यक है। कारण, कालक्रम से दुष्ट समझे जानेवाले शब्द अपना दोषत्व खो देते हैं।

संस्कृत-काव्यशास्त्र में दोषों की नित्यता-अनित्यता का विचार औचित्य-तत्त्व पर प्रतिष्ठित है। आरम्भिक आचार्यों ने 'कविकौशल', 'आश्रय', 'सौन्दर्य' एवं सन्निवेश-प्रकार को दोषों की अनित्यता का कारण बताते हुए औचित्य की अप्रत्यक्ष स्वीकृति की है। आनन्द-वर्धन ने रसध्वन्यात्मकता की दृष्टि से दोषों की अनित्यता का प्रतिपादन किया। दोषों की अनित्यता केवल अदोषता के अर्थ में ही स्वीकृत नहीं हुई है, गुणात्मकता के रूप में भी उसे मान्यता मिली है। भोज ने ऐसे दोषों को, जो स्थिति-विशेष में गुण हो जाते हैं, वैशेषिक गुण के नाम से अभिहित किया है। अभिनवगुप्त ने अपशब्द को नित्यदोष माना है, चूँकि उसके रहते अर्थ-प्रतीति नहीं हो पाती। मम्मट ने अनुकरण में सभी दोषों की अनित्यता सूचित की है। उन्होंने अनित्य दोषों के तीन स्वरूप निर्दिष्ट किये हैं— अदोषत्व, गुणत्व और अदोषगुणत्व। परवर्त्ती आचार्यों ने भी इसे स्वीकार किया है। गोविन्द ठक्कुर ने अनुकरण में ही दोषत्व खोनेवाले दोषों को नित्य दोष माना है, जिनका अनुकरण के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से समाधान हो सके, उन्हें वे अनित्य दोष मानते हैं।

हिन्दी-लक्षण-ग्रन्थों में भी दोषों की अनित्यता के सम्बन्ध में विचार हुआ है, पर वह संस्कृत के एतत्सम्बन्धी विवेचन की उद्धरणी है। सभी ग्रन्थों में यह उद्धरणी भी पूरी नहीं है।

दोष की अनित्यता का निर्णय कवि के उद्देश्य की दृष्टि से होना चाहिए। उसमें बाधक न होने पर दोषों का दोषत्व मिटा समझना चाहिए और साधक होने पर उन्हें गुण-स्वरूप स्वीकार किया जाना चाहिए।

यों तो दोषों के वर्ग-विभाजन के अनेक आधारों का संस्कृत-काव्यशास्त्र में निर्देश हुआ है, पर सर्वाधिक मान्य वर्गीकरण शब्द, अर्थ और रस के आधार पर है।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया पर ध्यान देते हुए गोविन्द ठक्कुर ने दोषों की उद्देश्य-प्रतीतिविधातकता के तीन स्वरूप निर्दिष्ट किये हैं : १. मुख्यार्थ की अप्रतीति, २. उसकी विलम्बित प्रतीति तथा ३. उसकी अपकृष्ट प्रतीति। इन वर्गों में दोषों का विभाजन अधिक मनोवैज्ञानिक एवं दोष के स्वरूप को स्पष्ट करनेवाला होगा। प्रस्तुत पुस्तक में मम्मट के दोषों को उक्त आधारों पर वर्गीकृत किया गया है।

काव्यत्व के लिए निर्दोषता को आवश्यक माननेवाले आचार्यों की संख्या संस्कृत-हिन्दी-काव्यशास्त्र में अधिक है। इसके प्रतिकूल विचार रखनेवाले आचार्यों की संख्या अल्प है। संस्कृत में इस विचार के पक्ष में विश्वनाथ हैं और हिन्दी में कुलपति और सूरति मिश्र। संस्कृत-हिन्दी के अधिकांश काव्य-लक्षणों में अदोषता की चर्चा आवश्यक रूप से मिलती है। उपर्युक्त दोनों विचारों में से काव्यत्व के लिए निर्दोषता को आवश्यक नहीं माननेवाली विचारधारा अधिक समीचीन है।

दोषों को अनुभूति के मूल्यांकन में आधार बनाना ठीक नहीं है। उन्हें प्रेषणीयता से

सम्बद्ध समझना चाहिए और कवि की शक्ति से ज्यादा व्युत्पत्ति और अभ्यास की सीमाओं का सूचक मानना चाहिए।

दोषविहीन काव्य की दुर्लभता इसका प्रमाण नहीं है कि निर्दुष्ट काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती।

काव्य में निर्दोषता का भावात्मक मूल्य भी है। फिर भी, वह ऐसा महान् गुण नहीं, जो अन्य गुणों के अभाव में भी काव्यत्व का साधक हो सके। संस्कृत-काव्यशास्त्र में इसके विपरीत विचार रखनेवाले आचार्य हैं, किन्तु उनकी मान्यता संगत नहीं है।

काव्य में निर्दोषता की अपेक्षा गुणवत्ता का मूल्य अधिक है। सदोष रचना भी महान् रचना हो सकती है। महान् प्रतिभा दोषों की ओर से भावक का ध्यान मोड़ देती है। फिर भी आलोचक की यह आकांक्षा स्वाभाविक है कि वह किसी रचना से गुणवत्ता के साथ-साथ निर्दोषता की भी अपेक्षा रखे। दोषालोचन की सार्थकता महाकवियों की कला-साधना में मार्गनिर्देश की दृष्टि से है।



प्रमुख सहायक ग्रन्थ-सूची

१. संस्कृत

(क) वैदिक वाङ्मय

१. ऋग्वेदसंहिता : सायणभाष्य-सहित चारों भाग; प्रकाशक—वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक-महाराष्ट्र-विद्यापीठ, पूना।
२. तैत्तिरीय संहिता : खण्ड १-५, ८-१०, भट्टभास्कर की व्याख्या के साथ, सम्पादक, अ० माधव शास्त्री, विब्लियोथिका सन्सकृटा, नं० ४, ५, ७, ९, १२, १३, १६, १७; मैसूर-प्रकाशन।
३. तैत्तिरीयसंहिता : सायणभाष्य-सहित—आनन्दाश्रम संस्कृत-ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक ४२, प्रकाशक—हरिनारायण आप्टे, १९०३ ई०।
४. माध्यन्दिनी संहिता : प्रकाशक—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६४ वि०
५. अथर्ववेद : सायणभाष्य-सहित, खण्ड १—४, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९५ ई०।
६. शतपथब्राह्मण : सायणभाष्य-सहित, भाग १—५, प्रकाशक—गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, १९४० ई०।
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण : भट्टभास्कर-कृत व्याख्या-सहित—विब्लियोथिका संस्कृटा सिरीज, नं० ३६, ३८, ४२; मैसूर-प्रकाशन।
८. ऐतरेय ब्राह्मण।
९. शांखायन ब्राह्मण : सं०—गुलावराय वजे शंकर; प्रकाशक—हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम-ग्रन्थावली, ग्रन्थांक ६५।
१०. अष्टाविंशत्युपनिषद् : संस्कृता—वासुदेव शर्मा तृतीयावृत्ति, १९१० ई०, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

(ख) पुराणेतिहास

११. विष्णुधर्मोत्तरपुराण : प्रकाशक—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।
१२. महाभारत : गीताप्रेस, गोरखपुर।

(ग) काव्यशास्त्रेतर शास्त्रीय वाङ्मय

१३. निरुक्त : यास्क; प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, प्रथम संस्करण, १९३० ई०।
१४. अष्टाध्यायी : पाणिनि; प्रकाशक—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १८९१ ई०।

१५. महाभाष्य : पतञ्जलि; चौखम्बा-संस्कृत-सिरीज, बनारस, १९५४ ई०।
१६. सिद्धान्तकौमुदी : भट्टोजिदीक्षित; प्रकाशक—शेमराज श्रीकृष्णदास, वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९७१।
१७. पिंगल छन्दःसूत्र : हलयायुधवृत्ति-सहित; प्रकाशक—छात्र पुस्तकालय, बाउ बाजार, कलकत्ता।
१८. चरक-संहिता : पूर्वभाग; प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, सं० १९९१।
१९. न्यायसूत्र : वात्स्यायन-भाष्य-सहित, अनुवादक तथा प्रकाशक—ठाकुर उदयनारायण सिंह, बिदूपुर, १९३४ ई०।
२०. ऋक्प्रातिशाख्य : उवटभाष्य-सहित, सं० डाँ०—मंगलदेव शास्त्री, प्रकाशक—इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१ ई०।
२१. अथर्वप्रातिशाख्य : सम्पादक—ह्वटनी, जर्नल ऑव दी अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी।
२२. कौटिल्य-अर्थशास्त्र : प्रकाशक—मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९२५ ई०।
२३. कामसूत्र : वात्स्यायन, चौखम्बा-संस्करण।
२४. अमरकोश : प्रकाशक—वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९६२।

(घ) काव्यशास्त्रीय वाङ्मय

२५. नाट्यशास्त्र : काव्यमाला ४२, प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८९४ ई०।
२६. नाट्यशास्त्र : खण्ड २, गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बम्बई, १९३४ ई०।
२७. काव्यालंकार : भामह; सम्पादक—सी० शंकर रामशास्त्री, बालमनोरमा प्रेस, मीलापुर, मैसूर, १९५६ ई०।
२८. काव्यालंकार : भामह; सं०—बलदेव उपाध्याय; चौखम्बा-संस्कृत-सिरीज।
२९. काव्यालंकार : भामह; सं०—की० टी० तताचार्य।
३०. काव्यादर्श : दण्डी; प्रकाशक—चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, १९५८ ई०।
३१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : वामन; सं०—डाँ० नगेन्द्र; आत्माराम ऐण्ड सन्स, दिल्ली, सं० २०११।
३२. काव्यालंकार : रुद्रट; काव्यमाला—२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२८ ई०।
३३. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन; सं०—डाँ० नगेन्द्र; प्रकाशक—गौतम बुकडिपो, दिल्ली, १९५२ ई०।
३४. काव्यमीमांसा : राजशेखर; प्रकाशक—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
३५. वक्रोक्तिजोवित : कुन्तक; सं०—डाँ० नगेन्द्र।
३६. दशरूपक : धनंजय; गुजराती प्रिण्टिंग प्रेस, बम्बई, १९२७ ई०।
३७. व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट; चौखम्बा-संस्कृत-सिरीज, बनारस, १९३६ ई०।
३८. शृंगारतिलक : रुद्रभट्ट; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।

३९. सरस्वतीकण्ठाभरण . भोजराज; प्र०-जीवानन्द विद्यासागर, द्वितीय संस्करण, १८९४ ई०।
 ४०. शृंगारप्रकाश : भोजराज; प्रथम भाग, प्रकाशक—रामानुज मुनि।
 ४१. कविकण्ठाभरण : क्षेमेन्द्र; काव्यमाला, द्वितीय संस्करण, १८९९।
 ४२. औचित्य-विचार-चर्चा : क्षेमेन्द्र; पुना ओरियण्टल सिरीज, नं० ९१, १९५४ ई०।
 ४३. काव्यप्रकाश : मम्मट; अनुवादक : डॉ० सत्यव्रत सिंह, प्रकाशक—चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, १९५५ ई०।
 ४४. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग : अनुवादक तथा सम्पादक : रामलाल वर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; १९५९, प्रथम संस्करण।
 ४५. काव्यानुशासन : हेमचन्द्र; सं०—रसिकलाल सी० पारिख, प्रकाशक—महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, खण्ड १।
 ४६. चारभटालंकार : चारभट; प्रकाशक—चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी, सं० २०१४।
 ४७. चन्द्रालोक : जयदेव; सं०—महादेव गंगाधर शर्मा; गुजरात प्रिण्टिंग प्रेस, बम्बई, १९२३ ई०।
 ४८. काव्यानुशासन : चारभट; काव्यमाला ४३, निर्णयसागर प्रेस, १९१५ ई०।
 ४९. प्रतापरुद्रयशोभूषण : विद्यानाथ; सं०—के० पी० त्रिवेदी, १९०९ ई०।
 ५०. साहित्यदर्पण : विश्वनाथ; अनुवादक : शालिग्राम शास्त्री, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसी-दास, बनारस, १९५६ ई०।
 ५१. काव्यप्रदीप : गोविन्द ठक्कुर, काव्यमाला २४, द्वितीयावृत्ति, १९१२; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
 ५२. अलंकारशेखर : केशवमिश्र; चौखम्बा संस्कृत-सिरीज-ऑफिस, बनारस, सं० १९८४।
 ५३. अलंकारसंग्रह : अमृतानन्द योगी; अड्यार लाइब्रेरी, १९४९ ई०।
 ५४. रसगंगाधर : जगन्नाथ; निर्णयसागर प्रेस, १८९४ ई०।

(ङ) काव्य

५५. वाल्मीकीय रामायण : सं०—भगवद्दत्त; प्रथम संस्करण, १९३१ ई०।
 ५६. रघुवंश : कालिदास।
 ५७. कुमारसम्भव : कालिदास।
 ५८. शिशुपालवध : माघ।

२. प्राकृत

५९. अनुयोगद्वारमुक्त : प्रकाशक—संघवी नगीनदास करमचन्द, १९३९ ई०।

३. हिन्दी

(क) लक्षण-ग्रन्थ

६०. केशव-ग्रन्थावली : सं०—आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र; प्र०—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९५४ ई०।
६१. कविकुलकल्पतरु : विन्तामणि
६२. सुधानिधि : तोप; प्र०—भारतजीवन प्रेस, काशी, सन् १८९२ ई०।
६३. रत्नरहस्य : कुलपति; प्र०—इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सं० १९५४।
६४. काव्यमंजरी : पद्मनदास; प्र०—लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सं० १९५४।
६५. रसिकरसाल : कुमारमणि; प्र०—विद्याविभाग, कांकोली, सं० १९९४।
६६. शब्दरसायन : देव; हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, सं० २०००।
६७. रघुनाथ ऋषिक गीतारं : मंछाराम; सं०—नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९९७।
६८. काव्यनिर्णय : मिखारीदास; द्वितीय खण्ड, सं० आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्र०—काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, सं० २०१४।
६९. साहित्यसिद्धान्त : सीताराम दास्त्री; प्र०—हिन्दी निष्कृत कार्यालय, मिश्रानी, पंजाब, सं० १९८०।
७०. साहित्यसागर : विहारी लाल भट्ट; प्र०—गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ, सं० १९९४।
७१. काव्यकल्पद्रुम : सेठ कन्हैयालाल पोद्दार; प्र०—दुलारेलाल भार्गव, गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ, १९३४ ई०।
७२. काव्यदर्पण : पं० रामदहिन मिश्र; प्र०—ग्रन्थमाला कार्यालय, बाँकीपुर, पटना, १९४७ ई०।

(ख) काव्यशास्त्र से सम्बद्ध शोध-प्रबन्ध या अन्य ग्रन्थ

७३. हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास : डॉ० भगीरथ मिश्र; प्र०—लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २००५।
७४. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका : डॉ० नगेन्द्र; प्रकाशक—ओरियण्टल बुक डिपो, दिल्ली, १९५५ ई०।
७५. भारतीय साहित्यशास्त्र : बलदेव उपाध्याय; प्रथम भाग, प्र०—प्रसाद-परिषद्, काशी।

(ग) अन्य ग्रन्थ

७६. वैदिक साहित्य और संस्कृति : बलदेव उपाध्याय; प्र०—शारदा-मन्दिर, काशी, द्वितीय संस्करण, १९५८ ई०।
७७. संस्कृत-साहित्य का इतिहास : वाचस्पति गैरोला; चौखम्बा-विद्या-भवन, वाराणसी।

(घ) हस्तलिखित ग्रन्थ

७८. साहित्यसुधानिधि : जगत्सिंह ।
 ७९. कवितारसविनोद : उजियारे ।
 ८०. काव्यविलास : प्रतापसाहि ।
 ८१. रसपीयूषनिधि : सोमनाथ ।
 ८२. दूषणदर्पण : ग्वाल ।

(ङ) अनूदित ग्रन्थ

८३. अरस्तू का काव्यशास्त्र : अनुवादक—डॉ० नगेन्द्र ।
 ८४. काव्य में उदात्त तत्त्व : अनुवादक—डॉ० नगेन्द्र ; प्र०—राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली,
 प्रथम संस्करण, १९५८ ई० ।

४. अंगरेजी की पुस्तकें और पत्रिकाएँ

1. History of Sanskrit Poetics : P. V. Kane.
2. Highways & By-ways of Literary Criticism in Sanskrit—M. M. Kuppuswamy; The Kuppuswamy Research Institute, Madras, 1945.
3. Foundations of Indian Poetry : Dr. J. Nobel; Calcutta, 1935.
4. Bhoj's Sringar Prakash : Dr. V. Raghavan; Vol. I, Part I; Karnatak Publishing House, Bombay, Vol. I, Pt. II.
5. Bhoj's Sringar Prakash : Dr. V. Raghavan; Vol. I, Pt. II.
6. History of Sanskrit Poetics : S. K. De, Vol. II, 1924.
7. History of Sanskrit Literature : C. V. Vaidya (Vedic Period), Poona, 1930.
8. History of Indian Literature : Winternitz.
9. History of Indian Philosophy : S. N. Das Gupta.
10. Indian Philosophy : Dr. S. Radhakrishnan, Vol. I.
11. Systems of Sanskrit Grammar : S. K. Belvalkar; University of Bombay, First Edition 1915.
12. India As Known to Panini : Dr. V. S. Agrawal, 1953.
13. Introduction to Rk. Pratisakhya : Dr. Mangaldeva Shastri; Oxford University Press, London, 1922.
14. Sanskrit Drama : A. B. Keith.
15. Principles of Literary Criticism : I. A. Richards; 14th Impression.
16. J. R. A. S., 1915.
17. J. R. A. S. 1905,

शब्दानुक्रमणिका

अ

अकथितवाच्य-१४१

अक्रम (त्व)-१२१, १२२, १२३, १३३,
१७६, १६१, २०७।

अकान्ति-३३

अकाण्डच्छेद-१४३, १५७, २०८

अकाण्ड प्रथम-१४२

अगण-१४०

अग्निपुराण-५१, ५७, ५६, ७२, १२७,
१२८, १२९, १६०, २०२,
२११, २२१

अचारुत्व-३४

अचारुपद-१६७

अतिमात्र-६६, १८७

अतिशय-१

अत्युक्ति-८३, ८४

अथर्ववेद-३७

अदोषता-१८८, २१०, २१४, २२६

'अधिक वाक्यदोष'-३०, ३२, १३७, १३८

अधिकधर्मत्व-१२६

अधिकनवविमान-६४

अधिकपद (ता)-१२१, १३१, १३३, १४७,
१६१, १६२, १८६

अधिकोपमा-११५

अनंगाभिधान-१४४, १५०, १५७, २०८

अनतिरुद्ध-११५

अनभिहित (वाच्यत्व)-१२१, १३३, १३७,
१३८, १५४, १६७, २०८

'अनर्थक'-३१, ८५, ८६, ६७, १२८, १२९,
१३४, १४८

अनसमयोक्ति-१५७

अनलंकार-६५, १७०

अनवद्य-१७

अनवीकृत-१२४, १३४, १३५, १५६

अनियम परिवृत्त-१३४, १५७, १६१

अनिर्व्यूढत्व-११६, १६६

अनिष्ठुराक्षरप्राय-४१

अनुचित (अर्थ)-१२६, १३३, १४२, १५५,
१५६, १५७, १६४, २०६

अनुपश्लिष्ट-६६

अनुयोगद्वारमुत्त-१३७, २२४

अनुवादायुक्त-१३४, १४२

अनुत्पत्ति-५३

अनृत-३१, ३२

अनेयत्व-४१

अन्वयदोष-७५, १६१, १६२

अन्वय-व्यतिरेक-२०२, २०५

अन्तरंग-२०१

अन्ध-१५२

अन्यार्थ-७४, ८६, ६२, ६३, १६६, १६९,
१७२

अन्यदनीचित्य-१३२, १३५

अन्ययोनि-१०७

अन्यसंगत-१३०

अपकर्ष-५०, ५२, ५३, ५६, ५७

अपक्रम-३४, ७७, ८१, ८६, ११२, ११४,
१२६, १४१, १६५, १६६, १६९,
१७६

अपद-१३७, १३८, १६६, १७०, १७२

अपदयुक्तत्व-१२४, १३४, १३५

अपदस्थपद (ता)-१२१, १३३

अपदस्थसमासता-१२१, १८६

अपशब्द-३३, १८४, १८५

अपस-१५१, १५२

अपस्मार-१५१

अपहेतु-६६, ६७

अपाय-२६

अपार्थक-३१, ३२, ३३, ४६, ६५, ७०,
७७, ८१, १३४, १३७, १३८,
१४०, १६६, १७८

अपेतार्थ-३२

अपेक्षाल-१६५, १७०

अपुष्ट (अर्थ)-५२, ८०, १२३, १५७,
१६७, १८८

अपौरुषेय-२३

अप्रतीत-८१, ८५, ८६, ८३, ८४, ८६

अप्रयुक्त-८८, ८९, ९२, १२७, १३३, १४३,
१४८, १५५, १६०, १६५, १६७, १७०,
१७१, १८८, १९६

अप्रयोजक-११४

अप्रसिद्धोपम-१६६, १८७

अप्रसादत्व-६४

अप्रसिद्ध-१९०

अप्रसिद्धाभिधान-७३, १६४

अप्रस्तुतार्थ-१३५

अब्ज-अक्ष-१५६

अभवन्मतयोग-१२१, १३१, १३३, १३४,
१६०, १६२, १७३, २०८

अभिनवगुप्त-४८, ४९, ५१, ६५, ६६, ६७,
६८, ६९, ८३, १०६, ११०, १०४,
२०१, २०२, २०७, २२६

अभिप्लव-८८

अभिप्लुतार्थ-६३, ६६, ६८, ६९, ७०, ७३,
११०, १६३, १६४, १६६,
१७१, १८४

अमंगलवाचक-८८

अमतपरार्थत्व-१२१, १३३, १६७, १६८

अमरकोश-३७

अमित-१५६

अमिलपद-१५०

अमृतानन्द योगी-२२४

अम्बकृत-२६

अयोनि-१०७

अरस्तू-२१५

अर्थक्रम-३४

अर्थकालुष्य-२०२

अर्थगत-१६५

अर्थदुष्ट-२६, ७६, ८४, ८८, १६४, १६६

अर्थदोष-१६०, २०२, २०६

अर्थनिर्मिता-७८

अर्थबोध-१८८

अर्थव्यक्ति-४१, ८३, ८४, ८१, १७८

अर्थविरोध-१६१

अर्थशास्त्र-११, १७, २१, ३३, ३४, ३६,
४०, ६५, १७६, २२१

अर्थहीन-६३, ६५, ६६, ७३, ११०, १६३,
१८४

अर्थान्तर-३२, ६३, ७३, १०६, ११०, १६३

अर्थान्तरगतपद-१५५

अर्थपत्ति-दोष-१३७, १३८

अरीतिमत्-११५, ११८, १३४, १६६,
१८७, २०१

अलंकारशास्त्र-३, १५२

अलंकारशेखर-२२५

अलंकार-संग्रह-१३५

अलक्षण-१२६

अलीक-१३७

अलीलायमानत्व-६१

अवक्रोक्ति-८०, १७०

अवर्ण्यवर्णन-११०

अवाचक-७४, ७५, ७६, ८०, ८४, १४२, १४६,
१५४, १६०, १६४, १६५, १६४

अविकटत्व-११६, १६६

अविज्ञातार्थ-३२

अविनाभाव-८६, २०२, २०७

अविमृष्टविधेयांश-१२१, १३४, १४१,
१५७, १६७

अविस्पष्टत्व-१२७

अवैषम्य-४१

अव्युत्पत्तिकृत-२००, २०१

अशक्तिकृत-२००, २१५

अशरीर-१७०, १७१

अशेषार्थ-६६

अश्लक्षण-२२१

अश्लील-८६, ८८, १२३, १२८, १३४, १४६,
१६३, १६४, १६६, १७४, १७६,
१८७, १८८, १९१, १९७

अश्लीलबन्ध-४०

अश्लीलवचनान्वित-७३

अष्टाध्यायी-७, ६

असंगत-१४८, १४९

असंमत-१२६

असंस्कृत-३२, ३३

असदृशोपम-१३४, १६६, १८७

असमर्थ-१३३, १५७, १६१, १६२, १६५,
१६६, १८१, १९४

असमस्तत्व-११६

असमास-७०, १६६

असमास-दोष-१३७, १३८

असम्बद्धत्व-११०, १६७

असाधु-८५, १२७, १२८, १३६, १४६,
१६६, १७२, १९१

असामयिकत्व-१२७

असुनिर्गद-१६५, १७०, १७१

अस्थानपदता-७५, २०७

अस्थानस्थ-१६०

अस्थानस्थपद-१३०

अस्थानस्थ समास-१३१, १३३, १४२, १४८,
१५७, १६३, १९४, २०७

अस्वार्थ-८१, १७०

आ

आई० ए० रिचर्ड्स-२१५

'आकुल'-८०, ८१, १७०

आख्यायिका-६

'आगमविरुद्ध'-८६, ८६, ११७

आचार्य काश्यप-११

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा-१९८

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-२१६

आदिकवि-७

आदिकव्य-७

आनन्दवर्द्धन-४४, ४५, ४६, ४८, ४९, ५१,
५८, ६६, १००, १०१, १०२,
१०३, १०५, १०६, १२५,
१३५, १८२, १८४, १८६,
१८६, १९३, २००, २०१,
२१२, २१५, २१६, २२२,
२२३, २२६

आनुप्रासिक-१

'आपगा'-७१

'आय'-२६

'आयुर्वेद'-२१

आरभटी-१०२

आश्रय-२२६

आश्रय-सौन्दर्य-१९८

इ

इण्डोरोपीय भाषा-१६

उ

उत्थ-१

उत्पाद्य-६८

उत्प्रेक्षा-१२७

उक्तिगर्भ-१

उदयन-७८

उदात्तराघव-१११

उदारता-११६

उद्देश्य-प्रतीति-५५

उद्देश्यविधात-६२

उद्देश्य-प्रतीतिविधात-६२

उपधातजनक-१३७, १३८

उपजाति-६

उपनिषद्-२८

उपमन्यु-१

उपमा-१, १३८

उपमा-दोष-१३७

उपमेयोमपा-१३६

उपहतलुप्तविसर्ग-१४८, १५७, १५९, १६०

उपहतविसर्गत्व-१२१, १४१, १५३, १७३

उभयालंकारिक-१

उलूकजित-८७

उपा-सूक्त-१४

उष्ट्रकलभ-१८०

ऊ

ऊन-१३७, १३८

ऋ

ऋक्प्रातिशाख्य-२६

ऋक्सहिता-१३, १४, १५, १६, २१, २५

ऋग्वेद-३, ४, १३, १७, ३७

ऋत-१४

ए

एकार्थ-३१, ६३, ६४, ६७, ७०, ७७, ८१

८२, ८६, १०६, ११०, ११४, १६३,

१६६, १६९, १७६, १८०, १८४,

१८७, १९६

एस० के० दे (डॉ०)-६४, ६६

ऐ

ऐतरेय ब्राह्मण-१६

ओ

ओज-६०, ११६

औ

औचित्य-तत्त्व-१८२

औदार्य-३४

औपकायन-१

औपनिषदिक-१

औपम्य-१

क

कटि-१७४

कठोपनिषद्-२०

कथितपदता-१२१, १३३, १८६, १९७

कनक-लोचन-६४

करिकलम-१८०

कर्णकटु-१४०, १४१, १४६, १६०

कर्णावतंस-१८०

कर्पूरमंजरी-१२६

कर्मोपमा-५

कल्प-वेदांग-२०

कल्पनादुष्ट-८६

कल्पिता-८६

कविकल्पतरु-१५४

कविकुलकल्पतरु-१४१

कविकौशल-२२६

कवितारसविनोद-१५३

कविनेम-१५६

कविपरम्पराविरुद्ध-१२७

कविप्रसिद्धि-विरुद्ध-१२४

कविप्रिया-१३६, १४०, १५४

कविप्रौढोक्तिनिमित्त-११७

- कविरहस्य-१
 कष्टत्व-१२७
 कष्टपद-७३, ८५
 कष्टशब्द-३३, २२१
 कष्ट-सन्धि-८६
 कष्टाक्षरपदन्यास-७३, ७७, १६४
 कष्टार्थ-१६०
 काची भाषा-१४३
 कात्यायन-६, १०, ११, २६
 कान्ति-८३
 कामदेव-२, १२४
 कामधेनी-१०६
 कामनिमित्ता-७८
 कामसूत्र-४२
 कारणमाला-१६७
 कार्त्तार्थ्य-११६
 काव्यकल्पद्रुम-१५८, १६७
 काव्यदर्पण-१६०, १६२
 काव्यपुरुष-१
 काव्यप्रकाश-४७, ५५, ५७, ११८, १२८,
 १२९, १३०, १३२, १४१,
 १४२, १४४, १४८, १४९,
 १५३, १५४, १५८, १६०,
 १६१, १६३, १६४, १६७,
 २१३, २२३, २२४, २२५
 काव्यप्रदीप-५७
 काव्यप्रभाकर-१५६
 काव्य-निर्णय-१४६, १५०, १५४
 काव्य-मंजरी-१४५
 काव्यमाला-संस्करण-६७, ६९
 काव्यमीमांसा-१, २, ३७
 काव्य-निर्णय-१४६, १५०, १५४
 काव्यादर्श-११, ४०, ५१, ५६, ८१, १४१
 काव्यानुशासन-१२८, १२९, १३१
 काव्यालंकार-३१, ७४, ७८, ८०, ८२,
 ८८, १५६
 काव्यविलास-१५७
 काव्य-समीक्षा-२३
 काव्य-सरोज-१४८, १५४
 काव्य-सिद्धान्त-१४७
 काव्यसौन्दर्याक्षेपहेतु-५६
 काव्यसौन्दर्य-विघातक-६०
 काव्यशास्त्र-३, ५, १३, ६६
 काव्यास्वाद-२२६
 कालदोष-१३७
 कालविरोधी-१४०
 कालिदास-४७, १००
 कास्थूलक्तस-१५६
 किलन्न-१८१
 किलष्ट-८०, ८४, ११०, १२०, १२७,
 १४७, १५३, १५७, १६४, १६५,
 १६६, १७२, १८७, १६१, २०६,
 २०७
 किलष्टत्व-५४, ७४, ७५
 कीथ (डॉ०)-६, ८
 कुचुमार-२
 कुन्तक-४६, ४७, १०८, १०९, २११,
 २२३
 कुन्तधर-२१८
 कुप्पूस्वामी (डॉ०)-४, ७, ६२, ४७
 कुवेर-१
 कुमारमणि-५५, ५७, १४८, १४९, १५८,
 १७५, १६४, २०५, २०६,
 २२४
 कुमारसम्भव-१००, १३५, २१३
 कुलपति-५५, १४४, १५३, १६३, १६४,
 १६६, २०५, २१३, २२४, २२६
 कुसन्धि-१३०, १५४

‘कृतघ्नीप्रभु’-२१३

कृशाश्व-१०

कृष्ण-७५, १५०

कृष्ण-प्रेम-१४७

कृष्णयजुर्वेद-१७

केशवदास-१३६, १४५, १४६, १५२, १५८,
२०४, २१३, २१६, २२४केशवमिश्र-५४, १३४, १४१, १४५, १४६,
१६२, १६४, २०३, २०५,
२१७, २१४, २२५

कैकेयी-४८

कैशिकी-१०२

कोपनिमित्ता-७८

कौटिल्य-११, ३३

कौटिल्य-अर्थशास्त्र-३४, ३६, ४२, २२१

‘क्रमभेद’-१२२, १६७

‘क्रमभिन्न’-१३७, १३८

‘क्रमभ्रष्ट’-१६८, १८६

क्रियादोष-१६१

ख

खिन्न-१३४, १६६, १७०, १७२, १८७

ग

गण्ड-१७७, १८१

गतार्थ-६५, ६६, १६७

गर्ग-५

गर्भित (तत्त्व)-११४, १२१, १३०, १३१
१३३, १८६, १६३, २०७

गल्ल-८५

गिरनार-शिलालेख-१२

गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी (पं०)-२५

गृहीतमुक्तक-१३५

गृह्यसूत्र-२०

गुणविपर्ययात्मक दोष-८४

गुणीवादानिक-२

गुरुलाघवसंकर-७०

गुर्वक्षर-३२, २२१

गूढशब्दाभिधान-७४, ७६, ८४, ८७

गूढार्थ-६३, ६४, ७६, ८६, ६२, ६६, १०६
१२२, १६३, १६६, १६६, १७२,
१८४

गोपथब्राह्मण-२८

गोविन्दठक्कुर-५२, ५३, ५४, ५५,
५७, ६१, ६२, १३२
१३३, १६२, २०३, २०४,
२०७, २०६, २१७, २२२,
२२६

गोविन्द-त्रिपुरहर-२०६

गौडीय-८०

गौड़-४०

गौडमार्ग-८२, ८३, १७८

ग्राम्य-४३, ४४, ८०, ८३, ८४, ८५,
६४, ६५, ६६, ६६, १२०, १२२,
१२३, १२८, १२६, १३४, १४७,
१४८, १५७, १५६, १६०, १६३,
१६५, १६७, १७०, १७३, १७४,
१८१, १८६, २०१, २०६, २०७

ग्राम्यत्व-१२७

ग्वाल-२२४

घ

‘घात’-३६

च

चक्रवाक-७६

चण्डीदास-२०६

चन्द्रकलेव सुगौरी- ६८

चन्द्रालोक-५६, १३०, १५०, १५४, १६६,
२११, २२४, २२५

चपेटापातन-१४५

चरक-संहिता-२१, ३०, ३१, ३२

चरणान्तरपद-१४१, १५५

चाहयुत-१४६

चिन्तामणि-५४, ५५, १४१, १४२, १४४
१५४, १५७, १६३, २०५,
२१३, २२४, २२५

चिन्तामणि-कुलपति-१४५

च्युतसंस्कार-११६, १२१, १४२, १४४,
१४८, १६२, १६३, १६४,
१६८, १७१, १७२

छ

छन्दस-२६, ३४, १६५

छन्दोभंग-१६०

छन्दोभ्रष्ट-१२६

छन्दोवत्-१५२, १६५, १७०, १७१

छन्दोविरहित-७३, १६४

छन्दोवृत्तत्याग-७०

छवकाल-१५१

छल-१३८

छविकोष-१३७, १३८

छान्दस् (त्व)-८१, १२७, १७०, १७१

ज

जगत सिंह-५६, १५४, १५५, १५६, २०५,
२१४

जनराज-५६, १५३, १६६, २०५, २१४,
२२४

जयदेव-५२, ५६, ६०, १३०, १४६, १५५

जयमंगल-टीका-३४

जरठत्व-१६६, १७०

जहु-८६

जातिविरुद्ध-१५१, १५२

जाम्बवतीकाव्य-६

जुगुप्सादायी-८८

जुगुप्सामूलक-७६

ट

टी० एस्० इलियट-१७१

ड

डिगल-१५१, २२५

डी० टी० ताताचार्य-७४

त

तत्त्वगत-२२१

तद्धित-६६, ६७, १६७

तद्धत्-११४

तन्त्रान्तर-साधित-८१, १६५

तर्कशास्त्र-६५

ताण्ड्य ब्राह्मण-१६

तुकभेद-१५४

तैत्तिरीय उपनिषद्-२८

तैत्तिरीय ब्राह्मण-१८, १६

तैत्तिरीय संहिता-१७

तोष-१४१

त्यक्तपुनः स्वीकृत-१३२

त्रिलिङ्गज-७०

त्रिवर्ग-विरुद्ध-३२

त्रिविध-१४७

त्रिविध अश्लील-१६७

द

दक-७५

दत्ताक्षर-८४

दण्डापूपिकान्याय-८६

दण्डी-११, ४०, ४१, ४२, ४६, ५१, ५६,

८१-८६, ६०, १५६, १६८,

१७६, १८६, २१०, २२३

दशरथ-६४, ८७, ११०

दामन-सम्मत-१७०

दिलीप-१०६

दीन-१५६

दीप्त-८४, १६५

दुःसन्धान-१३६, १४०, १४७, १७०

दुःश्रवत्व-१३२, २०१

दुरित-१७

दुरिष्ट-१७

दुरुक्त-१६

दुर्मति-१७

दुर्योधन-७६

दुर्वाक-१७

दुष्टभाग-१७

दुष्ट-हवि-१८

दुष्कृत-५१

दुष्क्रम-१४१, १४६

दूरसम्बन्ध-व्यवधान-११०

दूषण-१५, १८, २२०

दूषण-दपर्ण-१५७

दृष्टान्तहीन-१६५, १६६

देव-१४६, १५८

देवगुरु बृहस्पति-३७, ३८

देवदारु-७८

देशकाल-लोक-विरोधी-१६५, १७०, १७२

देश्य-६५, १६७

दोषदर्शन-४२

दोष-वर्गीकरण-१६६

दोष-साहित्य-२१३

दोषहान-२११

दोषांकुश-१६१, १६४

दोषा-१५

दोषाधिकरण-२

दुर्वोध-१६५

द्रुहिल-१३८

ध

धनंजय-१११, १६८

धनुर्ज्याध्वनि-१७६

ध्विपण-१, ३७, २२१

ध्वनिसिद्धान्त-४५

ध्वन्यालोक-१२५

न

नखशिख-वर्णन-१५६

नगन-१४०, १५६

नटसूत्र-१०६

नन्दिकेश्वर-१

नन्दिनी-१०६

नमिसाधु-६, ७०, ७१, ६८, ६९, १८१

नरेन्द्र (डॉ०)-६०

नागनाथ शास्त्री (श्री)-७४

नाट्यवेद-१

नाट्यशास्त्र-१, ७, १०, ११, १२, २६,

३६, ४२, ४६, ५८, ६४,

६५, ६६, ६७, ६८, ६९,

७०, ७३, ७५, ७६, ७७,

८०, ८८, ९३, १०६, ११०,

११४, १६३, १६४, २२२

नित्यदोष-१८४

निर्गङ्ग-१५३

निमृता-८५

नियमपरिवृत-१५७

निरलंकार-१४०, १६६

निरस्त-२६

निरागम-६६, १६७

निरुक्त-५

निर्देश-दोष-१३७

निरर्थक-३२, १२८, १३७, १४७, १६५,
१६६, १६१, १६४, २०७
निर्विषयत्व-१२७
निर्हेतु (त्व)-१२३, १३२, १३४, १३८,
१६५, १८८, १६३, २०८
निष्कारण-३२
निष्प्रयोजन कथन-३७
निस्सार-१३८
निहतार्थ-१६५, १६६, १८८, १६६, २०७
निहनुतयोनि-१०७
नीरस-१३६, १४७, १६८
नेगी विप्र-२१३
नेयत्व-८४, १६५, १६६
नेयार्थ-४६, ७४, ८०, ८४, ८६, १२०,
१२६, १६४, २०७
प
पंक्तिविहङ्गम-नामभूत-८७
पंगु-१४०, १४७, १५१
पखतुट-१५२
पण्डितराज जगन्नाथ-१३५, १३६, १७३,
२०४, २२४
पतत्प्रकर्ष-१२१, १२२, १३१, १३३, १४८,
१५२, १५७, १५६, १६५, १८६
पदसन्धानवृत्ति-८३
पदसाधुत्व-अनुशासन-२४
पद्माकर-१५८
पदांशगत-२०५, २०६
पदार्थ-दोष-१३७
पदुमनदास-१४५, १४६, १६४, २०४, २१४,
२१७, २२५
पन्थविरोधी-१६०
परमेष्ठी-१
परशुराम-७६
पराङ्मुखपद-३२

परिवृत्तत्वदोष-२२३
परुष-१६६, १७०, १७२, १८७
पांगला-१५१, १५२
पाठदोष-२०, २४
पाणिनि-६, ६, २५
पाणिनीय शिक्षा-२७
पाण्डु-१७७
पातरदुष्ट-१३६, १४०
पातालविजय-६
पाराशर-१
पिगलच्छन्दःसूत्रम्-२१, २६
पी० ह्री० काणे, डॉ०-३, ५, ६, १०, ७२
पुनरुक्त-३१, ३२, ३३, ७०, ७३, १२३,
१३७, १३८, १४०, १४१, १४७,
१५६, १६३, १६४, १६७, १७६,
१७८, १८१, १६६
पुनरुक्तिमत्-१६८, १८६
पुराणच्छाया-६१, १०५, १६६, १६८, १७२,
२२३
पुरु-७८
पुलस्त्य-१
पूर्वापरविरुद्ध-७३, १४३, १६१, १६४
प्रक्रमभेद-१२२, १५०, १६७
प्रकाशित विरुद्ध-१२५, १३१, १३४, १५३,
१६३, १६४
प्रकृति-विपर्यय-१५७
प्रचेता-१
प्रतापरुद्रयशोभूषण-१३१, २११
प्रतापसाहि-५६, १५७, १६६, २२४
प्रतापसिंह-२०६
प्रतिकूलवर्णत्व-१२१, १७२, १७३, २०८
प्रतिकूलविभावादि को ग्रहण-१५७, १६८
प्रतिकूलाक्षर-१६०
प्रतिज्ञा (हीन)-७३, ७८, ७९

प्रतिज्ञा-रहित-१६४, १६५, १६६
 प्रतिज्ञाहेतु दृष्टान्तहीन-७७, ८२
 प्रतिपदपञ्चिका-३४
 प्रतिबिम्बकल्प-१०८
 प्रत्यनीक-१३६, १७०
 प्रणय-कलह-१००
 प्रबन्धदोष-७६
 प्रसाद-८३, ८४, ६०, ११५
 प्रसिद्धिविद्याविरुद्ध-१३१, २०८
 प्रसिद्धिविरुद्ध-१४०, १५६, १५८
 प्रसिद्धिहृत-(त्व)-१२१ १२२, १३१, १३३,
 १६१

प्रस्थानत्रयी-२१
 प्रहेलिका-८४, १८४
 प्रहेलिका-दोष-८५
 प्राकृत-अपभ्रंश-२२४
 प्रातिशाख्य-२५

फ

फूत-८५

ब

बयण-सगई-१६५
 बलदेव-७
 बलदेव उपाध्याय-२६
 बहुरो-१५२
 बहुपुरण-८१, ८६, १६५
 बाधमीन-१७
 बाधयत्-६६, १६७
 बायसम्पाति-मराल-१५६
 बालकाण्ड-७, ८
 बालिवध-१११
 बिहारीलाल भट्ट-१५६
 बोध-५५
 बोलत मौन विरुद्ध-१५३
 बोद्ध-दर्शन-८६

ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा-७

ब्रजमण्डल-१४३

ब्रह्मदत्त-११

भ

भग्नक्रम-१३४, १५२, २०७
 भग्नच्छन्द-११४, १३४, १६८, १८६
 भग्नप्रक्रम (त्व)-१२१, १२२, १३१, १३३,
 १५३, १६५, १६७, १६८
 भग्नयति-११४, १६८
 भगिनी-१८०
 भट्टभास्कर-१७
 भरत-१, २, १०, २३, ४२, ८५, १५६
 भामह-२६, ३१, ३३, ४०, ४६, ७०, ७१,
 ७५, ७७, ७८, ७९, ८०, ८१, ८२,
 ८४, ८६, ८८, ९१, ९३, ९४,
 ११४, ११६, ११७, ११९, १२०,
 १२६, १५२, १५६, १६४, १६६,
 १७१, १७७, १८६, १९६, २१०,
 २२३

भानु-१५६

‘भावध्वनि’-१५३

भावविरोध-१६१

भाषाच्युत-१५३

भिखारीदास-१४६, २१४

भिन्नार्थ-३२, ३३, ६३, ६७, ८८, ११०,
 १६३, १८४

भिन्नवृत्त-७७, ८२, ८८, ११४, १४०,
 १५२

भीम-७६

भीष्म-७६

भूतोपमा-५

भूरिश्रवा-१८४

‘भूषण’-२१३

भैमरथी-१०

भोज-५०, ११४, ११५, ११७, १३२,
१३४, १७२, १८५, १८६, १९२,
२०१, २०६, २१०, २२६

भोजराज-३१, ५०, ११३

'भ्रष्टकारक'-१६०

म

मंगलदेव शास्त्री, डॉ०-२४

मंछाराम (मंछ)-१५१, १५२, १६५,
१६६, २२५

'मडह'-६५

मन्त्रद्रव्य-२३

मन्त्ररूपा-वाक्-३७

मम्मट-४७, ५०-५४, ५७, ११८-
१२६, १२८, १३०, १३२,
१६१, १६३, १३४, १४४, १५०,
१६४, १६७, १७३, १९२, १९६,
२०२, २०३, २०६, २१२, २२२,
२२४, २२५

मलयपर्वत-७८

महर्षि चरक-३०

महाकवि तुलसी-२१६

महाभारत-२०, २२, ३०, ३२, ३४, ३६,
७३, ७७, २२१, २२२

माण्डूक्योपनिषद्-२०

माध्यन्दिनी संहिता-१७

'माधुर्य'-८४

मायुराज-१११

'मालतीमाला लोलालिकलिला'-८३

मात्राहत-१४६

मात्रा-हतवृत्त-१४५

मुक्ताहार-१८०

मुख्यार्थहृति-५०, ५४, ५६

मुण्डकोपनिषद्-१६

मुख्याननुसन्धान (मुख्याननुसन्धान)-१५७

मुहावरा-दोष-१६१

मूढमित्त-२१३

मृतक-१४०, १४५

मेघनाद-८७

मेघाविरुद्ध-७०

मेघावी-७०, ७७

मैत्रायणीय-२४

य

यतिदोष-१३७, १३८

यतिभंग-१४०, १४१, १४७, १४८

यतिभेद-७०

यतिभ्रष्ट-७७, ८२, ८८, ११४, १२६, १३६,
१४०, १४१, १६५, १७६, १८०

यतिभ्रष्ट-दोष-८२

यम-१

यमक-१

यम-यमी-संवाद-१५

यमापत्ति-२७

याग-विधान-१८

याम-७७, ८३

यास्क-५

युधिष्ठिर-७६

युधिष्ठिर मीमांसक-२६

र

रघुनाथरूपक गीतारो-१५१

रघुवंश-४७, १०६

रत्नावली-१२६

रत्नेश्वर-५०

रमा-टीका-१५४

रसगंगाधर-१३५, १५८

रसगत-२०५
 रसच्युत-१३५
 रसदोष-१६०, २०२, २०६
 रस-रहस्य-१४४, १६६
 रसविरुद्ध-१५३, १५७
 रसाधिकारिक-१
 रसानौचित्य-२०१
 रसाश्रित-२०१
 रसिक-रसाल-१४७
 राजशेखर-२, ३, ६, ३८, ४७, ७०, १०६,
 १०७, १६८, २२३
 'राम की शक्तिपूजा'-१७२
 रामचन्द्र-४८, १०१, १५१
 रामदहिन मिश्र-५७, १६०, १७५, १६७,
 २०६, २२४, २२५
 रामायण-७
 रीति-निर्णय-१
 रुद्र-४३, ४४, ४६, ५८, ६२, ६३, ६४,
 ६६, ६७, ११४, ११६, १२६, १६०,
 १६१, १६२, १६८, १८१, १६२,
 २०२, २०३, २२३
 रुद्रदामन-११
 रुद्रभट-११३, १३६, १६८
 रूपक-१३६
 रूपक-दोष-१३७, १३८
 रूपक-निरूपण-२
 रूपस्कन्ध-८६
 रूपोपमा-५

ल

लिगभिन्न-१३६
 लिगभेद-१८०
 लुप्तविसर्ग (-त्व)-१२१, १२२, १३१, १४१
 लुप्तोपमा-५

लोकप्रसिद्धि-विरुद्ध-१२४
 लोकविगर्हित-७३, १६४, १६६, १७२
 लोकविरुद्ध-८६, ६५, १६१
 लोकागमन्यायकला-विरुद्ध-३१
 लोचन-४८
 लौगिङ्गनुस-२१६, २१८
 व
 वक्रोक्ति-८०
 वचन-भिन्न-१३७, १३८
 वररुचि-१०
 वरुणदेव-१४
 वर्च-७६
 वर्णदोष-२०, २४, १६०
 वाक्यगर्भ-१३४
 वाक्यदोष-२०६, २०७
 वाग्दोष-चेतना-१६, १६, २३
 वाग्दोष-धारणा-२३, २४
 वाग्भट-१२६, १३१, २०६
 वाग्भटालंकार-१२६, १३१
 वाचकाश्रित-२०१
 वाच्यवचन-११३, १६७
 वाच्यवर्जित-१३१
 वाजसनेयिप्रातिशाख्य-२५, २६
 वामन-४३, ६७, ८५-६३, ६६, २०२
 वाररुचिकाव्य-६
 वाल्मीकीय रामायण-३४
 वासवदत्ता-७८
 विकृत-१३०
 विक्रम-३२, ३३, ७७
 विक्लिष्ट-२६
 विच्छिन्न-दीपन-१३५
 विट-७६
 विद्यानाथ-५२, ५८, ६०, १३१, १३२,
 २०३, २११, २२२, २२४

- विद्याविरुद्ध पद-८६, १२३, १३४,
१४२, १५०, १५५,
१६५, १६७, १६६
- वाच्यवचन-११३, १६७
- विधेयाविमर्श-१२१, १६७, २१२
- विध्ययुक्त-१२५, १४२, १५५
- विपर्यय-३४, ४२, ४३, ७२, ८४, ६१
- विपर्यस्तार्थ-१२७
- विपरीत कल्पना-६४, १६६
- विभक्ति भिन्न-१३७, १३८
- विभक्तिभेद-७०
- 'विभाव-अनुभाव अकेलो'-१५३
- 'विभावक्लेशव्यक्ति'-१५७
- विमानस्थान-३०
- विमुखरस-१४७
- विरस-४४, ६६, ६६, १३४, १३६, १४६,
१६७, १६८, १६६, १८७, १८८
- विरुद्ध-३१, १६६
- विरुद्धबुद्धिकृत्-१३१
- विरुद्धमतिकृत्-१२५, १२८, १३४, १४२,
१५७, १६६, २०६
- विरुद्धरससम्पर्क विवर्जन-१६८
- विरुद्धव्यंगत्व-१२६, १३१
- विरुद्धार्थ-१७८
- विरुद्धान्योन्यसंगति-१३१, १५५
- विशांपते-१८१
- विशेषपरिवृत्त-१२४, १६१
- विश्वनाथ-५२, ५५, ५८, १३२, १६२,
२०३, २०६, २१२, २१३, २२२
- विषम-६३, ७०, ८३, ८४, १६३, १६५
- विष्णु-१५२
- विष्णुधर्मोत्तरपुराण-३६, ५१, ५६, ७२,
७३, ८०, ८५, १६४,
१७२, १७६, २२१
- विष्णुमित्र-२५
- विष्णु-१५५
- विसन्धि (-त्व)-६३, ६६, ७०, ७३, ७७,
८८, ६४, ११४, १२१,
१३१, १३३, १३४, १४८,
१६०, १६३, १७६, १८६,
१९०
- विहार-२६
- विहारी-१५८
- वृत्तासुर-२७
- 'वेणुदाकि'-७४, ७५
- वेणुदारि वाणासुर-७४
- वेदांग-साहित्य-२२
- वेलवलकर-२५
- वैकुण्ठ-१
- वैदर्भ-४१, ८०
- वैदर्भ-मार्ग-८२, ८३, ८४
- वैनोदिक-२
- वैपरीत्य-४२, ४३
- वैरस्य-८३, ८४, ११६, १६५
- वैषम्य-६८
- 'व्यथन'-२६
- 'व्यर्थ' (-पदता)-८३, ८४, १६१, १६२,
१६५
- 'व्यर्थीकृत'-१३५
- वल्ग्व-शिक्षा-२७
- व्यवहित-१३७
- व्यस्त सम्बन्ध-१२६
- व्याकरण-विरुद्धता-१७२
- व्याकीर्ण-११५, १३४, १७०, १७३
- व्याघात-३१, ३३, ३४, ६५, ८१, १५५
- व्याप्ति-८६
- व्याहत-दोष-१४३
- व्याहत-१२६, १३३, १३४, १३७, १३८,
१५५, २०८

व्याहृतार्थ—१४८, १६३, १६४, १६७
 व्युत्पन्न—८३, ८४, १६५
 व्रीडादायी—८८
 व्रीडाव्यंजक—७६
 वही० राघवन, डॉ०—११, ६४, ६५, ६८,
 ६९, ७०, १७१

श

शंकरन्. डॉ०—४
 शंकरराम शास्त्री—७४
 शकुन्तला—२१७
 शक्त्यभाव—२१५
 शतपथब्राह्मण—१९, ३८
 शब्दकालुष्य—२०२
 शब्दगत—२०५
 शब्दच्युत (-ति)—६३, ७०, ८५, १६३,
 २०१

शब्ददोष—२०२
 शब्दभेद—९७
 शब्द-रसायन—१४६
 शब्दशास्त्र-विरोधी—७३, १६४
 शब्दश्लेष—१
 शब्दहीन—७७, ८१, ८५, ११४, १४०,
 १६८, १७०, १७८, २०१

शब्दानौचित्य—१६७, २०१

शांख्यायन ब्राह्मण—१८

शान्तिपर्व—२२, ३२

शिक्षा-ग्रन्थ—२७

‘शून’—२६

शौकिल्य—८३, ८४, ९०

‘शोभापरिहारिकारिता’—४८

शोयभिरण—७७

श्रीकण्ठ—१

श्रीपति—५५, १४८, १४९, १५२, १५४,
 १५८, २०५, २१४, २२५

श्रुतानुपालिनी—११

श्रुतिकटु—११९, १२९, १३२, १४७, १४८

१६४, १६५, १६६, १६७, १७३

१७६, १९१, १९७, २०६, २०७

श्रुतिकष्ट—७६, ७७, ८४, ८५, १४१

श्रुतिदुष्ट—२९, ५२, ७६, १६४, १९९

श्रोत्रिय—१८४

श्लेष—८२, ९०

स

संकीर्ण (-त्व)—९५

‘संवृत’—१८०

संशयितार्थ—१२७

‘संस्कारहृत’—१४४, १४५, १५३

संस्कृत-काव्यशास्त्र—३१, ४२, ६०, ६३,

७२, १३६, १५७,

१६१, १७३, १७४,

१८५, १९९, २०७,

२०९, २१०, २१२,

२१४, २२१, २२५,

२२६, २२७

संहार—२६

सतसई—१५९

सनियम परिवृत्तत्व—४७, १२४, १३४, १६१

सन्दष्ट—२६, २२६, २२७

सन्दिग्ध—३२, ३३, ९४, १२०, १२३,

१२७, १३४, १४२, १४७, १५२,

१५३, १५७, १५९, १६१, १६३,

१६४, १६६, १९७, २०६

सन्धि—१५७

सन्धि-योग्य—९४

सन्धि-विश्लेषण—१७३

शब्दानुक्रमिका

- सन्धिहीनता-१४६
 सन्निधानादि-१८८
 सन्निवेश-प्रकार-१६८
 सन्देहजनक-१४५
 समता-४१
 समयविरुद्ध-१३७, १३८
 समाधि-११५
 समाप्तपुनरात्त-१२१, १२२, १३१, १३३,
 १३४, १८६, १६३, १६४
 समासबाहुल्य-१६६, १७०, १७२
 समुदायार्थ-विवर्जित-१३४
 समुदायार्थ-शून्यता-६६
 सम्प्लव-३३, ३६, ४१, ४२
 सम्बाध-७६, १७६
 सम्बन्ध-वर्जित-१३१
 सम्बन्ध-विरोध-६५
 सम्भवी-११७
 सरस्वतीकण्ठाभरण-५०, ११३, ११७ ११८,
 १८५, २०६, २१०
 सहचर-च्युत-१३२
 सहचरभिन्न (-त्व)-१२४, १३१
 सहचराचार-१३०
 सांख्यदर्शन-२२
 साकांक्ष-१३४, १६१, २०८
 सामवेद-१७
 साम-प्रातिशाख्य-२५
 सामान्य परिवृत्त-१२४, १६१
 सायण-१७, ३७, ३८
 सायण-भाष्य-३७
 साहित्य-सागर-१५६
 साहित्य-सिद्धान्त-१५८
 साहित्यसुधानिधि-१५४
 सिद्धोपमा-५
 'सियवस लकर'-११
 सीता-४८
 सीताराम शास्त्री-२२४, २२५
 सुकुमारता-४१, ८३
 सुधानिधि-१४१
 सुमनोत्तरा-१०
 सुमन्त्र-४८
 सुभगा-१७६
 सुरभाषा-१४६
 'सुरवाणी'-१४३
 सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त-३०
 सुलभा-जनक-संवाद-२२, ३२
 सुवर्णनाम-१
 सूक्ति-सरोवर-१५६
 सूक्ष्मदोष-४२, २००
 सूरतिमित्र-१४७, १६४, २१४, २२५, २२६
 सूर-साहित्य-७
 सेठ कन्हैयालाल पोद्दार-५६, ५७, १५८,
 १६७, २०६, २२४,
 २२५
 सोमनाथ-५६, १४६, १६४, २०, २१४
 २६४
 सौन्दर्य-२२६
 स्फोटन-२७
 स्वभाव-भिन्न-१३८
 स्वभाव-विरोध-१६१
 स्वनिष्ठसम्मुख-१४७
 स्वरघ्रष्ट-२७
 स्वरसंकेतप्रक्लृप्तार्थ-१२६
 स्वशब्दवाच्यत्व-५२
 स्वेवाच्यता-१५६
 ह
 हतवृत्त (-त्व)-१२२, १३३, १४५, १४६,
 १५०, १५४, १६३, १६४,
 १६५, १६८

हतवृत्तता-१२१

हति-५०, ५३, ५६

हनन-५६

हनुमान्-७६

हरणदोष-१६८

हस्तदोष-२०, २४

हस्तभ्रष्ट-२७

हारीत-७६

हिन्दी-लक्षण-ग्रन्थ-२२६

हिमापहामित्तघर-७५, ६३

हिरण्याक्ष-६४

हृदयंगमा-११

हीण-१५३

हीनक्रम-१४०, १४१

हीनता-७१, १७७

हीनरस-१४०, १४७, १५६

हीनोपमा-१३४, १३८, १४६, १६६, १८७

हेतुदृष्टान्तहीन-७७, ८०

हेतुशून्य-१३२

हेतुहानि-६७

हेतुहीन-१२३, १६५

हेमचन्द्र-५१, १२८, १२९, १६०, १६१

